विचार-विमर्श

(चुने हुए लेखों का संग्रह)

महावीरप्रसाद द्विवेदी

भारती-भण्डार, काशी

ग्रन्थ-संख्या २४

प्रकाशक—

भारती-भंडार,

राम घाट, बनारस सिटी।

प्रथम संस्करण

मूल्य २॥)

मुद्रक—

द० ल० निघोजकर,

श्री लक्ष्मीनारायण प्रेस,

बनारस सिटी।

श्रीः

निवेदन

आधुनिक हिन्दी साहित्य के आचार्य, पण्डित-प्रवर पूज्य श्री महावीरप्रसाद जी द्विवेदी के विभिन्न विषयों पर लिखे हुए उत्तमोत्तम लेखों का "विचार-विमर्श" नामक यह संग्रह आज हम बहुत ही प्रसन्नतापूर्वक हिन्दी संसार के सामने उपस्थित करते हैं; और इसे हम अपना अहोभाग्य समझते हैं कि हमें इस प्रकार हिन्दी साहित्य की सेवा करने का एक अच्छा अवसर प्राप्त हुआ है। आचार्य द्विवेदी जी आधुनिक हिन्दी जगत के सचमुच सूर्य हैं; अतः आपका अथवा आपके लेखों का किसी प्रकार का परिचय देकर हम सूर्य को दीपक से दिखाने की धृष्टता नहीं कर सकते। हिन्दी-प्रेमी मात्र यह बात बहुत अच्छी तरह जानते हैं कि बीसियों वर्षों तक प्रयाग की सुप्रसिद्ध मासिक पत्रिका "सरस्वती" का परम योग्यता तथा विद्वत्तापूर्वक सम्पादन करके मान्य द्विवेदी जी ने हिन्दी मासिक-पत्रों के लिये एक नवीन युग का प्रवर्त्तन किया है और सम्पादन-कला का एक नवीन तथा प्रशस्त मार्ग प्रस्तुत किया है। आपने जिस आदर्श की स्थापना की है, आशा है, वह अभी बहुत दिनों तक हिन्दीवालों के लिये अनुकरणीय तथा ध्येय रहेगा। भाषा के तो द्विवेदी जी मानों बादशाह हैं; और भावों को बहुत ही सुन्दरतापूर्वक व्यक्त करने तथा खरी और लगती हुई बातें कहने में आप अपना जोड़ नहीं रखते। आपकी की हुई समालोचनाओं का तो भला कहना ही क्या है! अनेक अवसरों पर यह ठीक नश्तर का काम करती हैं। इसे हिन्दी साहित्य का दुर्भाग्य ही कहना चाहिए कि इधर कुछ दिनों से शारीरिक असमर्थता के कारण आप उसके कार्यक्षेत्र से अलग हो गये हैं। पर आपका अस्तित्व ही गनीमत है, इसलिये परमात्मा से प्रार्थना है कि वह आपको चिरजीवी करे।

द्विवेदी जी के सम्पादन-काल में सरस्वती में आपकी कलम से निकले हुए सभी अच्छे अच्छे लेख, और वह भी स्वयं आपके द्वारा चुने हुए, इस पुस्तक में संगृहीत हैं। ये लेख साहित्य, पुरातत्व, पुस्तकों की आलोचना, जीवन-चरित्र, विज्ञान, सरकारी नीति और कार्यों के आलोचन, विवेचना आदि सभी विषयों से सम्बन्ध रखते हैं और प्रायः इसी प्रकार अलग अलग खंडों में विभक्त भी हैं। प्रायः सभी लेख इस योग्य हैं कि उनका विचारपूर्वक मनन किया जाय और उनसे शिक्षा ग्रहण की जाय। अनेक लेखों में तो लेखक महोदय ने मानों अपना हृदय खोलकर रख दिया है। उनसे सूचित होता है कि अपने देश, अपने समाज, अपने राष्ट्र, अपने साहित्य और अपनी भाषा की वर्त्तमान दुरवस्थाओं से आप कितने चिन्तित और दुःखी रहते हैं और उनके सुधार तथा उन्नति के लिये आप शुद्ध हृदय से कितने अधिक आकांक्षी हैं। सरस्वती में जिस समय ये सब लेख निकले थे, उस समय तो उन्होंने अपना काम किया ही था; पर इन सबका बहुत कुछ स्थायी महत्व भी था; और उसी महत्व के विचार से उन सब का एक स्थान पर संगृहीत होकर पुस्तक रूप में प्रकाशित हो जाना बहुत ही आवश्यक था। उस आवश्यकता की पूर्त्ति करने का इस भाण्डार को उचित अभिमान है। आशा है, हिन्दी-प्रेमी और विशेषतः वे विद्यार्थी जिनसे हिन्दी साहित्य को आगे चलकर बहुत बड़ी बड़ी आशाएँ हैं, इस संग्रह से पूरा पूरा लाभ उठावेंगे और हमारा यह तुच्छ परिश्रम सफल करेंगे।

काशी
मकर संक्रान्ति, १९८८. प्रकाशक।

विषय-सूची

पहला अध्याय

साहित्य-खण्ड

दूसरा अध्याय

पुरातत्त्व-खण्ड

लेखाङ्क	लेख-नाम	पृष्ठ

तीसरा अध्याय

पुस्तक-परिचय-खण्ड

चौथा अध्याय

चरित-चर्चा-खण्ड

पाँचवाँ अध्याय

विज्ञान-खण्ड

छठा अध्याय

आलोचना-खण्ड

सातवाँ अध्याय

विवेचना-खण्ड

आठवाँ अध्याय

प्रकीर्ण—खण्ड

समष्टि

				लेख-संख्या
१. साहित्य-खण्ड	...	...	...	२९
२. पुरातत्व-खण्ड	...	...	...	३६
३. पुस्तक-परिचय-खण्ड	...	...	...	३०
४. चरित-चर्चा-खण्ड	...	...	...	८
५. विज्ञान-खण्ड	...	...	...	८
६. आलोचना-खण्ड	...	...	...	१८
७. विवेचना-खण्ड	...	...	...	३३
८. प्रकीर्ण-खण्ड	...	...	...	१९
				कुल १८१

विचार-विमर्श

साहित्य-खण्ड

१

आधुनिक कविता

आर्थर डेविसन फिके नामक एक साहब का एक लेख आधुनिक कविता पर अमेरिका के एक मासिक-पत्र में निकला है। कवि के लक्षणों पर विचार करते हुए साहब कहते हैं कि कवि को देश और काल की अवस्था का पूरा ज्ञान होना चाहिए। वह मनोविज्ञान-वेत्ता हो और मनुष्य के चरित्र का उसने अच्छी तरह अध्ययन भी किया हो। सब से अच्छी कविता वह है जिसमें जीवन की सार्थकता के उपाय और उसके उद्देश्य मनोहारिणी भाषा में बतलाये जाते हैं, मनुष्य को अच्छी शिक्षा दी जाती है, उसे उन्नति का मार्ग दिखाया जाता है और उसके हृदय को उदार और सहानुभूति-पूर्ण बनाने का प्रयत्न किया जाता है। अच्छी कविता में उन्हीं विषयों का वर्णन होता है जो मनुष्य के जीवन से घनिष्ठ सम्बन्ध रखते हैं और जो उसकी आत्मा और आध्यात्मिकता पर गहरा असर डाल सकते हैं।

आप आगे चल कर कहते हैं कि बुद्धिमान् लोग उसी कविता की क़दर करते हैं जो उच्च विचारों को प्रकट करती हो, हृदय और बुद्धि के ऊपर अच्छा प्रभाव डालती हो और समयोपयोगी आवश्यक उपदेशों को ऐसे ढंग से देती हो जिससे मनुष्य बहुत जल्द उन्हें ग्रहण कर सके।

[मार्च १९१२.

भारत में रोमन लिपि के प्रचार का प्रयत्न

हम लोगों में यदि कोई दो चार लिपियों या भाषाओं का ज्ञान प्राप्त कर लेता है, तो उसका यह ज्ञान बहुत बड़ी बात समझी जाती है। परन्तु डाक्टर ग्रियर्सन ने अन्य कितनी ही विदेशी भाषाओं के ज्ञान के सिवा, हिन्दुस्तान में प्रचलित प्रायः सारी भाषाओं और बोलियों का बहुत कुछ ज्ञान प्राप्त कर डाला है। इस देश में प्रचलित अनेक लिपियों से भी उनका परिचय है। यदि न होता तो वे उनके विषय में बड़े बड़े ग्रन्थ और लेख कैसे लिखते? डाक्टर साहब ने गवर्नमेंट के लिए इस देश की भाषाओं का जो इतिहास, अनेक जिल्दों में, लिखा है, उससे मालूम होता है कि आप उनकी उत्पत्ति, विकास और संक्रमण आदि का अच्छा ज्ञान रखते हैं। अभी, हाल में, काश्मीरी भाषा पर आपने एक बड़ी सी पुस्तक लिखकर प्रकाशित की है। परन्तु आश्चर्य्य की बात है कि वे योरपवालों को देवनागरी लिपि सीखने की राय न देकर रोमन लिपि ही में पूर्वी भाषायें लिखने की सिफ़ारिश कर रहे हैं। १४ मार्च १९१२ को लन्दन में रायल एशियाटिक सोसायटी के भवन में एक सभा हुई। हिन्दुस्तान में नौकरी करके पेन्शन पाये हुए आर० ग्रांट ब्राउन साहब ने उसमें एक लेख पढ़ा। उसमें आपने कहा कि पूर्वी भाषायें लिखने के लिए रोमन लिपि ही सब से अधिक उपयुक्त है। इस पर बहस हुई। पादरी नोवेल्स, डाक्टर पालेन, कुमारी रीडिंग आदि ने अपनी अपनी राय दी। इन्टरनेशनल फोनटिक असोसियेशन की ईजाद की हुई नई रोमन लिपि ही की स्तुति गाई गई। उस समय यह बात यहीं तक रही। गत आक्टोबर के अन्त में ईस्ट इंडियन असोसियेशन नामक सभा की

एक बैठक हुई। उसमें पूर्वोक्त लोगों तथा और भी कई विलायती पण्डितों ने उसी सुधारी हुई रोमन लिपि का राग अलापा और उसकी योग्यता-अयोग्यता का निश्चय करने के लिए एक कमीशन नियत किये जाने की आवश्यकता बताई। ग्रांट साहब का जो लेख रायल एशियाटिक सोसायटी के जर्नल में निकला है, उससे तो यही मालूम होता है कि वे रोमन लिपि में पूर्वी भाषायें लिखने का प्रस्ताव इसलिए करते हैं कि योरपवाले अधिकतर इसी लिपि से परिचित हैं और उन लोगों के लिए देवनागरी या अन्य कोई लिपि शीघ्र सीख लेने की सम्भावना नहीं। पर सुधारी हुई रोमन लिपि ये शीघ्र ही सीख सकते हैं। परन्तु ईस्ट इंडिया असोसियेशन की पूर्वोक्त बैठक की जो रिपोर्ट तार द्वारा इस देश में आई है, उससे तो यह भासित हो रहा है कि रोमन लिपि के द्वारा हिन्दुओं की देवनागरी और मुसल्मानों की फ़ारसी लिपि को अपदस्थ करने का भी इरादा विलायती विद्वान् कर रहे हैं। रोमन लिपि की सर्वोपयोगिता के आलाप तो बहुत दिन से सुनाई दे रहे हैं। अतएव उन आलापों का पुनरुत्थान कोई आश्चर्य की बात नहीं। आश्चर्य की बात तो यह है कि डाक्टर ग्रियर्सन भी उसी लिपि के प्रचार के पक्ष में हैं। नहीं मालूम, इन विलायती पण्डितों का आन्तरिक अभिप्राय क्या है। जिस रोमन लिपि की अनुपयोगिता और सदोषता सैकड़ों दफ़े अखण्डनीय युक्तियों और प्रमाणों से सिद्ध कर दी गई, उसी को डाक्टर ग्रियर्सन जैसे विद्वान् देवनागरी की अपेक्षा क्यों अधिक योग्य समझते हैं, यह भगवान ही जाने। ये वही डाक्टर साहब हैं जिनकी राय में ब्रज ही की बोली में अच्छी हिन्दी कविता हो सकती है, बोल-चाल की भाषा में नहीं। आपके सामने बोल-चाल की भाषा में लिखी गई उत्तमोत्तम कविता की बड़ी बड़ी पुस्तकें तक रख दी गईं; पर आप फिर भी अपनी पहली राय पर अटल हैं। बात यह है कि जो अपनी राय बदलना ही नहीं चाहता, उसे क़ायल करने का प्रयत्न करना ही बेकार है। यदि अँगरेज अफसर या

यूरप, अमेरिका के और लोग इस देश की भाषायें रोमन में लिखें तो हमारी विशेष हानि नहीं। भारत से अलभ्य लाभ उठाने पर भी यदि उनके लिए एक महीने के परिश्रम से देवनागरी लिपि सीखना हिमालय की सबसे ऊँची चोटी पर चढ़ना है तो वे न सीखें। पर जो लोग प्रसन्नता-पूर्वक रोमन लिपि को स्वीकार नहीं करना चाहते, उनके मत्थे इस लिपि को मढ़ना किसी तरह मुनासिब नहीं। पादड़ी नोवेल्स ने कहीं एक नोक आगे बढ़ाकर, कहीं एक पीछे कम करके, तथा दो-चार नये वर्णों की सृष्टि करके जो रोमन लिपि ईजाद की है, उससे हमारा काम कदापि नहीं चल सकता और न फोनटिक असोसिएशन की उस लिपि से चल सकता है जिसकी दुहाई ब्राउन साहब ने दी है। उनकी सदोषता सिद्ध करना व्यर्थ है, क्योंकि ब्राउन और ग्रियर्सन साहब पर शायद ही हमारी बातों का कुछ असर हो।

हमारी प्रार्थना है कि हमारे अमुक-नाथ डाक्टर, अमुक-दत्त शास्त्री, अमुक शर्म्मा पण्डित, अमुक-भूषण आचार्य्य, अमुक गाँवकर, एम० ए० क्या करते हैं। ये लोग क्या सिर्फ़ एम० आर० ए० एस० का पुछल्ला लगाने ही के लिए एशियाटिक सोसायटी के मेम्बर बनते हैं। ऐसी ऐसी आक्षेप योग्य बातें इस सोसायटी के मेम्बरों द्वारा होती हैं, पर ये लोग चूँ तक नहीं करते। यों तो ये लोग बाल की खाल निकालेंगे। किसी शिला-लेख में 'क' की जगह 'ख' होना चाहिए,—इस पर बरसों क़लम घिसेंगे; बड़े बड़े दार्शनिक पोथों का अनुवाद अँगरेजी में कर डालेंगे; पर देवनागरी लिपि की उपयोगिता और रोमन लिपि के दोष दिखाने के लिए वे दस बीस सतरें भी न लिखेंगे! अपनी लिपि और अपनी भाषा पर ऐसी तो इनकी प्रीति है। फिर क्यों न हमारे साहित्य की दुर्दशा हो—

अहो कष्टं सापि प्रतिदिनमधोधः प्रविशति।

[दिसम्बर १९१२.

पुरानी समालोचना का एक नमूना

अप्पय दीक्षित द्राविड़ देश के निवासी थे और जगन्नाथ पण्डितराज तैलङ्ग देश के। पर पण्डितराज की अधिकांश आयु देहली, मथुरा और काशी ही में बीती।

नहीं मालूम क्यों, पण्डितराज जगन्नाथ दीक्षित जी से खार सा खाये रहते थे। सम्भव है, अप्पय दीक्षित की अलङ्कार-शास्त्रज्ञता-सम्बन्धिनी कीर्ति उन्हें खली हो; क्योंकि पण्डितराज के ग्रन्थों से यह साफ जाहिर है कि थे वे बड़े अभिमानी। पण्डितराज ने रसगङ्गाधर नाम का एक बहुत बड़ा ग्रन्थ लिखना आरम्भ किया और अप्पय दीक्षित के चित्र-मीमांसा ग्रन्थ से कई गुना अधिक विस्तृत बना कर आपने भी किसी कारण से उसे अपूर्ण ही छोड़ दिया। अप्पय दीक्षित की पुस्तक चित्र-मीमांसा अपूर्ण ! तो मेरी पुस्तक रसगङ्गाधर भी अपूर्ण ! चाहे पण्डित-राज का ग्रन्थ और ही किसी कारण से अपूर्ण रह गया हो, पर इन दोनों के सम्बन्ध का विचार करके यदि कोई यह सम्भावना करे कि दीक्षित जी की होड़ करने के लिए उन्होंने भी अपने ग्रन्थ को अपूर्ण ही रहने दिया तो उसे दोष नहीं दिया जा सकता।

रस-गङ्गाधर में पण्डितराज जगन्नाथ ने, रसों और अलङ्कारों आदि के विवेचन में, अपने पूर्ववर्ती पण्डितों के सिद्धान्तों की खूब ही जाँच की है और अपनी बुद्धि का निराला ही चमत्कार दिखाने की चेष्टा की है। ग्रन्थारम्भ करने के पहले ही आपने यह कसम खा ली कि मैं उदाहरण-रूप में औरों के श्लोक तक ग्रहण न करूँगा; खुद अपनी ही रचनाओं के उदाहरण दूँगा। इसे आपने निभाया भी खूब। इस ग्रन्थ में जगन्नाथ

राय ने अप्पय दीक्षित की बड़ी ही छीछालेदर की। बात बात पर दीक्षित जी की उक्तियों और सिद्धान्तों का निष्ठुरतापूर्वक खण्डन किया; उनकी दिल्लगी उड़ाई; कहीं कहीं तो उनके लिए अपशब्द तक कह डाले। लो, अलङ्कार-शास्त्री बनने का करो दावा! मैं तो मैं, दूसरा कौन इस विषय का ज्ञाता हो सकता है! बात शायद यह।

अप्पय दीक्षित की इतनी ख़बर लेकर भी जगन्नाथ राय को सन्तोष न हुआ। रसगङ्गाधर में दिखाये गये अप्पय दीक्षित के दोषों का संक्षिप्त संग्रह उन्होंने उससे अलग ही निकाला और चित्र-मीमांसा-खण्डन नाम देकर उसे एक और नई पुस्तक का रूप प्रदान किया। उसके आरम्भ में आप फ़रमाते हैं—

रसगङ्गाधरे चित्रमीमांसाया मयोदिताः।
ये दोषास्तेऽत्र संक्षिप्य कथ्यन्ते विदुषां मुदे॥

सो पण्डितराज ने यह संक्षिप्त संग्रह विद्वानों को प्रसन्न करने के लिए प्रकट किया! उन्होंने कहा होगा कि यदि विद्वज्जन इतना बड़ा ग्रन्थ, रसगङ्गाधर, पढ़ने की तकलीफ़ गवारा न करेंगे तो अप्पय दीक्षित की दुर्दशा का दृश्य भी उन्हें देखने को न मिलेगा। यदि ऐसा हुआ तो मेरे श्रम का सर्वांश न सही, अल्पांश ज़रूर ही व्यर्थ हो जायगा। अतएव, लाओ, उन दोषों को थोड़े में अलग ही लिख डालें। यदि कोई विद्वान् घंटा भर भी समय दे सकेगा तो उतने ही में उसे मेरे पाण्डित्य और दीक्षित जी के अपाण्डित्य का परिचय मिल जायगा। सो, बहुत सम्भव है, इस चित्र-मीमांसा-खण्डन की सृष्टि कुछ कुछ ऐसे ही विचारों की प्रेरणा से हुई हो।

जगन्नाथ राय की एक प्रतिज्ञा का उल्लेख ऊपर हो चुका है—"मैं किसी दूसरे का बनाया हुआ श्लोक रसगङ्गाधर में उद्धृत न करूँगा"। क्योंकि मैं किसी का उच्छिष्ट छूता तक नहीं। दूसरी प्रतिज्ञा आपने चित्र-मीमांसा-खण्डन के आरम्भ में इस प्रकार की—

सूक्ष्मं विभाव्य मयका समुदीरितानां-
मप्पय्यदीक्षितकृताविह दूषणानाम् ।
निर्मत्सरो यदि समुद्धरणं विदध्या-
दस्याहमुज्ज्वलमतेश्चरणौ वहामि ॥

अप्पय दीक्षित के जो दोष मैंने इस पुस्तक में दिखाये हैं, उनका समुद्धार, मत्सरता छोड़कर, यदि कोई कर देगा तो मैं उस विमल-मति महात्मा के पैर छूने या पैर मलने को तैयार रहूँगा। पण्डितराज ने शर्त कितनी अच्छी रक्खी है। उद्धार की चेष्टा करनेवाले को उसी तरह निर्मत्सर होना चाहिए, जैसे स्वयं पण्डितराज जी हैं।

अब पण्डितों के राजराजेश्वर के खण्डन का एक नमूना देखिए। इसके पूर्व लेख में अप्पय दीक्षित ने उपमा को नटी मान कर भूमिका-भेद से उसके कई नृत्य दिखाये हैं। उनमें से नम्बर (१६) में अप्रस्तुत प्रशंसा का उदाहरण दिया गया है। अप्पय दीक्षित की मूल उक्ति है—

"मुखस्य पुरतश्चन्द्रो निष्प्रभः"

बस पण्डितराज को बेज़ार कर देने के लिए दीक्षित जी की यह इतनी छोटी रचना काफ़ी से अधिक हो गई। उपमा-प्रकरण के अन्य दोष तो आपने पीछे से दिखा कर दीक्षित जी की बुरी तरह ख़बर ली, पहले आपने उन्हें व्याकरणज्ञता से भी ख़ारिज कर देना चाहा। आपका आशय यह जान पड़ता है कि जिसे संस्कृत भाषा में एक सतर भी शुद्ध शुद्ध लिखना नहीं आता, वह अलङ्कार-शास्त्र पर भला ग्रन्थ कैसे लिख सकेगा।

पूर्वोक्त वाक्य में अप्पय दीक्षित ने एक पद 'पुरतः' लिखा है। पण्डितों के राजा की आज्ञा है कि वह "व्याकरण-अविमर्श-निबन्धन" का नमूना है। आप फ़रमाते हैं कि 'पुर' शब्द का अर्थ है नगर। और इसी पुर शब्द से तसिल् प्रत्यय किया तो पुरतः हुआ। उसका अर्थ है— "नगर से"। अतएव, द्रविड़-पुङ्गवजी, बतलाइए, आपके इस वाक्य की

संगति कैसे हो ? उसका अर्थ क्या यह न हुआ—"मुख के नगर से चन्द्र निष्प्रभ !!!" वाह रे वैयाकरण ! धन्य रे अलङ्कार-शास्त्री !

पण्डितराज की आज्ञा आप समझे ? "पुरतः" पद को अप्पय दीक्षित ने अव्यय समझा और उसका अर्थ किया "आगे"। अतएव आप के वाक्य का अर्थ हुआ—मुख के आगे चन्द्रमा निष्प्रभ है। पर पण्डितराज फ़रमाते हैं कि आगे, सामने या पूर्व के अर्थ में पुर शब्द कभी आता ही नहीं—("नहि पूर्ववाचकः पुरशब्दः क्वापि श्रूयते")—अप्पय दीक्षित "पुरतः" को अव्यय मान कर उसका प्रयोग करते हैं; पण्डितराज ज़बरदस्ती उसे 'पुर' शब्द से बना हुआ मानते हैं और बेचारे दीक्षित को फटकार पर फटकार बताते हैं—"आगे" अर्थ में "पुरतः" गलत, "पुरः" सही। देखा, इसी लिए महाकवि कालिदास ने लिखा है—

अमुं पुरः पश्यसि देवदारुम् ।

तू ने जो लिखा है—"पुरतो हरिणाक्षीणामेष पुष्पायुधीयति"। "पुरतः" के कारण वह भी "अपशब्द कलुषित" है। और, राम भला करे, जिन्होंने लिखा है—

(१) आत्मीयम् चरणं दधाति पुरतः

तथा

(२) पुरतः सुदती समागतं माम्

उन लोगों को भी व्याकरण का ज्ञान नहीं।

पण्डितराज की यह झाड़-फटकार सुन कर उनके टीकाकार नागेश भट्ट ने निर्मत्सर होकर पढ़नेवालों से यह प्रार्थना की है कि बहुतों के मत में निपात ("निपाताङ्गीकारात्") से पुरतः पद भी सही है; और आगे या सामने के अर्थ में पण्डितराज के भक्ति-भाजन महाकवि कालिदास ने ही उसका प्रयोग भी किया है। देखिए—

इयञ्च तेऽन्या पुरतो विडम्बना।

भवभूति ने भी लिखा है—

पश्यामि तामित इतः पुरतश्च पश्चात् ।

इस सम्बन्ध में, इस नोट का लेखक भी, अपनी तरफ़ से, महा-वैयाकरण भर्तृहरि का उदाहरण देता है—

यं यं पश्यसि तस्य तस्य पुरतो मा ब्रूहि दीनं वचः ।

ख़ैर, व्याकरण की पक्की कसौटी पर कसने से "पुरतः" गलत ही क्यों न साबित हो; अनेक अन्य कवियों ने भी तो उसे उसी अर्थ में लिखा है, जिस अर्थ में दीक्षित जी ने लिखा है। अतएव उनको इस इतने दोष के कारण व्याकरण-ज्ञान-शून्य बताना पण्डितराज की निर्मत्सरता का पूरा प्रमाण है। कालिदास का "पुरः" तो आपको झट याद आ गया, परन्तु कुमारसम्भव में प्रयुक्त "पुरतः" याद न आया! इससे अधिक नि-र्मत्सरता और क्या हो सकती है?

इन बातों से सूचित है कि अप्पय-दीक्षित और जगन्नाथराय के ज़माने में भी यदा कदा वैसी ही मृदु, मधुर, सच्ची और निर्दोष समालोचनायें होती थीं जैसी कि आज-कल बहुधा देखने में आती हैं!

[जनवरी १९१३.

कृत्रिम नामधारी लेखकों के लेख

कनाडा, कैलीफ़ोर्निया और दक्षिणी अफ़रीका की तरह आस्ट्रेलिया की भी राजनैतिक उदारता प्रशंसा के योग्य है। वहाँ की गवर्नमेंट ने हाल में एक कानून बनाया है। उसके रू से बिना अपना नाम और पूरा पता दिये किसी लेखक को किसी पत्र या पत्रिका में कुछ भी लिखने का मजाज़ नहीं। इस कायदे की पाबन्दी न करना जुर्म समझा जायगा। विशेष करके गवर्नमेंट के काम-काज की समालोचना करनेवालों का मुँह बन्द करने की यह अच्छी युक्ति है। यह क़ानून सभ्य देशों के इतिहास में बिलकुल ही नया है। समालोचना यदि नेक-नीयती से और युक्तिपूर्वक की गई है तो वह चाहे जिसने लिखी हो, उस पर ध्यान देना गवर्नमेंट का कर्तव्य है। समालोचक का नाम मालूम हो जाने से उसकी युक्तियों और दलीलों में कोई विशेषता नहीं पैदा हो सकती। गवर्नमेंट के कर्म-चारियों को सरकारी काम-काज की समालोचना करने का अधिकार नहीं। पर वही ऐसे कामों के गुण-दोष, औरों की अपेक्षा विशेषतापूर्वक, दिखा सकते हैं। इस काम को वे कृत्रिम नाम देकर ही कर सकते हैं, खुल कर नहीं। ऐसे कानून द्वारा उनकी समालोचना रोकना गवर्नमेंट के लिए अवश्य ही हानिकारी है। यदि समालोचना सच्ची है तो उसका आदर करना ही चाहिए। यदि सच्ची नहीं है, यदि वह राग-द्वेष और ईर्ष्या की प्रेरणा से किसी को हानि पहुँचाने या उसका उपहास करने के इरादे से की गई है, तो उसका स्वयं ही आदर न होगा। उसे गवर्नमेंट क्या, अन्य समझदार आदमी भी हेय और निन्द्य समझेंगे। ऐसा समा-लोचक अपने दुष्कर्म की बदौलत स्वयं ही लोगों की दृष्टि में गिर जायगा।

उससे उलटे उसी की हानि होगी। भला हो ब्रिटिश गवर्नमेंट का, जिसने ऐसा कोई क़ानून भारत में नहीं बनाया। यदि कहीं बना देती तो हिन्दी साहित्य कृत्रिम नामधारी समालोचकों की सुन्दर सुन्दर समालोचनाओं से वञ्चित हो जाता और मनस्तुष्टि न होने से इन समालोचकों की आत्मा भी तड़पती रह जाती।

[सितम्बर १९१३.

इँगलैंड के कवि ब्रौनिंग का एक ऐतिहासिक पत्र

ब्रौनिंग नामक अँगरेजी कवि का, हाल ही में, एक महत्त्वपूर्ण पत्र लन्दन के एक सरकारी दफ्तर में मिला है। वह २३ मार्च १८८० का लिखा हुआ है और इनकम-टैक्स के एक अफसर के नाम है। ब्रौनिंग से पूछा गया कि तुम्हारे काव्यों की बिक्री से तुम्हें कितना रुपया मिलता है और तुम अपनी आमदनी पर टिकस क्यों नहीं देते? इसी के उत्तर में ब्रौनिंग को वह पत्र लिखना पड़ा। ब्रौनिंग के उत्तर का मतलब सुनिए—

"मैं गद्य नहीं लिखता; केवल पद्य लिखता हूँ। जन्म भर में मैंने एक ही लेख, छोटा सा, गद्य में लिखा है। मेरे काव्य लोगों को पसन्द नहीं। वे यहाँ बहुत ही कम बिकते हैं। उन्हें मैं अपनी ही आत्मा को प्रसन्न करने के लिए लिखता हूँ। हाँ, दो एक समालोचक ऐसे अवश्य हैं जो उनकी क़दर करते हैं। उन्हीं की समालोचना से मुझे यथेष्ट सन्तोष हो जाता है। औरों की मुझे परवा नहीं। मेरे काव्यों के प्रकाशक जो कुछ मुझे दे देते हैं, मैं खुशी से ले लेता हूँ। इस मार्ग से मुझे बहुत ही कम आमदनी होती है। यदि मेरी पुस्तकों के एक से अधिक संस्करण हों तो मुझे अवश्य अधिक धन मिले। पर एक को छोड़कर मेरी अन्य पुस्तकों को यह सौभाग्य अब तक प्राप्त ही नहीं हुआ। मेरी आमदनी का मार्ग और ही है, काव्य-रचना नहीं। मैं वर्ष दो वर्ष में कभी एक-आध पुस्तक लिखता हूँ। गत वर्ष जो पुस्तक मेरी निकली थी, उसका पुरस्कार मुझे केवल १,८७५ रुपये मिला था। मेरे पुस्तक-प्रकाशक की यह चिट्ठी देख

लीजिए। अब आपही समक्ष देखिए कि क्या इतने से मेरा वर्ष दो वर्ष का खर्च चल सकता है? मैं इस समय ६८ वर्ष का हूँ। इस उम्र में मैं अब और भी कम काव्य-रचना कर सकूँगा। अतएव मेरी आमदनी और भी कम हो जायगी। आपको जो यह भ्रम हुआ है कि मैं पुस्तक-रचना की बदौलत अमीर हो रहा हूँ, उसके लिए आप दोषी नहीं। मेरी कीर्ति बढ़ी हुई है। विश्वविद्यालयों तक ने मेरा सम्मान किया है। इसका कारण यह है कि मैंने रुपया कमाने की नीयत से कभी एक अक्षर भी नहीं लिखा। इस दशा में यदि आपको मेरी आमदनी के विषय में भ्रम हो जाय तो आश्चर्य की बात नहीं। मेरी पुस्तकों का प्रचार अमेरिका में बहुत है। पर इस प्रचार की बदौलत मुझे एक फूटी कौड़ी भी नहीं मिलती। मैं इस बात को अच्छी तरह जानता हूँ कि मेरे कई साहित्य-सेवी मित्र अपनी एक ही कविता, नाटक या उपन्यास की बिक्री से जितना रुपया कमा लेते हैं, उतना मैं अपनी सारी पुस्तकों की बिक्री से नहीं कमा सका। तिस पर भी मुझे अपना ही ढंग पसन्द है—जो मार्ग मैंने अपने लिए पसन्द किया है, उससे मैं भ्रष्ट नहीं होना चाहता। रुपये के लिए और लोग खुशी से लिखें। मैंने न लिखा और न लिखूँगा।"

अँगरेजी के "डेली क्रानिकल" नामक समाचार-पत्र में ब्रौनिंग की यह चिट्ठी प्रकाशित हुई है। ब्रौनिंग की यह चिट्ठी हिन्दी के कवियों और लेखकों के बड़े काम की है।

[आक्टोबर १९१२.

हिन्दी के समाचार-पत्र

हिन्दी के समाचार-पत्रों के विषय में कुछ कहना साहस का काम है। कुछ कहने से मतलब सलाह देने, हित-चिन्तनापूर्वक उन के दोष दिखलाने और उन्हें दूर करने के लिए प्रार्थना करने से है। सच्चे दिल से भी यदि कोई उन की त्रुटियाँ दिखलाने की चेष्टा करता है तो भी उसके उस भाव पर धूल डाली जाती है; वह शत्रु समझा जाता है; उसकी आलोचना के उत्तर में उसकी कुत्सा की जाती है, निन्दा की जाती है और बात-बात में उसका उपहास किया जाता है। यह सब जान कर भी बिना कहे रहा नहीं जाता कि हिन्दी पत्रों में से अधिकांश का सम्पादन योग्यतापूर्वक नहीं होता। कानपुर से आज़ाद नाम का एक साप्ताहिक पत्र, उर्दू में, निकलता है। अभी थोड़े ही समय से उसका जन्म हुआ है। पर इतने ही समय में उसने बहुत कुछ तरक्की कर ली है। इस साप्ताहिक पत्र की कोई भी संख्या उठा लीजिए और फिर उसका मुकाबला हिन्दी के पुराने से पुराने साप्ताहिक पत्रों से कीजिए। आप देखेंगे कि दो एक पत्रों को छोड़ कर शेष कोई भी पत्र आज़ाद की बराबरी नहीं कर सकता। क्या भाषा के लिहाज़ से, क्या सामयिक लेखों, नोटों और ख़बरों के लिहाज से, क्या विषय-बाहुल्य के लिहाज़ से, क्या 'पालिसी' के लिहाज से—बहुत ही कम हिन्दी के पत्र आज़ाद की बराबरी कर सकते हैं। हिन्दी के पत्रों की 'पालिसी' का तो यह हाल है कि जिस नीति का आज वे समर्थन करेंगे, कल ही कोई ऐसी बात लिख देंगे जो ठीक उसके प्रतिकूल है। हिन्दी पत्र देखने से कभी कभी यह शङ्का होती है कि क्या इनके सञ्चालक अठारवीं सदी के हैं अथवा क्या ये किसी अँगरेजी पत्र को भूल से

भी उठाकर नहीं पढ़ते और देखते कि उनमें कैसे कैसे लेख रहते हैं और उनका सम्पादन किस ढंग से होता है? जो ख़बरें अँगरेजी, उर्दू और मुख्य मुख्य हिन्दी पत्रों में निकल जाती हैं, वही बहुत पुरानी हो जाने पर भी किसी किसी हिन्दी पत्र में निकली देख दुःख होता है। कभी कभी तो छः छः महीने, वर्ष वर्ष की पुरानी स्पीचें टुकड़े टुकड़े करके छापी जाती हैं। अपने नगर और प्रान्त की टटकी ख़बरें न छाप कर सुदूरवर्ती तिनवल्ली और त्रिचनापल्ली की बासी बातें प्रकाशित की जाती हैं। ग्राहकों की रुचि और लाभ का कुछ भी ख़याल न करके निःसार और अरुचिकर बातें भर दी जाती हैं। इस दशा में यदि अख़बार बन्द हो जायँ अथवा उनका यथेष्ट प्रचार न हो तो कोई आश्चर्य की बात नहीं। हमारी प्रार्थना है कि हिन्दी पत्रों के सम्पादक कृपा करके इन त्रुटियों को दूर करने की चेष्टा करें और जो पत्र नये निकलें, वे इनसे बचें। इन प्रान्तों के पत्रों के लिए अपने सूबे की कानफ्रेंसों की रिपोर्ट छापना ज़ियादह जरूरी है; अमीर काबुल की स्पीच अथवा अफ़गानिस्तान की सरहद की डाकेज़नी की ख़बरें छापना उतना ज़रूरी नहीं।

इस आलोचना से यह न समझना चाहिए कि सभी पत्रों का यह हाल है। नहीं, हिन्दी बङ्गवासी आदि कितने ही पत्र समय, सुरुचि और आवश्यकता का ख़याल रख कर योग्यतापूर्वक सम्पादित होते हैं। भारत-मित्र का सम्पादन योग्यतापूर्वक होता है। जब से यह दैनिक हुआ है, इस की उपयोगिता बहुत बढ़ गई है; इस बात को सभी कबूल करेंगे। श्रीहर्ष ने लिखा है—

वाग्जन्मवैफल्यमसह्यशल्यं गुणाधिके वस्तुनि मौनिता चेत्।
खलत्वमल्पीयसि जल्पितेऽपि तदस्तु वन्दिभ्रमभूमितैव॥

इसमें जो सम्पादकीय लेख और नोट्स निकलते हैं, समझ बूझ कर लिखे जाते हैं। विषय को अच्छी तरह समझ कर, उस सम्बन्ध का साहित्य अच्छी तरह पढ़ कर, तब कुछ लिखा जाता है। फिर यह नहीं कि

पायनियर, स्टेट्समैन, लीडर, बङ्गाली या अमृत-बाजार-पत्रिका की कोई कापी उठाई और आँख मूँद कर उसकी मदद से मनमाना लिख मारा। तथ्य संग्रह कर के भारतमित्र के सञ्चालक उसे अपने शब्दों में लिखते हैं और अपने देश तथा समाज का ख़याल रख कर अपनी निज की राय भी ज़ाहिर करते हैं। अपनी पालिसी की भी हत्या नहीं की जाती। समय की ओर दृष्टि रक्खी जाती है। जिस विषय की चर्चा करने का समय होता है, उसी पर अधिक लिखा जाता है। न बे-मौक़े कजली गाई जाती है, न हिंडोलों का वर्णन लिखा जाता, न जगन्नाथ जी की रथयात्रा के उत्सव का उल्लेख किया जाता। कोई बात भ्रमपूर्ण छप जाती है तो सूचित होने पर उसका निरसन भी कर दिया जाता है। यदि किसी के दोष दिखाये जाते हैं तो मौक़ा मिलने पर उस के गुण भी, यदि वे सचमुच ही उस में हैं, बतला दिये जाते हैं। यों तो अँगरेज़ी के बड़े बड़े नामी पत्रों में भी दोष रहते हैं। दोष होते किस में नहीं? बात यह है कि असावधानी और शिथिलता से दूर रहना चाहिए। परिश्रम करना चाहिए। समय-सूचकता का ख़याल रखना चाहिए। जो लोग केवल रूटर के तार पढ़ने के लिए अँगरेज़ी के दैनिक पत्र मोल लेते हैं, उन का काम भारतमित्र से बख़ूबी चल सकता है। देशी और विदेशी सामयिक बातों का ज्ञान भी उसके लेखों से हो सकता है। हिन्दी में रुचि होती है। खर्च कम पड़ता है। यह लाभ थोड़ा नहीं।

आशा है, हिन्दी के अन्यान्य पत्र भारतमित्र का आदर्श ग्रहण करने का यत्न करेंगे और यह नोट लिखने के लिए हमें क्षमा करेंगे।

[नवम्बर १९१२.

हिन्दी और मराठी में ग्रन्थ-विनिमय

मराठी में तो ऐसे हजारों ग्रन्थ हैं जिनका अनुवाद प्रकाशित करने से हिन्दी साहित्य की शोभा हो सकती है और हिन्दी पढ़नेवालों की ज्ञान-वृद्धि भी हो सकती है। परन्तु हिन्दी में ऐसे बहुत ही कम ग्रन्थ हैं जिनके मराठी रूपान्तर से महाराष्ट्र देशवासियों को विशेष लाभ पहुँच सके। तथापि साहित्य-सेवी और ज्ञान-पिपासु जन अल्पता और विपुलता की बहुत ही कम परवा करते हैं। थोड़े लाभ के लिए—थोड़ी सी भी ज्ञान-वृद्धि के लिए—वे अकिञ्चनों और हीनों के पास जाने में भी सङ्कोच नहीं करते। हिन्दी के साहित्य में तुलसी-कृत रामायण अमोल ग्रन्थ है। ग्रन्थ की प्रशंसा में बहुत कुछ, समय समय पर, हम लिख चुके हैं। जहाँ की भाषा हिन्दी नहीं, वहाँ के भी भक्त और काव्य-लोलुप सज्जन इसका आदर करते हैं। इस आदर की मात्रा अब दिन पर दिन बढ़ रही है। अब अन्य भारतीय भाषाओं में इसके अनुवाद भी होने लगे हैं। आज इसका एक ऐसा ही अनुवाद-युक्त संस्करण हमारे सामने है। यह अनुवाद मराठी गद्य में है। ऊपर मोटे अक्षरों में तुलसीदास की मूल कविता है; नीचे उसका मराठी अनुवाद। अनुवाद बड़ी सावधानी से और बहुत अच्छी भाषा में किया गया है। वह प्रायः शुद्ध है। पाठक्रम इंडियन प्रेस की प्रकाशित रामायण के अनुसार रक्खा गया है। पुस्तक की पृष्ठ-संख्या एक हजार के लगभग है। सब मिलाकर २२ हाफ़टोन सुन्दर चित्र हैं। आरम्भ में तुलसीदास का चित्र, संक्षिप्त चरित और विस्तृत अनुक्रमणिका है। पुस्तकान्त में सारी रामायण को मथ कर उससे निकाली हुई सूक्तियों का संग्रह और सूची है। कठिन शब्दों का कोश

भी है। छपाई की सुन्दरता और कागज की पुष्टता आदि का तो कहना ही क्या—बहुत ही सुन्दर है। जिल्द ऐसी अच्छी है कि आज तक हमने ऐसी उत्तम जिल्द और किसी भी हिन्दी या मराठी पुस्तक पर नहीं देखी। इसके अनुवादक हैं—श्रीमन्त यादव शङ्कर जागीरदार (मुन्सिफ़, जबलपुर) और प्रकाशक—श्रीयुत गोपाल हरि पुरोहित, ११६, बुधवार पेठ, पूना। मूल्य इस पुस्तक का ५) है और प्रकाशक से मिलती है। इसके मराठी अनुवाद में, कहीं-कहीं भ्रम हो गया है। उदाहरण—

गहि पद लगे सुमित्रा-अंका, जनु भेंटी सम्पति अति रंका।
पुनि जननी-चरननि दोउ भ्राता, परे प्रेम ब्याकुल सब गाता॥

इसका अनुवाद किया गया है—

नंतर त्यांनीं सुमित्रेचे चरण धरून तिच्या कँबरेस मिठी मारली। तेव्हां दीर्घ दरिद्री यांस संपत्तीच मिळाल्या प्रमाणें तिला झालें। नंतर दोघाही बंधूंनीं कौसल्येच्या चरणांस मिठी मारली, तेव्हां कौसल्येचें सर्वाङ्ग प्रेमाने व्याकुळ झालें।

तुलसीदास का आशय यह है कि जब राम-लक्ष्मण ने सुमित्रा को भेंटा, तब ऐसा मालूम हुआ जैसे महा दरिद्री को सम्पत्ति मिल गई हो। राम-लक्ष्मण को उन्होंने दरिद्री बताया है और सुमित्रा को सम्पत्ति। अनुवाद में इस अर्थ का विपर्यय हो गया है। इसी तरह का अर्थ-विपर्यय ऊपर दी हुई दूसरी चौपाई के अनुवाद में भी हुआ है। तुलसीदास का यह मतलब है कि कौशल्या का सर्वाङ्ग प्रेम-परवश नहीं हुआ, किन्तु उसके चरणों पर गिरनेवाले राम-लक्ष्मण का शरीर प्रेमाधिक्य से व्याकुल हो गया। कौशल्या के अनुराग का वर्णन तो अगली चौपाई में है। यथा—

अति अनुराग अम्ब उर लाये। नयन-सनेह-सलिल अन्हवाये॥

ग्राउज़ साहब ने इन चौपाइयों का अनुवाद इस प्रकार किया है—

"When he embraced Sumitra, after clasping her feet, he

vas like a beggar who has picked up a fortune. Then both brothers fell at the feet of Queen Kausalya and their whole body was convulsed with love; the mother took them tenderly o her bosom and bathed them with tears of affection."

परन्तु ऐसे भ्रम इस पुस्तक में—"निमज्जतीन्दोः किरणेष्विवाङ्कः" की पदवी को पहुँच गये हैं। अनेक गुणों में कहीं एकाध दोष नहीं खटकता। आशा है, इस पुस्तक का आदर महाराष्ट्र देश के लोग ही नहीं, किन्तु इन प्रान्तों के हिन्दी भाषा-भाषी भी करेंगे। इस अनुवाद से महाराष्ट्र देश में हिन्दी-प्रचार बढ़ने की आशा है

(२)

हिन्दी में जो स्थान तुलसीकृत रामायण का है, वही मराठी में दास-बोध का है। उधर श्रीमन्त यादवराव ने रामायण को मराठी पाठकों के लिए सुलभ कर दिया, इधर महाराष्ट्र होकर भी हिन्दी के अनन्य उपासक श्री पण्डित माधवराव जी सप्रे, बी० ए०, ने रामदास स्वामी के दास-बोध को हिन्दी पाठकों के लिए सुलभ कर दिया। यह अनुवाद हिन्दी में एक रत्न है। इसमें सप्रे जी ने सरल हिन्दी में दासबोध का आशय इस खूबी से दिखाया है कि मूल का भावार्थ हृदयङ्गम करने में कुछ भी कसर नहीं रह जाती। इस तरफ़ मराठी जाननेवाले बहुत ही कम लोग हैं। इसी से सप्रे जी ने मूल मराठी पद्य नहीं दिये। देने की जरूरत भी न थी। आरम्भ में रामदास स्वामी का चरित और दासबोध की समालोचना है। समालोचना विस्तृत और विद्वत्तापूर्ण है। उससे दासबोध का महत्त्व बहुत ही अच्छी तरह समझ में आ जाता है। सप्रे जी ने, भूमिका में, इस ग्रन्थानुवाद के तथा अपने निज के वृत्ति-विपर्यय के विषय में जो कुछ कहा है, उसे पढ़ कर तो हमारी आँखों में आँसुओं की झड़ी लग गई। अस्तु! होता वही है जो ईश्वर को मंजूर होता है। सम्भव है, उनकी वर्त्तमान वृत्ति ही से जन-समुदाय का अधिक कल्याण

हो। और होने के लक्षण भी दिखाई दे रहे हैं। यदि उनकी चित्तवृत्ति में परिवर्तन न होता तो शायद दासबोध का हिन्दी अनुवाद भी न प्रकाशित होता; और जो अलौकिक ज्ञान इस पुस्तक में भरा हुआ है, उसके लाभ से हिन्दी भाषा-भाषी बञ्चित रह जाते। इसका अनुवाद करने में पण्डित लक्ष्मीधर वाजपेयी ने सप्रे जी की सहायता की है। अतएव ये दोनों ही सज्जन इस अनुवादन-पुण्य के हिस्सेदार हैं। पुस्तक पूने के चित्रशाला प्रेस में, अच्छे टाइप में, छपी है। इसी प्रेस के मालिकों ने इस का प्रकाशन भी किया है और वही इसे २) में बेचते भी हैं। पुस्तक की पृष्ठ-संख्या ५०० के ऊपर है। आरम्भ में रामदास स्वामी और सप्रे जी के गुरु, प्रोफेसर श्रीधर विष्णु परांजपे, बी० ए०, के हाफ़टोन चित्र हैं। अनुवाद सब प्रकार आदरणीय है।

[नवम्बर १९१३.

लेखों की चोरी

चोरी करना पाप है। पढ़े-लिखे लोग यदि चोरी करते हैं तो सुन कर और भी दुःख होता है—तो उनके दुराचार की भीषणता और भी बढ़ जाती है। किसी की चीज़ को अपनी कह देना सरासर चोरी है। भूल से किसी की चीज़ का अपने पास आ जाना और उसे रख लेना कम आक्षेप की बात है। पर यदि कोई किसी की चीज़ को जान बूझ कर चुरा ले और पता लगने पर रू-पोशी भी कर जाय तो उसके अपराध की गुरुता बहुत ही बढ़ जाती है। हिन्दी में जैसे बँगला, मराठी, गुजराती और अँगरेजी आदि भाषाओं के लेखों की नकलें बहुधा निकला करती हैं और मूल लेखक का नाम न देने की भूलें हो जाया करती हैं, वैसे ही किसी किसी अन्य भाषा में भी होता है। अकसर हम देखते हैं कि मराठी और गुज-राती के पत्र तथा पत्रिकायें सरस्वती के लेखों और कविताओं का अनुवाद कभी कभी कुछ तोड़-मरोड़ के साथ और कभी कभी यथातथ्य प्रकाशित कर दिया करती हैं, पर सरस्वती का नाम नहीं देतीं। यदि लेख सम्पादकीय नहीं तो इस चौर-कार्य्य के लिए सम्पादक विशेष दोषी नहीं। क्योंकि सभी भाषाओं की पुस्तकों और पत्रों का पढ़ना और उनके मज़मून ध्यान में रखना सम्पादक के लिए असम्भव है। दोषी उसके लेखक—नहीं अनुवादक—महाशय ही हैं। हाँ, यदि सम्पादकों को कोई उनके पत्र की इस तरह की त्रुटि दिखावे और वे चुप्पी साध जायँ तो इतनी बात के लिए वे भी दोषी हो सकते हैं। नामवरी का दम भरनेवाले, बम्बई की एक सचित्र मराठी मासिक पुस्तक के स्वयं सम्पादक के चौर-कार्य्य की ओर, कुछ समय हुआ, हमने सम्पादक जी का ध्यान आकृष्ट किया। पर सरकार

साहब हमारी चिट्ठी साफ़ हज़म कर गये; डकार तक न ली। आज (१ नवम्बर १३ को) बम्बई के ही एक और सचित्र मराठी मासिक-पत्र पर नज़र पड़ी। देखा तो उसमें "स्त्री-शिक्षण" नाम का एक लेख है। यह लेख जुलाई १३ की सरस्वती में प्रकाशित—"स्त्रियों के विषय में अत्यल्प निवेदन"—नाम के लेख का तोड़ा-मरोड़ा और घटाया-बढ़ाया अनुवाद है। ख़ैर इतनी ही है कि यह सम्पादक की कृपा का फल नहीं। लेख के ऊपर लेखक ललाम जी का नाम है; फिर चाहे वह काल्पनिक हो, चाहे यथार्थ। हमारी नज़र से दस बीस उदाहरण ऐसे गुज़र चुके। तब तङ्ग आकर आज हमने यह नोट लिखा है। जिन्होंने ये करतूतें की हैं, उनका नाम हम अब क्या प्रकाशित करें। आशा है, आगे के लिए ये लोग सावधान हो जायँगे। रहे हमारे हिन्दी-लेखक, सो वे सरस्वती के लेख नक़ल करना छोड़नेवाले नहीं। अतएव उनसे कहना-सुनना व्यर्थ है।

[दिसम्बर १९१३.

पुस्तकों का समर्पण

कुछ समय से हिन्दी पुस्तकों के कोई कोई लेखक, अनुवादक और प्रकाशक पुस्तक-समर्पण के सम्बन्ध में एक अनुचित और अन्याय-पूर्ण काम कर रहे हैं। रद्दी से रद्दी पुस्तक तक का समर्पण किसी के नाम पर कर देना वे बहुत ज़रूरी समझने लगे हैं। उनके काम का यह पहला अनौचित्य है। जिस पुस्तक का कुछ भी महत्व नहीं, जिससे कुछ भी लाभ की सम्भावना नहीं, उसके समर्पण की क्या आवश्यकता? भेंट में किसी को वही चीज़ दी जानी चाहिए जो अच्छी है। बुरी चीज़ किसी को देना उसका अपमान करना है। फिर औरों की रची हुई, दो दो चार चार सौ वर्ष की पुरानी पुस्तकों का समर्पण करने का अधिकार प्रकाशकों को कहाँ से प्राप्त हुआ। दूसरे की चीज़ का समर्पण करने-वाले ये कौन हैं? उनके समर्पण-कार्य्य का दूसरा अनौचित्य यह है कि जिनको वे पुस्तक समर्पण करते हैं, उनसे ऐसा करने की अनुमति लेने तक की वे शिष्टता नहीं दिखाते। पुस्तक छापी और समर्पण-पत्र लगा कर भेज दी! बहुत हुआ तो एक चिट्ठी लिख दी कि बिना पूछे ही मैंने समर्पण कर दिया है; क्षमा कीजिए!! तीसरा अनौचित्य यह है कि कोई-कोई शिष्ट-शिरोमणि जिसे पुस्तक समर्पण करते हैं, उसी को उसकी समालोचना करने की आज्ञा भी देते हैं!!! इस अशिष्टता और अनाचार का कुछ ठिकाना है! आज तक इन पंक्तियों के तुच्छ लेखक के नाम पर इसी तरह कई पुस्तकों का समर्पण हो चुका है। प्रार्थना है कि अब उस पर और अन्याय न किया जाय। वह अपने को समर्पण का पात्र नहीं समझता।

जनवरी १९१४.

पश्तो भाषा

अफ़ग़ानिस्तान के निवासियों की भाषा पश्तो कहलाती है। जो काबुली यहाँ शहर शहर, गाँव गाँव, घूमा करते हैं, वे यही भाषा बोलते हैं। जिसे आजकल काशगर कहते हैं, उसका प्राचीन नाम पश था। उसी के नाम पर इस भाषा का नामकरण हुआ है। सुलेमान बादशाह के वज़ीर ने, आपस में बात-चीत करने के सुभीते के लिए, कुछ साङ्केतिक शब्दों का निर्माण किया था। वही सङ्केत-समुदाय इस भाषा का आदिम रूप कहा जाता है। अफ़ग़ानों के आगमन के पहले अफ़ग़ानिस्तान की भाषा संस्कृतमूलक प्राकृत थी। इसी से, खेती-बारी से सम्बन्ध रखनेवाले जितने शब्द पश्तो में हैं, उनका अधिकांश प्राकृत ही का विकृत रूप है। फ़ारिस अफ़ग़ानिस्तान से मिला हुआ है; और फ़ारिसवालों की प्राचीन भाषा ज़ेन्द और पहलवी थी। फ़ारिसवाले वाणिज्य-व्यवसाय में अफ़ग़ानों से बढ़े-चढ़े थे। अतएव व्यापार-व्यवसाय-सम्बन्धी जितने शब्द पश्तो में हैं, वे इन्हीं दोनों पुरानी भाषाओं की बदौलत उसे प्राप्त हुए हैं। हिब्रू भाषा का भी प्रभाव पश्तो पर पड़ा है; क्योंकि अफ़ग़ान लोग किसी समय हिब्रू बोलनेवाले यहूदियों की प्रजा थे। जब मुसलमानों ने अफ़ग़ानिस्तान को अपने अधिकार में कर लिया, तब उनके कारण अरबी-फ़ारसी के भी शब्द पश्तो में मिल गये। इस तरह पश्तो भाषा प्राकृत, ज़ेन्द, पहलवी, हिब्रू, अरबी और फ़ारसी की खिचड़ी हो गई। पहले इस भाषा की कोई लिपि न थी। सुलतान महमूद के राज्यकाल में, काज़ी नसरुल्ला नामक एक विद्वान् ने पश्तो-वर्णमाला का निर्म्माण किया। अब तो इस भाषा में कोश, व्याकरण आदि के सिवा काव्य-ग्रन्थ भी पाये

जाते हैं। कप्तान रावर्टी ने पश्तो-अँगरेजी का एक अच्छा कोश बनाया है और लाहौर के शम्सुलउल्मा काज़ी मीर अहमद रिज़वानी ने एक व्याकरण लिखा है। पश्तो में कई कवियों ने कविता की है। उनमें अबदुर्रहमान सबसे अधिक प्रसिद्ध है। अफ़ग़ान लोगों में इस कवि के दीवान (काव्य-संग्रह) का बड़ा आदर है।

[जनवरी १९१४.

बोल-चाल की हिन्दी में कविता

कुछ लोगों का ख़याल है कि बोल-चाल की हिंदी में कविता का जन्म हुए अभी बीस ही पचीस वर्ष हुए। पर खोज से इस भाषा की कविता के ऐसे कई नमूने मिले हैं जो बहुत पुराने हैं। यदि इस तरह की कविता का जन्म पचीस ही तीस वर्ष पहले हुआ माना जाय तो भी सिर्फ़ इतना ही कहा जा सकता है कि आज से कोई पन्द्रह वर्ष पूर्व इसके दो ही चार नमूने निकले थे। बस, कुछ ही नमूने निकल कर बन्द हो गये थे; इस तरह की कविता का प्रचार नहीं हुआ था। परन्तु जब से सरस्वती ने बोल-चाल की भाषा में की गई कविता को आश्रय दिया, तब से इसका प्रचार बढ़ने लगा। पन्द्रह वर्ष पहले शायद ही कभी किसी अख़बार या मासिक पुस्तक में ऐसी कविता निकलती रही हो। पर अब आप किसी भी अख़बार या सामयिक पुस्तक को उठा लीजिए, प्रायः सर्वत्र ही आपको बोल-चाल की भाषा में कविता मिलेगी। ब्रज भाषा में लिखी गई कविता बहुत कम देखने को मिलेगी। इससे सिद्ध है कि समय ऐसी ही कविता माँगता है। गद्य-पद्य की भाषा होनी भी एक ही चाहिए। बोल-चाल ही की भाषा लोगों की समझ में शीघ्र आती है। इसी से लोग उसे पसन्द भी करते हैं। हाँ, जो अब भी ब्रज भाषा में पद्य-रचना करते हैं उन्हें वैसा करने से कोई रोक भी नहीं सकता। पर ब्रज भाषा की कविता के महत्त्व के गीत अलापने का समय चला गया। अब वह फिर नहीं आने का। ब्रज की बोली में कविता न करने या उस बोली के न जाननेवाले चाहे लङ्गूर बनाये जायँ, चाहे गीदड़। इससे बोल-चाल की भाषा की कविता का प्रवाह बन्द न होगा। बोल-चाल की भाषा को खड़ी बोली कहकर

उसके पुरस्कर्त्ताओं की निन्दा और उपहास करने से ब्रज भाषा का गौरव नहीं बढ़ सकता।

एक बात और भी है। ब्रज भाषा के मीठे मीठे शब्दों के समुदाय और दो-दो तीन-तीन पृष्ठों तक व्यापक विशेषणावली से पूर्ण पद्य-रचना का नाम कविता हो भी नहीं सकता। ब्रज भाषा की पुरानी कविता की ललित पदावली में मनोहर भाव भी पाये जाते हैं। इसी से उसका अब भी आदर है। परन्तु इस भाषा या बोली की नई कविताओं या पद्यों में अच्छे भावों की बहुत कमी रहती है। कहीं कहीं तो उनका अभाव ही दिखाई देता है। इस दशा में ऐसी कविता के प्रशंसकों का स्तुति-पाठ निष्फल हुए बिना नहीं रह सकता। जिसमें कोई गुण नहीं अथवा जो समयानुकूल नहीं, उसकी चाहे जितनी प्रशंसा की जाय, कुछ लाभ न होगा। रोज़ देखते हैं, नई नई पुस्तकें और मासिक पुस्तकें निकलती हैं। उनकी अच्छी से अच्छी समालोचनायें निकलवाई जाती हैं और बार बार निकलवाई जाती हैं, पर उद्देश्य-सिद्धि बहुत ही कम होती है। इसका कारण स्पष्ट ही है। बात यह है कि—

गुणैर्हि सर्वत्र पदं निधीयते।

कुछ लोग अकारण ही बोल-चाल की कविता की निन्दा किया करते हैं। नहीं मालूम, उन्होंने कविता का क्या अर्थ समझ रक्खा है। क्या "कोमल-कान्त-पदावली" ही का नाम कविता है? क्या जिस पद्य में कोई अच्छा भाव नहीं, सिर्फ़ लच्छेदार मीठे-मीठे शब्दों की भर-मार है, वही कविता है? इन निन्दकों में कुछ कवि भी हैं। पर उनकी कविता इतनी नीरस, इतनी व्याकरण-विरुद्ध और इतनी भाव-शून्य होती है कि देख कर दुःख होता है और उनकी अहम्मन्यता पर दया आती है। कविता यदि सरस और भावमयी है तो उसका अवश्य ही आदर होगा—भाषा उसकी चाहे ब्रज की हो, चाहे उर्दू। यदि ये गुण उसमें नहीं, सिर्फ़ शब्दों का तोड़-मरोड़ और आडम्बर ही उसमें प्रधानता रखता है, तो औरों की

हज़ार निन्दा करने पर भी उसकी पद्य-रचना को लोग बहुत ही कम पसन्द करेंगे। अतएव बोल-चाल की हिन्दी में कविता करनेवालों को इस तरह के निन्दावाद की कुछ भी परवा न करके गुणवती कविता लिखने में चुपचाप लगे रहना चाहिए।

[अप्रैल १९१४

अपनी भाषा की बात

गवर्नमेंट के कर्मचारियों ने हमारी भाषा के खण्ड-खण्ड करके उसकी व्यापकता के भाव को कम कर दिया है। उन्होंने उसके पश्चिमी हिन्दी, पूर्वी हिन्दी और बिहारी आदि कई विभाग कर डाले हैं। इसके आगे भी वे गये हैं। हिन्दी और हिन्दुस्तानी, ये दो और भी विभाग उन्होंने किये हैं। मर्दुम-शुमारी की रिपोर्टों में इन नाना नामों के कारण हमारी भाषा बोलनेवालों की ठीक ठीक संख्या का पता लगाना कठिन हो गया है। गेट साहब की रिपोर्ट का पृष्ठ ३४० देखिए। वहाँ जो नक़शा दिया हुआ है, उसमें कहीं तो हिन्दी-उर्दू के अङ्क अलग-अलग दिये गये हैं—उदाहरणार्थ बङ्गाल में—और कहीं नहीं। इसी पृष्ठ पर एक और तमाशा हुआ है। बरौदा राज्य में हिन्दी, हिन्दुस्तानी और उर्दू ये तीन भाषायें अलग-अलग दिखाई गई हैं। हिन्दुस्तानी और उर्दू, ये दो जुदा-जुदा भाषायें कौन सी हैं, यह भगवान् ही जानें, या जानें गेट साहब, जिन्होंने यह रिपोर्ट लिखी है। इस गड़बड़ के होते भी गेट साहब ने यह स्वीकार किया है कि कुछ कम दस करोड़ आदमी हिन्दी बोलते हैं। इसका मतलब यह हुआ कि इस देश की आबादी का कोई एक-तृतीयांश हमारी भाषा बोलता है। हमारी भाषा बोलनेवालों का मुक़ाबला अब भारत की अन्य प्रसिद्ध-प्रसिद्ध भाषायें बोलनेवालों से कीजिए। नीचे उनकी संख्या दी जाती है।

बँगला	बोलनेवाले	४	करोड़	८०	लाख
मराठी	,,	१	,,	९०	,,
गुजराती	,,	१	,,	०	,,

पञ्जाबी बोलनेवाले १ करोड़ ५० लाख
राजस्थानी ,, १ ,, ४० ,,
उड़िया ,, १ ,, ० ,,

द्रविड़ देश की भाषाओं का हिसाब हम नहीं देते; क्योंकि हिन्दी का उनसे बहुत ही कम सम्पर्क है। अब, देखिए कि जिस बँगला के बोलनेवालों की संख्या हमारी भाषा बोलनेवालों की संख्या की आधी भी नहीं, वही पञ्जाब और संयुक्त प्रान्तों पर चढ़ाई करने की तैयारी में है। हिन्दी बोलनेवालों की संख्या मध्य प्रदेश, बिहार और संयुक्त प्रान्तों ही में सीमाबद्ध नहीं। आसाम में भी फी सदी ६ आदमी हिन्दी बोलते हैं। उसके भी आगे, सुदूरवर्ती ब्रह्म देश में, फी सदी एक आदमी हमारी भाषा बोलता है। इधर, दक्षिण में, मदरास को देखिए। वहाँ भी हिन्दी बोलनेवालों की संख्या २ फी सदी है। गेट साहब की रिपोर्ट के पृष्ठ ३३७ पर लिखा है—

"Only two per cent. returned some form of Hindi, but it is widely spoken as a second language, and there are few places outside the Agency tracts and Malabar where a tolerable knowledge of it will not enable a traveller to communicate with those about him unaided by an interpreter."

मदरास प्रान्त तक में जब हमारी भाषा के समझनेवाले प्रायः सर्वत्र पाये जाते हैं, तब बङ्गाल, बम्बई और पञ्जाब के विषय में कुछ भी कहने की आवश्यकता नहीं। सो, जिस भाषा के समझनेवाले भारत के कोने-कोने में विद्यमान हैं और जिसकी सहायता से मनुष्य अल्मोड़ा से कुमारिका अन्तरीप और पेशावर से रङ्गून तक की यात्रा में अपने भाव अन्य प्रान्तवालों पर प्रकट कर सकता है और उनकी बात समझ सकता है, उसी का—उसी हिन्दी का—उसी के घर में यहाँ तक अनादर है कि अब बङ्गाली अपनी भाषा को उसी के पास ला बिठाने की चेष्टा

में हैं। भारत की एक-तृतीयांश जन-संख्या की जन्म-भाषा होकर भी हिन्दी की इतनी हीन दशा! संयुक्त प्रान्त में दस बीस भी प्रभुताशाली पुरुष उसके प्रेमी और पृष्ठ-पोषक नहीं! हिन्दी की कुछ क़दर नहीं। हिन्दी लेखकों की कुछ क़दर नहीं!! हिन्दी में लिखी गई पुस्तकों की कुछ कदर नहीं!!! बङ्गीय साहित्य-सम्मेलन के कर्णधार! आओ, तुम्हारे लिए मैदान खाली पड़ा है। शेक्सपियर और बाइरन, मेकाले और मार्ले के पूजक, संयुक्त प्रान्त के अँगरेजी-दाँ, हाथ क्या, ज़बान तक हिलाने-वाले नहीं। उनके लिए जैसे हिन्दी, वैसे ही बङ्गला। तुम्हारे आगमन से उनकी कोई हानि नहीं। जीती रहे उनकी अँगरेजी। उनके और उनके कुटुम्बियों के सारे काम उसी से निकल जायँगे। अब तक के हिन्दी-उर्दू के झगड़े ही ने उनका क्या बिगाड़ लिया? बँगला भी उनका क्या बिगाड़ सकेगी? आवे, उनकी बला से!

[जूलाई १९१४.

हिन्दी में फ़ारसी-अरबी के अनावश्यक शब्द

देशी राज्यों के राजे, यदि चाहें तो, प्रजा के हित के लिए बड़े बड़े काम कर सकते हैं, प्रजा को अधिक समृद्ध और शिक्षित बना सकते हैं, उनकी हर तरह से उन्नति कर सकते हैं। बरोदा, माइसोर और ट्रावन-कोर इस बात के प्रमाण हैं। परन्तु अधिकांश देशी रियासतों की दशा बहुत ही शोचनीय है। उन्हें अपने घर ही की ख़बर नहीं, प्रजा के घर की याद उन्हें क्यों आने लगी। वे स्वयं ही सैकड़ों व्यसन-वारीशों में निमग्न हैं; दूसरों को शिक्षित और उन्नत वे बेचारे भला क्या करेंगे। और विषयों को जाने दीजिए। यदि यहाँ के राजे-महाराजे चाहें तो अपनी मातृ-भाषा की यथेष्ट उन्नति कर सकते हैं। उसका प्रचार वे अपने राज्य में बढ़ा सकते हैं और अनेक उपयोगी ग्रन्थों की रचना कराकर हज़ारों, लाखों, करोड़ों आदमियों को लाभ पहुँचा सकते हैं। परन्तु उनमें से अधिक राजे-महाराजे और तअल्लुकेदार तो विद्या से प्रायः पूरे ही विमुख हैं। जो साक्षर और सुशिक्षित हैं, उनका भी ध्यान पोलो, टेनिस, सान्ध्य भोज आदि को छोड़कर और बातों की तरफ बहुधा जाता ही नहीं। कुछ राज्यों में फ़ारसी अक्षरों की जगह, राम राम करके, देवनागरी अक्षरों को मिल गई है। परन्तु भाषा अब भी वही फारसी-अरबी से लदी हुई काम में लाई जाती है। प्रजा के सुभीते ही के लिए उर्दू की जगह हिन्दी को दी गई है। इसका विचार न करके कर्मचारी लोग पूर्ववत् "हस्ब इक़-ज़ाये राय", "तारीख़ मुअय्यना", "इस्तेहक़ाक़" और "मुतसव्विर" के सदृश महाक्लिष्ट शब्द और मुहावरे देवनागरी में लिखे हुए काग़ज़ों,

इश्तहारों और परवानों में ठूसते चले जाते हैं। श्रीयुत विश्वम्भरदास गार्गीय ने झाँसी से ऐसे कितने ही शब्दों की एक तालिका भेजी है, जिसे उन्होंने ग्वालियर राज्य के एक इश्तहार की इबारत से नक़ल किया है। गार्गीय महाशय को शायद मालूम नहीं कि महाराजा सेंधिया स्वयं ही ऐसे शब्दों का प्रयोग, अपने व्याख्यानों में, बहुधा करते हैं। यहाँ तक कि उनकी राजधानी से हिन्दी-अँगरेजी में, राज्य की तरफ़ से, जो अख़-बार निकलता है, उसमें भी कभी कभी ज़बरदस्त उर्दू में लिखे हुए लेख प्रकाशित होते हैं। शब्द चाहे जिस भाषा के हों, यदि वे सब की समझ में आने योग्य हैं, तो उनका प्रयोग होना ही चाहिए। परन्तु ग्वालियर राज्य में फ़ी सदी ऐसे कितने आदमी होंगे जो इस्तेहक़ाक़ और इस्तक़ज़ाय का मतलब समझते होंगे? यदि ऐसों की संख्या ५० फी सदी से कम हो तो इन विदेशी शब्दों के बहाने, प्रजा के सामने, लोहे के चने रखना अत्यन्त अनुचित है।

[अगस्त १९१४.

एक हज़ार वर्ष का पुराना समाचार-पत्र

कुछ दिनों से चीन में समाचार-पत्रों की संख्या बहुत बढ़ रही है। १८९५ में वहाँ सिर्फ़ १९ स्वदेशी समाचार-पत्र थे; परन्तु अब वहाँ तीन हजार समाचार-पत्र हो गये हैं। इससे यह न समझना चाहिए कि प्राचीन समय में चीन-निवासियों को समाचार-पत्र-सम्पादन की कला मालूम ही न थी। सच तो यह है कि दुनियाँ का सब से पुराना समाचार-पत्र चीन ही में है। उसको 'किन बो' अर्थात् राजधानी की ख़बरें देनेवाला (The Metropolitan Reporter) कहते हैं। इसी को विदेशी लोग पेकिन गैज़ट (Peking Gazette) कहते हैं। यह समाचार-पत्र एक हज़ार से भी अधिक वर्षों से निकल रहा है! इसका उद्देश्य चीन-सरकार के राज्य-प्रबन्ध का सारा हाल प्रजा को ठीक समय पर सुनाना है। भिन्न भिन्न प्रान्तों की रिपोर्टें, सरकारी आज्ञापत्र, अफ़सरों की तरक्कियाँ, परीक्षाओं के नतीजे इत्यादि अनेक विषय इस पत्र में प्रकाशित होते हैं। इसका प्रबन्ध युद्ध-विभाग की एक कमिटी के द्वारा होता है। स्वयं चीन के बादशाह को इस कमिटी के प्रेसिडेन्ट का काम करना पड़ता है—अर्थात् वही इस समाचार-पत्र के प्रधान सम्पादक हैं। भिन्न भिन्न प्रान्तों से ख़बरें लाने के लिए रिपोर्टर नियत किये गये हैं। प्रत्येक ज़िले का चीफ़ मैजिस्ट्रेट अपने ज़िले की ख़बरें लिखकर और कागज़ को सन्दूक में बन्द करके रिपोर्टर को दे देता है। फिर ज़िले के सब अफ़सर गाँव के बाहर तक उसे बिदा करने जाते हैं। बिदा के समय छः तोपों की सलामी होती है! जब यह रिपोर्टर पेकिन शहर में 'किन बो' के सरकारी कार्यालय में पहुँचता है, तब बादशाह उस सन्दूक को स्वयं अपने हाथ से खोलते हैं। इसके बाद कमिटी के सब मेम्बर एकत्र होकर इस बात का विचार करते हैं कि इन रिपोर्टों में से कौन और किस प्रकार

प्रकाशित होनी चाहिए। जो विषय प्रकाशित होने योग्य समझे जाते हैं, उनकी नकलें तैयार की जाती हैं और 'कापी' प्रेस में भेज दी जाती है।

चीनी भाषा में, हिन्दी के सदृश, वर्णमाला के अक्षर नियत नहीं हैं। प्रत्येक शब्द के लिए भिन्न भिन्न चिह्न या आकृतियाँ बनाई जाती हैं; और इन्हीं शब्द-चिह्नों से इबारत लिखी जाती है। अतएव वहाँ के छापे-खानों में, अक्षरों के बदले, शब्द-चिह्नों (Word-Symbols) ही से काम लिया जाता है। चीनी भाषा में २१४ मुख्य शब्द-चिह्न हैं। उन्हीं में कुछ हेर-फेर कर देने से हज़ारों नये नये शब्द बन जाते हैं। छापेख़ाने के टाइप (शब्द-चिह्न) पापलर और विलो नाम की लकड़ी के बनाये जाते हैं। यद्यपि चीनी कम्पाज़ीटर अपने काम में बहुत कुशल होता है, तथापि कभी कभी टाइप के ख़ानों में किसी किसी शब्द के लिए उसे उचित चिह्न नहीं मिलते। तब वह तुरन्त लकड़ी का एक टुकड़ा काट कर स्वयं अपने हाथ से शब्द-चिह्न बना लेता है। परन्तु यह काम बहुत भद्दा होता है। चीन का 'किन बो' समाचारपत्र इसी तरह लकड़ी के टाइपों (शब्द-चिह्नों) से छापा जाता है। जब सत्रहवीं सदी में रोम देश के कुछ पादरी चीन गये थे, तब उन्हीं लोगों ने इन लकड़ियों के टाइपों का उपयोग शुरू किया था।

'किन बो' समाचार-पत्र के एक अङ्क में पीले रङ्ग के पतले काग़ज़ पर छापे हुए दस बारह पन्ने होते हैं। इसका आकार ७½ × ३¾ इंच है। चमकीले पीले रङ्ग के एक काग़ज़ से वह लपेट दिया जाता है और बाहर बाईं ओर के कोने में, समाचार-पत्र का नाम लाल रङ्ग में छाप दिया जाता है। प्रत्येक पृष्ठ में सात कालम और प्रत्येक कालम में, ऊपर से नीचे तक, चौदह शब्द-चिह्न होते हैं। यह पत्र जैसा बाहर से देखने में खूबसूरत मालूम होता है, वैसा ही भीतर का मज़मून भी बड़े काम का होता है।

[सितम्बर १९१४.

हिन्दुस्तानियों के अँग्रेजी लेख

कर्त्तव्य-ज्ञान न होने, अथवा कर्तव्य-कर्म्म का सम्पादन न करने से मनुष्य को अनेक दुःख और कष्ट सहने पड़ते हैं। देश, समाज और साहित्य का ह्रास और हीनता भी प्रायः कर्त्तव्य-कर्म्म से पराङ्मुख होने ही का फल है। कर्त्तव्य का पालन न करने से शरीर और आत्मा तक को नाना प्रकार की व्याधियों और जरा-मरण आदि दुःखों से अभिभूत होना पड़ता है। हमारी प्रायः सारी शिकायतें, इसी एक कर्त्तव्य-कर्म्म से बहिर्मुख होने से उत्पन्न हुई हैं। ये सारे रोग हमीं ने पैदा किये हैं। हमीं इनको दूर भी कर सकते हैं—इनका इलाज भी हमारे ही हाथ में है। जिस तरह अपने कुटुम्ब के प्रति प्रत्येक मनुष्य का कर्तव्य निश्चित होता है, उसी तरह अपनी जाति, अपने समाज, अपने देश और अपने साहित्य के प्रति भी निश्चित होता है। पर उस कर्तव्य का हम पालन नहीं करते। फल यह होता है कि ह्रास, हानि, अवनति, दुःख, दारिद्र्य आदि की उत्पत्ति होती है। मूर्ख, अपढ़ या अल्पज्ञ यदि कर्त्तव्य-पालन न करे तो उसे क्षमा मिल सकती है। विद्वान् और बहुज्ञ के इस अपराध की क्षमा नहीं। उसकी कर्त्तव्य-च्युति का कुफल बहुत ही भयङ्कर होता है।

× × × ×

जो लोग दिन भर कड़ी मिहनत करते हैं—एक-एक रोमकूप से पसीना बहाकर चार पैसे पैदा करते हैं—उन्हीं के दिये हुए रुपये की बदौलत गवर्नमेंट अपना शासन-कार्य्य करने में समर्थ होती है। ये जितने सरकारी दफ्तर, कचहरियाँ, अस्पताल, सड़कें, नहरें और तार-घर आदि हैं, सब हमीं लोगों से प्राप्त हुए कर की कृपा से अस्तित्व में आये हैं।

इनमें जो ख़र्च हुआ है, वह आसमान से नहीं फट पड़ा। सरकारी स्कूलों और कालेजों का भी यही हाल है। वे भी, परोक्ष रीति से, हमारी ही कमाई से चलते हैं। उनका काम सबसे अधिक महत्त्व का है। उन्हीं की कृपा से मूर्ख पण्डित हो जाते हैं, अज्ञान-सज्ञान हो जाते हैं और अल्पज्ञ बहुज्ञ हो जाते हैं। अथवा यह कहना चाहिए कि मनुष्य को मनुष्यत्व देनेवाले यही स्कूल और कालेज हैं। अब सोचने की बात है कि इन स्कूलों और कालेजों में पढ़कर डेपुटी, कलेक्टर, मास्टर, प्रोफ़ेसर, डाक्टर, बारिस्टर, कौंसिल के मेम्बर और न मालूम क्या-क्या होनेवाले, हम, इनके चलानेवालों को कितना लाभ पहुँचाते हैं। फिटनों पर सवार होने और बँगलों में रहनेवाले महाशयों को क्या कभी इन लोगों की भी याद आती है? जिस दयाल मोची, किरपाल कुर्मी और आनन्दी अहीर की कौड़ी से ये विद्या-दिग्गज हुए हैं, उनके सुख-दुःख का भी खयाल क्या कभी इनके उदार हृदय में उत्पन्न होता है? ग़रीब बनिये-बक्कालों और ब्राह्मण-क्षत्रियों के धन से खोले गये कालेजों की दया से एम० ए०-बी० ए० और एस० डी०—पी० एच० डी० बने हुए हमारे ये भाई क्या कभी इन अज्ञों और अकिञ्चनों को सज्ञान और शिक्षित करने की बात पर भी विचार करते हैं? यदि किसी का लड़का अपने माँ-बाप को निरन्न छोड़ दे अथवा समर्थ हो कर भी अपने कुटुम्बियों का पालन न करे तो लोक में उसकी निन्दा होती है या नहीं? अपने ऊपर उपकार करनेवालों का प्रत्युपकार न करना कृतघ्नता है या नहीं?

× × × ×

हमारे अनेक दुःखों का कारण शिक्षा का अभाव या कमी है। शिक्षा-प्राप्ति से—ज्ञान-प्राप्ति से—मनुष्य अपनी विघ्न-बाधाओं को बहुत कुछ दूर कर सकता है। हम लोग सुशिक्षित नहीं। हमारे देश में शिक्षा की बड़ी कमी है। इसी से हम हर विषय में पीछे पड़े हुए हैं। इसी से हमारे दुःख दूर नहीं होते। यदि हम शिक्षित हो जायँ तो हमें अपने दुःख-दर्द के कारण मालूम हो

जायँ। ऐसा होने से हम उनका इलाज भी ढूँढ़ निकालें। रोग का निदान जब तक मालूम नहीं, तब तक उसे दूर करने का प्रयत्न बहुत ही कम लाभदायक हो सकता है। शिक्षा की प्राप्ति के अनेक मार्ग हैं। उन्हीं की सुलभता से शिक्षा का विस्तार और प्रचार होता है। समाचार-पत्रों और सामयिक पुस्तकों का यथेष्ट प्रचार और विद्या तथा विज्ञान की प्रत्येक शाखा पर बहु-जन-सुलभ ग्रन्थों की रचना भी शिक्षा-विस्तार का एक मार्ग है। यह मार्ग न विशेष कष्टसाध्य है, न व्ययसाध्य। समर्थ मनुष्य, अपने अन्य काम सँभाल कर भी, इस मार्ग को कुछ न कुछ प्रशस्त अवश्य कर सकता है। परन्तु अपने देश, अपने समाज और अपने साहित्य को समुन्नत करने के लिए हमसे इतना भी नहीं होता। जिस समाज और जिस देश ने हमें समुन्नत किया, उसे हम बिलकुल ही भुला रहे हैं। यह कैसी कृतज्ञता है! यह कैसा प्रत्युपकार है! जिन लोगों की गाढ़ी कमाई के पैसे की बदौलत पढ़-लिख कर हम सुशिक्षित और सुपण्डित बन बैठे हैं, उनको तथा उनकी सन्तति को तो पढ़ने के लिए उनकी निज की भाषा में ढूँढ़ने से भी दस-पाँच अच्छी-अच्छी पुस्तकें न मिलें; और हम मेज़-कुर्सी लगाये, मूँछें ऐंठते, प्लेटो, पिथागोरस और सेनेका, शङ्कर, जैमिनि और श्रीहर्ष के दार्शनिक विचारों की समालोचना सात समुद्र पार की भाषा में लिखें।

हिन्दुस्तान-रिव्यू का, जूलाई १९१४ का, अङ्क इस समय हमारे सामने है। उसमें प्लेटो और शङ्कराचार्य्य के तत्त्वज्ञान पर एक लम्बा लेख है। उसके लेखक हैं कोई—डाक्टर प्रभुदत्त शास्त्री, आई० ई० एस०। ये शायद वही डाक्टर साहेब हैं जो किसी समय पञ्जाब में थे और सरकारी वज़ीफ़ा पाकर अपना दार्शनिक और संस्कृत-ज्ञान पक्का करने के लिए योरप गये थे। यदि यह सच है तो क्या आप पर उन लोगों का कुछ भी हक़ नहीं जिनसे वसूल हुआ रुपया, वज़ीफ़े के रूप में पाकर, आपने अपनी विद्वत्ता की सीमा बढ़ाई है? क्या केवल अँगरेजीदाँ हज़रत ही इस

देश में रहते हैं ? क्या ये स्कूल, कालेज और वज़ीफ़े उन्हीं के घर के रुपये से चलते और मिलते हैं ? फिर, कारण क्या कि उन्हींके फ़ायदे का ख्याल किया जाय, औरों के फायदे का नहीं ? क्या दो चार पन्ने में अपनी विलायती यात्रा का वर्णन अथवा और कोई छोटा-मोटा लेख हिन्दी की किसी सामयिक पुस्तक में दे देने ही से हिन्दी बोलनेवाले कृतार्थ हो जायँगे ? प्लेटो की फिलासफ़ी पर तो अँगरेजी में अनेक पुस्तकें अब तक प्रकाशित हो चुकी हैं। कई देशी और विदेशी पण्डितों के कृपा-कटाक्ष से शङ्कर के तत्त्वज्ञान पर भी अँगरेज़ी में ग्रन्थ सुलभ हो गये हैं। पर इस अभागी भारत के कितने संस्कृतज्ञ दर्शन-शास्त्री प्लेटो को पहचानते हैं ? और, हिन्दी ही क्यों, केवल संस्कृत के भी ज्ञाता ऐसे कितने हैं जिनको शङ्कर की फिलासफ़ी का निर्भ्रम ज्ञान हो ? उनके अज्ञान और भ्रम को दूर करने की अधिक आवश्यकता है या नहीं ? अपने ही देश के विद्वानों को न पहचानना और उनके विचारों से परिचय न रखना कलङ्क नहीं, तो परिताप की बात है या नहीं ? जिसके घर में चूहे दण्ड पेलते हों, वह यदि जगतसेठ के गोदाम में गेहूँ की गाड़ियाँ उलटाने जाय तो कितने आश्चर्य की बात है ? अँगरेजीदाँ अपना नाम करने के इरादे से अथवा और किसी कारण से यदि अँगरेजी में लेख और पुस्तकें लिखें तो लिख सकते हैं। परन्तु उनको अपने घर की भी तो कुछ खबर रखनी चाहिए। महीनें में घण्टे दो घण्टे भी अपने अज्ञात और अशिक्षित भाइयों को लाभ पहुँचाने की चेष्टा करना क्या उनके लिए पहाड़ उठाना है ? हमारी यह शिकायत डाक्टर प्रभुदत्त ही से नहीं, उत्तरी भारत के अन्यान्य डाक्टरों और अँगरेजीदाँ शास्त्रियों से भी है। वे भी तो प्रायः सभी अँगरेज़ी ही में लिखने के आदी हो रहे हैं।

डाक्टर प्रभुदत्त शास्त्री ने अपने पूर्वोक्त लेख में संस्कृत ग्रन्थों से भी अनेक वचन उद्धृत किये हैं। हिन्दुस्तान-रिव्यू में देखिये, उनकी कैसी दुर्गति हुई है—

जैसा हिन्दुस्तान-रिव्यू में छपा है	जैसा चाहिए
(१) ब्रह्म	(१) ब्रह्म
(२) संकल्पमांत्र जगत्	(२) सङ्कल्पमात्रं जगत्
(३) नीते नेति	(३) नेति नेति
(४) नामरूसे	(४) नामरूपे
(५) व्यावहारि की सत्ता	(५) व्यावहारिकी सत्ता
(६) ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या	(६) ब्रह्म सत्यं जगन्मिथ्या
(७) ब्रह्म ज्ञान	(७) ब्रह्मज्ञान
(८) यन्मनसाऽपित मनुते	(८) यन्मनसाऽपि न मनुते
(९) यन्मन सैवानुद्रष्टव्यम	(९) यन्मनसैवानु द्रष्टव्यम्
(१०) स्थुल	(१०) स्थूल
(११) काण	(११) कारण
(१२) प्राकृति	(१२) प्रकृति
(१३) जीवत्मा	(१३) जीवात्मा

दस ग्यारह सफे के लेख की इतनी दुर्दशा !

हमारी प्रार्थना है कि अँगरेजी के विद्वान्, अपने देश और अपने समाज की दशा पर विचार करके, अपनी भाषा में भी उपयोगी लेख लिखने की कृपा किया करें। लिखना नहीं आता, यह दलील किसी काम की नहीं। सचमुच ही नहीं आता तो सीखिए। अपना कर्तव्य पालन कीजिए।

[सितम्बर १९१४.

किराये पर कवि

सुनते हैं, पुराने जमाने में कोई-कोई गुणज्ञ राजे-महाराजे और अमीर आदमी कवियों को नौकर रखते थे। वे उनसे कविता कराते और ग्रन्थ लिखाते थे। फिर उस कविता या ग्रन्थ को अपने नाम से प्रकाशित करते थे। पुरस्कार के बदले कविता या ग्रन्थ का कर्तृत्व पुरस्कारदाता का हो जाता था। उस समय शायद ऐसा करना अनुचित न समझा जाता हो। पर हम समझे थे कि वह जमाना गया। यद्यपि अब भी दूसरे की चीज़ को अपनी बतानेवालों की कमी नहीं, तथापि यह बात खुले-खजाने नहीं होती, लुक-छिप कर होती है—चोरी से होती है। परन्तु हमें यह जान कर बहुत आश्चर्य हुआ कि अब भी कुछ सभ्य सज्जन ऐसे हैं जो पेट के कारण टका लेकर दूसरों के लिए कविता लिखते हैं; और वे दूसरे सभ्य-शिरोमणि उस कविता को अपने नाम से प्रकाशित करके महाकवि होने की शाबासी और नेकनामी लूटते हैं! सभ्यता और सदाचार की बाधक इस तरह की घटनायें उर्दू के साहित्य-संसार में अधिक होती हैं। यह संसार तीन लोक से न्यारा है। इसके लेखकों में से शायद ही कोई अच्छे संस्कृतज्ञ हों, तथापि वे कालिदास, भवभूति, व्यास, वाल्मीकि यहाँ तक कि शङ्कराचार्य्य के वेदान्त-विचारों को भी बेधड़क उर्दू में उतार डालते हैं। पर वे यह नहीं बताते कि मूल संस्कृत ग्रन्थों को देख कर हमने लेख लिखे हैं या किसी अन्य भाषा में किये गये अनुवादों को देख कर। यह बता देने से उनकी संस्कृतज्ञता और विद्वत्ता में बाधा आ जाने का जो डर रहता है। बहुत समय हुआ, बाबू अरविन्द घोष ने कालिदास के समकालीन भारत पर एक महत्त्व-पूर्ण

लेख, अँगरेज़ी में, लिखा था। उसका भावार्थ सरस्वती में निकले कई वर्ष हुए। सरस्वती का यह लेख जब कुछ पुराना हो गया, तब उर्दू के एक उछलते हुए लेखक ने उसकी नक़ल फ़ारसी लिपि में कर दी और कहीं-कहीं संस्कृत के शब्दों की जगह उर्दू के शब्द बिठा दिये। और सब वैसे ही रहने दिया। फिर उस लेख को उर्दू के एक बड़े ही नामी-गरामी पत्र में छपवा कर आप अरविन्द बाबू के लेख के अनुवादक बन बैठे। लेखकों के ऐसे ऐसे सभी पुण्य-कार्य्यों का पता सम्पादक को नहीं चल सकता। अतएव ऐसी बातों का वह उत्तरदाता नहीं। पर यदि उसे पता चल जाय और फिर भी वह गजनिमीलना करे तो समझना चाहिए कि उसने भी सदाचार की सीमा का उल्लङ्घन किया। हाँ, किराये पर कविता लिखने और लिखाने की घटना का जो हाल मालूम हुआ है, उसका संक्षेप यह है कि किसी ने उर्दू के एक नामी कवि से कालिदास के एक काव्य के कुछ अंशों का अनुवाद, उजरत देकर, उर्दू में कराया। फिर आपने उसे अपने नाम से प्रकाशित किया। किसी को इस बात का पता लग गया। उसने अपने किसी लेख में इसका इशारा कर दिया। इस पर मामले ने तूल पकड़ा। फल यह हुआ कि किराये पर कविता करानेवाले महात्मा के रहस्य का अच्छी तरह उद्घाटन हो गया। सर्व-साधारण को सदाचार, सदुपदेश, सुनीति और सभ्यता की शिक्षा देने का बीड़ा उठानेवाले इन गर्वीले गुरुओं की इस करतूत पर किसे दुःख न होगा?

[मई १९१५.

सम्पादकों, समालोचकों और लेखकों का कर्त्तव्य

इस देश में सम्पादन-कार्य्य की शिक्षा का कुछ भी प्रबन्ध नहीं। कुछ लोग अच्छी शिक्षा पाकर सम्पादक बनते हैं; कुछ लोग यथेष्ट शिक्षा प्राप्त करके भी पहले किसी सुयोग्य सम्पादक की अधीनता में काम करते हैं, तब कोई अखबार या सामयिक पुस्तक निकालते हैं; कुछ लोग न अच्छी तरह शिक्षा की प्राप्ति करते हैं, न सम्पादन-कार्य्य ही सीखते हैं, और सम्पादक बन बैठते हैं। हमारे सदृश हिन्दी के अनेक सम्पादक प्रायः इसी तीसरी कक्षा के हैं। इसी से कोई पत्र या पुस्तक निकालने के वर्षों पहले, हिन्दी-सेवा की दुहाई देते हुए, वे अपने अजन्मा पत्र या पुस्तक का विज्ञापन मुफ्त ही छापते हैं। उसमें वे बड़ी बड़ी बातें कहते हैं। राम राम करके जब उनके पत्र का पहला अङ्क निकलता है, तब उसके पहले ही पृष्ठ पर किसी न किसी त्रुटि के लिए क्षमा-प्रार्थना के दर्शन होते हैं। ऐसे पत्र शीघ्र ही बन्द हो जाते हैं। यदि कुछ दिन चलते भी हैं तो जीते ही मुर्दे बन कर अपने दिन काटते हैं। तथापि परिश्रमी, सचेष्ट और ज्ञान-पिपासु सम्पादक, विशेष शिक्षित और अनुभवशील न होने पर भी, अपनी और अपने पत्र की बहुत कुछ उन्नति कर सकते हैं। सम्पादक को इन शास्त्रों और इन विषयों का ज्ञान अवश्य होना चाहिए:—इतिहास, सम्पत्ति शास्त्र, राष्ट्र-विज्ञान, समाज-तत्त्व, व्यवस्था-विज्ञान (Jurisprudence), अपराध-तत्त्व (Criminology), अनेक लौकिक और वैषयिक व्यापारों का सख्या-सम्बन्धी शास्त्र (Statistics), पौर और जानपद वर्गों के अधिकार और कर्त्तव्य,

अनेक देशों की शासन-प्रणाली, शान्ति-रक्षा और स्वास्थ्य-रक्षा का विवरण, शिक्षा-पद्धति और कृषि-वाणिज्य आदि का वृत्तान्त। देश का स्वास्थ्य किस तरह सुधर सकता है; कृषि, शिल्प और वाणिज्य की उन्नति कैसे हो सकती है; शिक्षा का विस्तार और उत्कर्ष-साधन कैसे किया जा सकता है; किन उपायों के अवलम्बन से हम राष्ट्र-सम्बन्धी नाना प्रकार के अधिकार पा सकते हैं; सामाजिक कुरीतियों को किस प्रकार दूर कर सकते हैं—इत्यादि अनेक विषयों पर सम्पादकों को लेख लिखने चाहिएँ। सम्पादक होने ही से कोई सर्वज्ञ—सब विषयों का ज्ञाता—नहीं हो सकता। सब विषय तो दूर रहें, दो-चार विषयों का भी यथेष्ट ज्ञान प्राप्त करना दुःसाध्य बात है। अतएव यदि एक एक सम्पादक एक ही विषय का चूडान्त ज्ञान प्राप्त करके उसी पर लेख लिखे तो बहुत लाभ हो। इस समय दशा यह है—सम्पादक रोज ही पाठकों से कहा करते हैं, यह न करो, वह न करो, ऐसा न करो, वैसा न करो। परन्तु यदि पाठक उनसे पूछ बैठें कि अच्छा आप ही बताइए कि अमुक काम किस तरह किया जाय, तो वे बेचारे विपत्ति में पड़ जायँ। अतएव सम्पादन-कार्य्य की वर्तमान प्रणाली में परिवर्तन की आवश्यकता है।

समालोचना का काम भी प्रायः सम्पादक ही करते हैं। समालोचना से मतलब पुस्तकों की समालोचना से है। कभी कभी और लोग भी आलोचना करते हैं। यह काम बड़ा कठिन है। परन्तु समालोचक अपने को प्रायः सर्वज्ञ समझते हैं और हर विषय की पुस्तक की समालोचना करने से ज़रा भी नहीं हिचकते। लेखक की अपेक्षा समालोचक यदि अधिक विद्वान् है तो और भी अच्छी बात है। तथापि यदि वह समालोच्य पुस्तक के विषय का यथेष्ट ज्ञान रखता है, तो भी वह समालोचना का काम कर सकता है। ऐसी योग्यता न रखनेवाले भी कभी कभी अच्छी समालोचना कर सकते हैं। कल्पना कीजिए कि किसी को किसी अच्छे काव्य की आलोचना लिखना है। वह स्वयं तो कवि नहीं, पर अन्य

अनेक काव्यों का रसास्वादन उसने किया है तथा श्रेष्ठ समालोचकों की समालोचनायें उसने पढ़ी हैं। इस दशा में यदि वह उस काव्य की विचार-पूर्वक आलोचना करना चाहे तो कर सकता है। मित्रता के कारण किसी की पुस्तक की अनुचित प्रशंसा करना विज्ञापन देने के सिवा और कुछ नहीं। ईर्ष्या, द्वेष अथवा शत्रु-भाव के वशीभूत होकर किसी की कृति में अमूलक दोषोद्भावना करना उससे भी बुरा काम है। एक प्रकार की और भी समालोचना होती है। उसे पाण्डित्य-सूचक या पण्डिताई दिखानेवाली समालोचना कह सकते हैं। समालोचक ऐसी समालोचना में विशेष कर यही दिखाता है कि लेखक ने व्याकरण की भूलें की हैं, अलङ्कार शास्त्र की भूलें की हैं, छन्दःशास्त्र की भूलें की हैं, मुहावरे की भूलें की हैं। वह यह नहीं देखता कि इन बातों के सिवा और भी कोई बात है या नहीं जिसकी समालोचना होनी चाहिए। छन्द, अलङ्कार, व्याकरण आदि तो गौण बातें हुईं। इन्हीं पर ज़ोर देना अविवेकता-प्रदर्शन के सिवा और कुछ नहीं। व्याकरण आदि की भूलें होतीं किससे नहीं? अँगरेज़ी, फारसी, अरबी, संस्कृत आदि भाषाओं के बड़े बड़े विद्वानों ने क्या इस तरह की भूलें नहीं कीं? पर इससे क्या उनके ग्रन्थों की प्रतिष्ठा कुछ कम हो गई है? किसी पुस्तक या प्रबन्ध में क्या लिखा गया है, किस ढंग से लिखा गया है, वह विषय उपयोगी है या नहीं, उससे किसी का मनोरञ्जन हो सकता है या नहीं, उससे किसी को लाभ पहुँच सकता है या नहीं, लेखक ने कोई नई बात लिखी है या नहीं, यदि नहीं तो उसने पुरानी ही बात को नये ढंग से लिखा है या नहीं—यही विचारणीय विषय हैं। समालोचक को प्रधानतः इन्हीं बातों पर विचार करना चाहिए। लेखक ने अपने लेख या अपनी पुस्तक को जिस उद्देश्य से लिखा है, वह यदि सिद्ध होता है तो समझना चाहिए कि उसने अपने कर्तव्य का पालन कर दिया। केवल अवान्तर बातों की समालोचना करना और बाल की खाल निकालना समालोचना नहीं कही जा सकती।

लेखकों को सरल और सुबोध भाषा में अपना वक्तव्य लिखना चाहिए। उन्हें वागाडम्बर द्वारा पाठकों पर यह प्रकट करने की चेष्टा न करनी चाहिए कि वे कोई बड़ी ही गम्भीर और बड़ी ही अलौकिक बात कह रहे हैं। इस प्रकार की जटिल भाषा को अनेक पाठक और समालोचक उच्च श्रेणी की भाषा कहते हैं। जिस रचना में संस्कृत के सैकड़ों क्लिष्ट शब्द हों; जिसमें संस्कृत के अनेकानेक वचन और श्लोक उद्धृत हों; जिसमें योरप तथा अमरीका के अनेक देशों, पण्डितों और लेखकों के नाम हों; जिसमें अँगरेज़ी नाम, शब्द और वाक्य अँग्रेज़ी ही अक्षरों में लिखे हों—उस रचना को लोग बहुधा पाण्डित्यपूर्ण समझते हैं। परन्तु यह गुण नहीं, दोष है। हिन्दी में यदि कुछ लिखना हो तो भाषा ऐसी लिखनी चाहिए जिसे केवल हिन्दी जाननेवाले भी सहज ही में समझ जायँ। संस्कृत और अँगरेजी शब्दों से लदी हुई भाषा से पाण्डित्य चाहे भले ही प्रकट हो, पर उससे ज्ञान और आनन्द-दान का उद्देश्य अधिक नहीं सिद्ध हो सकता। यदि एक मात्र पाण्डित्य ही दिखाने के उद्देश्य से किसी लेख या पुस्तक की रचना न की गई हो तो ऐसी भाषा का प्रयोग करना चाहिए जिसे अधिकांश पाठक समझ सकें। तभी रचना-कार का उद्योग सफल होगा—तभी उससे पढ़नेवालों के ज्ञान और आनन्द की वृद्धि होगी।

इस सम्बन्ध में बँगला के मासिक पत्र "प्रवासी" में दो तीन नोट बहुत अच्छे निकले हैं। उन्हीं का आशय लेकर यह नोट लिखा गया है। प्रवासी के सम्पादक के विचारों से इस नोट का लेखक सर्वांश में सहमत है।

[जुलाई १९१५.

बंगाल में हिन्दी-शिक्षा की आवश्यकता

भारतवर्ष के एक प्रदेश के शिक्षित लोगों को यदि दूसरे प्रदेश के शिक्षित लोगों से बात-चीत या पत्र-व्यवहार करना पड़ता है तो अँगरेजी में करना पड़ता है। अनेक स्थलों में ऐसा करना अनिवार्य्य है—अँगरेज़ी का सहारा लिये बिना कार्य्य-निष्पत्ति का और कोई साधन ही नहीं। हम इसकी निन्दा नहीं करते। किन्तु यदि हम किसी देशी भाषा के सहारे यह काम करते तो देश के लिए और भी अच्छा होता; आनन्द की प्राप्ति भी अधिक होती। कल्पना कीजिए कि हम किसी अन्य प्रान्त में किसी गृहस्थ के अतिथि हुए। इस दशा में यदि हम उसी की मातृ-भाषा में बात-चीत कर सकें तो उसके साथ जितनी घनिष्ठता और हृद्यता का होना सम्भव है, उतना अँगरेज़ी में बात-चीत करने से सम्भव नहीं। केवल हिन्दी सीख लेने से हम उत्तरी भारत में सभी कहीं अपना काम बहुत कुछ चला सकते हैं। राजपूताना, मध्य भारत, यहाँ तक कि अधिकांश महाराष्ट्र प्रान्त में भी हिन्दी द्वारा काम चल जाता है। शिक्षित बंगालियों के लिए हिन्दी सीख लेना बहुत ही सहज है। दो ही तीन महीने पढ़ने से काम चलाने लायक हिन्दी सीखी जा सकती है। हम केवल उन्हीं को शिक्षित नहीं समझते जिन्होंने अँगरेज़ी में शिक्षा पाई है। जो लोग केवल बँगला जानते हैं, और बँगला ही की उत्तमोत्तम पुस्तकें और सामयिक पत्र पढ़ते हैं, उन्हें कुछ कम शिक्षा-प्राप्ति नहीं होती। इसके सिवा संस्कृत-पाठशालाओं के अध्यापकों और ऊँचे दरजे के विद्यार्थियों को भी हम शिक्षित ही समझते हैं। इस प्रकार के सभी तरह के शिक्षित लोग दो तीन महीने में बहुत कुछ हिन्दी सीख सकते

हैं। हाँ, हिन्दी में विशेष विज्ञ होने के लिए अवश्य ही बहुत दिनों तक लगातार उसे सीखना चाहिए।

यह बात नहीं कि केवल बात-चीत करने और चिट्ठी-पत्री लिखने के लिए ही हिन्दी सीखना चाहिए। आधुनिक हिन्दी साहित्य में विशेष उत्कृष्ट ग्रन्थ न होने पर भी पढ़ने लायक कितने ही ग्रन्थ लिखे जा चुके हैं और लिखे जा रहे हैं। किन्तु प्राचीन हिन्दी साहित्य में अनेक अमूल्य रत्न विद्यमान हैं। धार्म्मिक साहित्य के लिए भारतवर्ष बहुत विख्यात है। यह सारा का सारा धर्म्म-साहित्य एक-मात्र संस्कृत और पाली भाषा ही में नहीं है। तामील, तिलेगू, मराठी, गुजराती, हिन्दी, गुरमुखी, बँगला आदि भाषाओं के धर्म्म-साहित्य में भी भारत के आध्यात्मिक ऐश्वर्य का अवस्थान है। मीराबाई, कबीर, दादू, तुलसीदास, हरिदास, गरीबदास, सूरदास आदि के द्वारा रचित गीत, पद और उपदेशमाला धर्म्म-पिपासु जनों के आदर की चीज़ें हैं। केवल यही चीज़ें पढ़ लेने से हिन्दी सीखने का श्रम सफल हो सकता है। किन्तु इन महात्माओं की रचना प्रचलित हिन्दी में नहीं। तथापि, हिन्दी में कुछ दूर तक प्रवेश हो जाने पर इनके ग्रन्थ भी समझ में आ सकते हैं।

दो परिवारों के स्त्री-पुरुषों में यदि आलाप, परिचय और बन्धुत्व स्थापित हो जाय, तभी यह कहा जा सकेगा कि उनमें परस्पर घनिष्ठता है। भारत के भिन्न-भिन्न प्रदेशों और प्रान्तों के विषय में भी यही बात है। भिन्न-भिन्न प्रदेशों के अँगरेज़ी शिक्षित पुरुष यदि अँगरेज़ी ही में परस्पर गिट-पिट करें तो उतने ही से वे एक-जातीयता के सूत्र से बद्ध नहीं हो सकते। अँगरेज़ी पढ़ी-लिखी दो चार स्त्रियाँ यदि परस्पर अँगरेज़ी में बात-चीत करें तो उससे भी विशेष लाभ की सम्भावना नहीं। देश-भाषा के सहारे यदि उनमें सखी-भाव की स्थापना हो, तभी राष्ट्रीय-परिवार भाव का उदय हो सकेगा और तभी भिन्न प्रान्त-वासियों में घनिष्ठता की उत्पत्ति भी हो सकेगी। स्त्रियों में अँगरेज़ी शिक्षा का

विस्तार बहुत ही कम है। अतएव यह सम्भव नहीं कि अँगरेज़ी में बात-चीत और भाव-विनिमय द्वारा वे एक-जातित्व की सृष्टि कर सकें। बङ्गालियों की स्त्रियों के लिए हिन्दी सीखना और हिन्दी बोलनेवाली स्त्रियों के लिए बँगला सीखना अपेक्षा-कृत सहज है। हमारी स्त्रियों के लिए हिन्दी जानना बहुत आवश्यक है। हिन्दी जानने से शिक्षिता वङ्ग-महिलाओं की कार्य्य-कारिता भी बहुत बढ़ सकती है। बङ्गाल में अनेक अध्यापिकाओं की आवश्यकता है। हिन्दुस्तान (उत्तरी भारत) में तो उससे भी अधिक है। उत्तरी भारत और पञ्जाब से हम लोगों के पास अध्यापिकाओं के लिए बहुधा पत्र आया करते हैं। जो स्त्रियाँ इन प्रान्तों में अध्यापन-कार्य्य करने जायँगी, उनके लिए हिन्दी जानना बहुत ही आवश्यक है *।

बँगला के मासिक पत्र "प्रवासी" से अनुवादित।

[सितंबर १९१५.

---

* प्रवासी-सम्पादक के कथन से हम सम्पूर्ण सहमत हैं। आपकी न्यायशीलता सर्वथा प्रशंसनीय है। आशा है, बङ्गाली महाशय हिन्दी सीख कर राष्ट्रीय भाव के उदय और विस्तार की चेष्टा करेंगे और हिन्दी से विरुद्धाचरण करना छोड़ देंगे।—लेखक।

अँगरेज़ी भाषा का एक नया कोश

अँगरेज़ी भाषा का साहित्य बहुत उन्नत दशा में है। उसमें कितने कोश—और बहुत बड़े बड़े कोष—विद्यमान हैं। जानसन, वरसेस्टर, वेब्स्टर आदि के लिखे हुए कोश-ग्रन्थों को देखकर उनकी महत्ता पर आश्चर्य होता है। अजस्र परिश्रम करने और दस-दस बीस-बीस साल तक काम में निरन्तर लगे रहने पर कहीं ये लोग अपने कोश लिख पाये। तिस पर भी ये कोश पूरे और विश्वसनीय नहीं समझे गये। एक निर्दोष कोश की आवश्यकता फिर भी बनी ही रही। सर जेम्स मरे नामक विद्वान् ने इस आवश्यकता की प्रायः पूर्ति करके, ७८ वर्ष की उम्र में, २७ जुलाई १९१५ को, परलोक यात्रा की। इस कोश का नाम है—न्यू इँगलिश डिक्शनरी, अर्थात् अँगरेज़ी भाषा का नया कोश। इस कोश का काम एक साहित्य-सभा ने १७५७ ईसवी में शुरू किया था। उसके प्रबन्ध से लगातार २१ वर्ष तक शब्द-संग्रह होता रहा। प्रत्येक शब्द के कितने अर्थ होते हैं और उन अर्थों में उसका किस किस ने व्यवहार किया है, यह जानने के लिए काग़ज़ के अलग टुकड़ों पर नामी नामी ग्रन्थकारों के ग्रन्थों से अवतरण दिये गये। इन सब काग़ज़ों का वज़न कोई ५५ मन हुआ! १८७८ ईसवी में यह काम डाक्टर मरे को सिपुर्द किया गया। उन्होंने ग्रेट-ब्रिटन और अमेरिका के शिक्षित जन-समुदाय से सहायता माँगी। हज़ारों आदमियों ने उनकी प्रार्थना पर कोई दस ग्यारह लाख काग़ज़ के टुकड़ों पर शब्दों की उत्पत्ति, इतिहास और अर्थ लिख लिख कर भेजा। १५०० ईसवी के पहले की प्रत्येक पुस्तक और उसके बाद की प्रत्येक महत्व-पूर्ण पुस्तक पढ़ कर शब्दों का संग्रह किया गया। यह सब सामग्री

प्रस्तुत हो जाने पर कोश-रचना का काम शुरू हुआ। प्रधान सम्पादक सर जान मरे की सहायता के लिए कोई बीस उप-सम्पादक नियत हुए। तब कहीं, ३६ वर्ष में, यह काम पूरा हो सका; सो भी अभी कुछ बाकी है। इससे यह सहज ही अनुमान किया जा सकता है कि विश्वसनीय और पूरा शब्द-कोश बनाना कितने श्रम, कितने धैर्य्य, कितने व्यय और कितनी विद्वत्ता का काम है।

[दिसम्बर १९१५.

बङ्गाल और बिहार की भाषा

डाक्टर ग्रियर्सन की राय है कि मागधी प्राकृत से चार भाषायें उत्पन्न हुईं—बिहारी, बँगला, उड़िया और आसामी। आप बिहार की भाषा को हिन्दी नहीं कहते, बिहारी कहते हैं। इसलिए कि उसकी प्रकृति हिन्दी से भिन्न है; वह बँगला से अधिक मिलती है, हिन्दी से कम। यह दुःख की बात है। बिहारवालों की भाषा की उत्पत्ति चाहे जिस भाषा से हो और उसकी प्रकृति चाहे जैसी हो, बात यह है कि इस समय के शिक्षित और अधिकांश अशिक्षित बिहारी बोलते कैसी भाषा हैं। यदि उनकी वर्तमान साधु अथवा ग्राम्य भाषा अधिकांश में हिन्दी से मिलती हो तो बँगला बोलनेवालों को कोई अधिकार नहीं कि वे उसे अपनी भाषा की तरफ़ खींचने की चेष्टा करें। अमेरिका में अनेक देशों के लोग बस गये हैं। उनके पूर्वजों की भाषा कुछ और थी। पर अब वे सब अँगरेज़ी ही बोलते हैं। क्या फ्रांस, जर्मनी या इटलीवाले ऐसे लोगों को, उनके बोलने की भाषा में थोड़ा-बहुत भेद देखकर, अपनी भाषा की ओर खींचने की चेष्टा करते हैं? और यदि करें भी तो क्या कभी उन्हें सफलता प्राप्त हो सकती है? सजीव भाषाओं में, प्राकृतिक नियमों के आधार पर, परिवर्तन हुआ ही करता है। इस परिवर्तन के कारण परिवर्तित भाषा बोलनेवालों को, आदिम भाषा या उसकी कोई उन्नत शाखा बोलनेवाले लोग बलात् या खुशामद से अपनी भाषा की ओर नहीं प्रवृत्त कर सकते। वे तो उसी ओर जायँगे जिधर प्रकृति ले जायगी। इस बात को बँगला के मासिक पत्र, "प्रवासी" के सम्पादक जानते हैं। इसी से आप कहते हैं—"बँगला को बिहार की कथित भाषा बनाने की चेष्टा की जाय, यह हम नहीं कहते। ऐसी चेष्टा के फलवती होने की सम्भावना नहीं"। तथापि आप कहते हैं कि बाँकीपुर के अगले बङ्ग-साहित्य-सम्मेलन में इस बात

की चर्चा होनी चाहिए कि बिहार की बोली बँगला से अधिक मिलती है। अतएव स्वाभाविक यह था कि वहाँ की किताबी भाषा बँगला होती। हिन्दी क्यों हुई? खैर; हिन्दी हो गई तो हो गई। अब बङ्गालियों को ऐसी चेष्टा करनी चाहिए कि बिहार में बँगला साहित्य का विशेष प्रचार हो। इससे दोनों प्रान्तों में एकता की वृद्धि होगी। आपके कथन का यही सार है। अच्छा। यदि पिछली बात बङ्गाली करें तो बिहारवालों की कोई हानि नहीं। बिहारवाले ही क्यों, अन्य प्रान्तवाले भी तो स्वयं ही बँगला साहित्य से परिचय प्राप्त करने का प्रयत्न वृद्धिंगत कर रहे हैं। बँगला के उन्नत साहित्य से लाभ उठाना अन्य प्रान्तवालों का काम ही है। पर गड़े मुर्दे उखाड़ने की हमें कोई ज़रूरत नहीं दिखाई देती। बिहारी यदि कहें कि मागधी हमारे देश की पुरानी भाषा है; बँगला उससे उत्पन्न है; अतएव उत्पत्ति के लिहाज़ से बिहारी हिन्दी ही प्रधान ठहरी; तो इस दशा में स्वभाविक यही था कि वङ्ग-देशवासी बिहारियों ही की भाषा को अधिक मान देते। पर उन्होंने ऐसा नहीं किया; अपनी भाषा को मान दिया। आओ, देखें तो बँगला भाषा क्यों, किस तरह, और किसके द्वारा मागधी से पृथक् हो गई—हमारी भाषा एक तरह की हो गई, बङ्गालवालों की और तरह की। भाषा-शास्त्र की दृष्टि से इस तरह की चर्चा से चाहे भले ही कुछ लाभ हो, और कुछ नहीं हो सकता। इस तरह की चर्चा से उन्नत-भाषा-भाषियों के हृदय में अहंभाव की उत्पत्ति हो सकती है, जो एकता की वर्द्धक नहीं, विघातक है। उड़िया और आसामी भाषायें तो बँगला से बिहारी हिन्दी की भी अपेक्षा अधिक मिलती हैं। उनके सम्बन्ध में ऐसी चर्चा कभी नहीं हुई। फिर बिहारी-हिन्दी के विषय में ही क्यों? यों ही बङ्गालियों और बिहारियों में सद्-भाव नहीं। भाषा-पचड़ा छेड़ कर उस बुरे भाव की वृद्धि करना उदारता-सूचक नहीं।

[जनवरी १९१७.

अमृत-बाज़ार-पत्रिका की पूर्व-कथा

अमृत-बाजार-पत्रिका एक नामी अख़बार है। वह कलकत्ते से अँगरेजी में दैनिक निकलता है। उसका एक साप्ताहिक संस्करण भी प्रकाशित होता है। उसके प्रधान सम्पादक और आंशिक स्वामी बाबू मोतीलाल घोष पर कलकत्ते की हाईकोर्ट में एक दीवानी मुकद्दमा चला था। यह गत फरवरी महीने की बात है। उनके कुटुम्ब की किसी स्त्री ने उन पर, पत्रिका-अख़बार और पत्रिका-प्रेस की सम्पत्ति के विषय में, यह मुक़द्दमा दायर किया था। इस मुक़द्दमे के दौरान में, हाई कोर्ट में, मोती बाबू ने अपने बयान में पत्रिका की जो पूर्व-कथा सुनाई, वह बड़े महत्त्व की है। उससे प्रकट है कि उद्योगशील, परिश्रमी और सुयोग्य पुरुष किस प्रकार अपने काम में सफलता-प्राप्ति कर सकता है और किस प्रकार, पास रुपया न होने पर भी, अपनी साख के बल पर धन एकत्र करके एक बहुत बड़ी जायदाद पैदा कर सकता है।

ये लोग चार भाई थे—शिशिरकुमार घोष, हेमन्तकुमार घोष, बसन्तकुमार घोष और मोतीलाल घोष। बसन्तकुमार की मृत्यु के बाद, १८६८ ईसवी के मार्च महीने में, हेमन्तकुमार और मोतीलाल ने अमृत-बाज़ार-पत्रिका, बँगला में, निकाली। पास से इन लोगों ने एक कौड़ी भी इस काम में न लगाई। जैसोर के कुछ देश-भक्त सज्जनों से रुपया इकट्ठा करके इन्होंने पत्रिका को अमृत-प्रवाहिनी प्रेस से साप्ताहिक प्रकाशित करना आरम्भ किया। यह प्रेस लकड़ी का था और पुराना था। ढाई वर्ष चल कर पत्रिका बन्द हो गई। कारण यह हुआ कि उसके लेखक और प्रिंटर पर मान-हानि का एक मुकद्दमा चला। जिस लेख के

कारण यह हुआ, उसे शिशिरकुमार ने छापा और वसन्तकुमार ने लिखा था। इस मुक़द्दमे की पैरवी के लिए तीनों भाइयों को बहुत रुपया क़र्ज़ लेना पड़ा। मुक़द्दमे से छुटकारा पाने पर प्रेस बेच डाला गया। फिर ये लोग अपना गाँव, अमृत-बाजार, छोड़ कर कलकत्ते चले आये। वहाँ थोड़ा सा अधिक सुभीता हो जाने पर, मार्च १८७२ से, फिर उन्होंने अमृत-बाजार-पत्रिका निकाली। पास रुपया न होने के कारण एक साल तक ये उसे एक किराये के प्रेस पर छापते और बहू-बाज़ार की हृदयराम बैनर्जी की गली से निकालते रहे। १८७३ में इन तीनों भाइयों ने बाबू जानकीनाथ राय से ७०० रुपया उधार लिया और अपना निज का प्रेस ख़रीदा। तब पत्रिका उसी पर छपने लगी।

कलकत्ते आने पर पत्रिका रही तो साप्ताहिक ही, पर उसका रूप बदल दिया गया। अब उसका कुछ अंश अँगरेज़ी और कुछ बँगला में निकलने लगा। इस समय आल्फ्रेड स्मिथ नाम के एक साहब ने ८०० रुपये दिये और वे भी पत्रिका और प्रेस में शरीक हो गये। नाम प्रेस का हुआ— स्मिथ-कम्पनी का प्रेस। १८७४ के शुरू में स्मिथ ने कहा—मेरा रुपया दे दो; मैं इस व्यवसाय में शरीक नहीं रहना चाहता। वैसा ही किया गया। चिनसुरा के बाबू अक्षयचन्द्र सरकार से कुछ रुपया उधार लेकर स्मिथ का पावना भुगता दिया गया। तब ये लोग प्रेस को बहू-बाज़ार से बाग-बाज़ार ले गये और वहीं से पत्रिका निकालने लगे। प्रेस के लिए और भी कुछ रुपया उधार लिया गया।

१८७८ ईसवी तक पत्रिका पूर्ववत् अँगरेज़ी और बँगला में निकलती रही। बँगला विभाग का काम हेमन्तकुमार के सिपुर्द रहा और अँगरेज़ी का शिशिरकुमार और मोतीलाल के सिपुर्द। इतने में प्रेसऐक्ट "पास" हुआ। तब लाचार होकर घोष-भाइयों ने बँगला अंश निकाल कर पत्र को एक मात्र अँगरेज़ी में प्रकाशित करना आरम्भ किया। अब हेमन्तकुमार ख़ाली हो गये। वे अँगरेजी न लिख सकते थे। इस कारण

पास ही के एक और मकान से वे आनन्द-बाज़ार-पत्रिका, बँगला में, निकालने लगे। वह कारोबार ही अलग कर दिया गया। उसमें रुपया भी हेमन्तकुमार ही ने लगाया; शिशिरकुमार और मोतीलाल का कुछ ख़र्च न हुआ।

इस समय प्रेस और पत्रिका की जायदाद में शिशिरकुमार का अंश ९ और मोतीलाल का ७ आने था। १८८२ में गुलाबलाल घोष ने २००० रुपये लगाये। तब वे भी तीन आने के हिस्सेदार हुए। शिशिरकुमार और मोतीलाल ने डेढ़ डेढ़ आना अपने हिस्से से उन्हें दे दिया। १८८९ में मृणालकान्ति घोष भी ३ आने के शरीक हुए। तब शिशिरकुमार का ५½ और मोतीलाल का ४½ आना रह गया।

अब, अमृत-बाज़ार-पत्रिका, सुनते हैं, एक कम्पनी की जायदाद है और ख़ूब उन्नत अवस्था में है।

[अप्रैल १९१७.

उपमा की व्यापकता

अप्पय दीक्षित नाम के एक नामी पण्डित हो गये हैं। संस्कृत भाषा में प्रणीत, आपके अनेक ग्रन्थ प्रचलित हैं। अलङ्कार-शास्त्र पर आपके लिखे हुए दो तीन ग्रन्थ हैं। आपकी राय है कि ब्रह्मज्ञान की प्राप्ति हो जाने पर इस विस्तृत विश्व का ज्ञान सहज ही में जैसे हो जाता है, वैसे ही अकेले उपमालङ्कार का सम्यक् ज्ञान हो जाने से अन्य अलंकारों का रहस्य ज्ञात हो जाने में विशेष बाधा नहीं आती। उपमा सर्वश्रेष्ठ अलङ्कार है। भिन्न-भिन्न शब्दार्थों की भूमिका ग्रहण करके, अनेक वेष-धारणपूर्वक, काव्य रूपी रङ्ग-मञ्च पर वही अपना नाच दिखाती और रसिकों के हृदयों का रञ्जन करती है। इस बात पर यदि किसी को विश्वास न हो तो, अप्पय दीक्षित के दिखाये उपमा के करिश्मे स्वयं ही देख ले। यथा—

(१) मुख चन्द्रमा के सदृश है—इस प्रकार का सादृश्य-वर्णन उपमालङ्कार है। उक्ति-भेद से अब इसी उपमा का बहुरूपिया-पन देखिए—

(२) चन्द्रमा के सदृश मुख है; और मुख के सदृश चन्द्रमा है—यह उपमेयोपमालङ्कार है।

(३) मुख मुख ही के सदृश है—यह अनन्वयालङ्कार है।

(४) चन्द्रमा मुख के सदृश है—यह प्रतीपालङ्कार है।

(५) चन्द्रमा को देख कर मुख का स्मरण होता है—यह स्मरणालङ्कार है।

(६) मुख ही चन्द्रमा है—यह रूपक है।

(७) मुख-चन्द्र से सन्ताप शान्त होता है—यह परिणामालङ्कार है।

(८) क्या यह मुख है या चन्द्रमा ?—यह सन्देहालङ्कार है।

(९) चन्द्रमा समझ कर मुख की ओर चकोर दौड़ पड़ते हैं—यह भ्रान्तिमान् अलङ्कार है।

(१०) मुख को चकोर तो चन्द्रमा और चंचरीक कमल समझते हैं—यह उल्लेखालङ्कार है।

(११) मुख नहीं, यह तो चन्द्रमा है—यह अपह्नुति नाम का अलङ्कार है।

(१२) चकोर चन्द्रमा पर और मैं उस मुख पर अनुरक्त हूँ—यह प्रतिवस्तूपमालङ्कार है।

(१३) आकाश में चन्द्रमा, भूमि पर वह मुख—यह दृष्टान्तालङ्कार है।

(१४) मुख चन्द्रमा की शोभा को धारण कर रहा है—यह निदर्शनालङ्कार है।

(१५) निष्कलङ्क मुख चन्द्रमा से अधिक विशेषता रखता है—यह व्यतिरेकालङ्कार है।

(१६) मुख के आगे चन्द्रमा निष्प्रभ है ("मुखस्य पुरतश्चन्द्रो निष्प्रभः")—यह अप्रस्तुत प्रशंसा है।

दीक्षित जी ने तो भूमिका-भेद से उपमा के और भी नाच दिखाये हैं, पर हमने नमूने के तौर पर उनमें से कुछ ही का निदर्शन यहाँ पर किया है। दीक्षित जी अलङ्कार-शास्त्र के बड़े भारी ज्ञाता थे। पहले तो आपने जयदेव कवि के चन्द्रालोक नामक ग्रन्थ को आधार मान कर अलङ्कार-शास्त्र पर एक ग्रन्थ लिखा और उसका नाम रक्खा कुवलयानन्द। उसमें आपने इस शास्त्र से सम्बन्ध रखनेवाली बड़ी बड़ी बारीकियाँ बताई हैं। कवियों की उक्तियाँ ढूँढ़-ढूँढ़ कर आपने कहीं-कहीं ऐसी

बाल की खाल खींची है कि पढ़ कर बड़ा कुतूहल होता है। "मुख इव चन्द्र" एक बात हुई। "मुख एव चन्द्र" और ही बात हो गई। 'इव' की जगह 'एव' हो जाने से आकाश-पाताल का अन्तर हो गया। पर जहाँ बहुत ही कम अन्तर है, वहाँ भी आप शास्त्रार्थ करने और नये-पुराने मतों का तारतम्य बताने से नहीं चूके। कितने ही अलङ्कारों के दो-दो, तीन-तीन, चार-चार—यत्र-तत्र इससे भी अधिक भेद बता कर बेतरह बाल का बतङ्गड़ किया है, जिसे देख कर अक्ल चकरा जाती है। पर इसे दोष न समझिए। उस ज़माने में यह गुण समझा जाता था।

इतना कर के भी दीक्षित जी को सन्तोष न हुआ। तब आपने चित्र-मीमांसा नाम का एक और ग्रन्थ लिखना आरम्भ किया। उसमें आपने काव्य के तीन भेद किये—ध्वनि, गुणीभूतव्यंग्य और चित्र। पहले दो को तो आपने छोड़ दिया, पिछले अर्थात् चित्र की मीमांसा पर लेखनी उठाई। मनुष्य के हृद्गत-विकारों का चित्र शब्दार्थ द्वारा प्रकट करना भी एक प्रकार का चित्र है। इसी से आपने इसे भी काव्य का एक भेद माना। जिस उक्ति में न तो ध्वनि हो, न गुणीभूत-व्यंग्य ही हो, पर हो वह सुन्दर ('चारु'), वही चित्र है। आपने उसके भी तीन भेदों की कल्पना की—शब्दचित्र, अर्थचित्र, उभयचित्र। इन्हीं तीनों भेदों का आश्रय लेकर, आपने फिर उसी निज-कृत कुवलयानन्द के अलङ्कारों की मीमांसा, नये ढंग से, विस्तार के साथ, आरम्भ कर दी। परन्तु किसी कारण से आपका यह ग्रन्थ पूरा न हो सका। अतिशयोक्ति नाम के अलङ्कार ही की मीमांसा तक रह गया। यह भी सम्भव है कि उन्होंने इस ग्रन्थ को पूर्ण कर दिया हो, पर पूरा अप्राप्य हो गया हो। काव्यमाला में तो वह अपूर्ण ही प्रकाशित हुआ है।

[जनवरी १९२२.

हिन्दी में विज्ञान-विषयक पुस्तकों की आवश्यकता

प्रत्येक देश में प्रायः समय के अनुकूल ही पुस्तक-रचना हुआ करती है। जैसा समय आता है, साहित्य भी वैसा ही बनता है। हिन्दी-भाषा-भाषी प्रान्तों में एक समय था जब लोगों की रुचि श्रृङ्गार रस ही की ओर अधिक थी। तब वैसी ही पुस्तकों और वैसी ही कविताओं की क़द्र थी। पुरानी पुस्तकों के संस्करण यदि निकलते थे तो श्रृङ्गार रस-प्रधान पुस्तकों ही के निकलते थे। ज़माने ने पलटा खाया तो जासूसी उपन्यासों का दौर-दौरा आया। जिधर देखो, उधर ऐसे ही उपन्यास निकलने लगे। पुस्तकालयों में, वाचनालयों में, नवयुवकों की बैठकों में उन्हीं के आधिपत्य की दुन्दुभि बजने लगी। तरुण ही नहीं, अल्पवयस्क भी, ज़रूरी भी काम छोड़कर, इन्हीं के मद से मत्त रहने लगे। इस कुरुचि से जो पिण्ड छूटा तो देश-भक्ति, जातीयता, असहयोग, साम्यवाद और चरखे ने और सब विषयों को बहुत कुछ दबा दिया। अब पुस्तकें निकलती हैं तो प्रायः इन्हीं विषयों की; ग़ज़लें, गाने और तराने छिड़ते हैं तो भी प्रायः इन्हीं विषयों के। समस्यापूर्त्तियाँ की जाती हैं या कवितायें लिखाई जाती हैं तो भी प्रायः इन्हीं विषयों की। समाचार-पत्रों और सामयिक पुस्तकों में तो इस प्रकार की कविताओं और लेखों का तूफ़ान सा आ रहा है। उपन्यासों और किस्से-कहानियों तक में राजनीति और देश-प्रीति के दाँव-पेच दिखाये जाते हैं। भिन्न भाषाओं के उपन्यासों के अनुवाद की यदि ठहरती है तो ऐसे ही उपन्यास बहुत करके चुने जाते हैं जो इस समय की हवा के अनुकूल हों। मनुष्य की इस प्रवृत्ति को रोकना सम्भव नहीं।

समय के अनुसार जैसे और बातें होती हैं, वैसे ही साहित्य भी उसका अनुसरण करता है।

पर इस तरह की प्रवृत्ति से साहित्य में एकाङ्गी भाव आ जाता है—उसमें एक-देशीयता आ जाती है। यह एकाङ्गी भाव हद से अधिक बढ़ जाय तो साहित्य को हानि पहुँचती है। उसके अन्यान्य अङ्ग अपुष्ट रह जाते हैं। किसी एक ही प्रकार के ज्ञान की विशेष चर्चा या अर्जना होने से और प्रकार के ज्ञानों की वृद्धि नहीं होती। जातीयता ही के नशे में यदि सभी चूर हो जायँगे तो और बातों को वे ज़रूर ही भूल जायँगे। और, न भी भूलेंगे तो उनमें उन्नति तो जरूर ही न कर सकेंगे। देश या जाति के लिए यह बात अभीष्ट नहीं। उन्नति, कमोबेश, सर्वाङ्गीण होनी चाहिए।

सभी समझदार आदमियों की राय है, और उनकी यह राय सच भी है, कि पश्चिमी देशों ने जो इतनी उन्नति की है, उसके कारणों में एक कारण विज्ञान का अनुशीलन भी है। विज्ञान ही की बदौलत वे कितनी ही बातों में अन्य देशों से बढ़ गये हैं। पर इस इतने महत्त्वशाली विज्ञान ही की ओर हम लोगों का दुर्लक्ष्य सबसे अधिक है। अँगरेजी भाषा में तो विज्ञान-विषयक अनन्त ग्रन्थ-राशि मौजूद है। भारत की बँगला, गुजराती और मराठी आदि कितनी ही प्रान्तीय भाषाओं में भी इस विषय की बहुत सी छोटी-मोटी पुस्तकें प्रकाशित हो चुकी हैं और होती जा रही हैं। पर जो हिन्दी राष्ट्र-भाषा होने का दावा कर रही है उसमें, बताइए, कितनी वैज्ञानिक पुस्तकें आज तक प्रकाशित हुई हैं। देहाती स्कूलों ही के नहीं, अँगरेज़ी के हाई स्कूलों के भी लड़कों को यह न मालूम होगा कि प्राणि-विद्या किस चिड़िया का नाम है। हमारे सामने नीम का पेड़ खड़ा है। पर हम नहीं जानते कि किन नियमों के अनुसार उसका पोषण होता है, वह बढ़ता है और पुराना हो जाने पर सूख जाता है। ईश्वर की सृष्टि में कोई चीज़ बेकार नहीं। कोई चीज़ ऐसी नहीं जो प्रकृति के नियमों के

दायरे के बाहर हो। इन नियमों का ज्ञान प्राप्त करना मानों प्रकृति या परमेश्वर के नियमों का ज्ञान प्राप्त करना है। इन नियमों की ज्ञान-प्राप्ति से मनुष्य की स्वार्थ-सिद्धि भी होती है—उसे बहुत कुछ लाभ पहुँच सकता है। इस ज्ञान की बदौलत वह औरों को भी लाभ पहुँचा सकता है। अतएव, हिन्दी में, वैज्ञानिक पुस्तकों के प्रकाशन की बड़ी ज़रूरत है।

जो लोग आज-कल तरह तरह के उपन्यास तथा वर्तमान समय की रुचि के अनुसार और पुस्तकें प्रकाशित करके मालामाल हो रहे हैं, वे चाहें तो वैज्ञानिक पुस्तकें भी लिखाकर पढ़नेवालों की रुचि, धीरे धीरे, वैसी पुस्तकों की तरफ़ आकृष्ट कर सकते हैं। यदि वे एक पुस्तकमाला निकालें और साल में छोटी छोटी दो ही वैज्ञानिक पुस्तकें प्रकाशित कर दें तो पाँच वर्ष में दस वैज्ञानिक "प्राइमर" छप जायँ। एक पुस्तक में एक ही विज्ञान या विद्या की चर्चा रहे। विद्या से हमारा मतलब शास्त्र से है। प्राणि-शास्त्र, शरीर-शास्त्र, कीट-पतङ्ग-शास्त्र, रसायन-शास्त्र, भूगर्भ-शास्त्र, ज्योतिष-शास्त्र, वनस्पति-शास्त्र आदि के स्थूल नियम यदि सरल भाषा में लिख दिये जायँ तो बहुत कुछ ज्ञान-वृद्धि हो सके। जो लोग केवल थोड़ी सी हिन्दी जानते हैं, वे तो अभी यह भी नहीं जानते कि भूगर्भ-शास्त्र भी कोई शास्त्र है, और है तो उसमें किस बात का ज़िक्र है। कोई स्कूली छात्र यदि अपने पिता या बड़े भाई से पूछ बैठे कि पृथ्वी के भीतर क्या है, क्यों कहीं पानी नज़दीक और कहीं दूर निकलता है, क्या कारण है कि कहीं तो पृथ्वी के पेट से बालू निकलती है और कहीं चिकनी मिट्टी, तो सिवा चुप रहने या दो-चार उलटी सीधी बातें सुना देने के और कुछ आशा नहीं की जा सकती। इस वैज्ञानिक युग में अपनी इस अज्ञानता को दूर करने की चेष्टा न करना कितने परिताप की बात है!

[मई १९२२.

कालिदास और व्यास

पुराने पण्डित परम्परा से एक कथा सुनाते चले आते हैं। उनकी उस कथा को, आज-कल की भाषा में, चाहे आप गप ही क्यों न समझें, तथापि उसे सुन लेने में हर्ज नहीं। वह इस प्रकार है—

एक दफ़े महाकवि कालिदास तीर्थ-यात्रा करने निकले। तीर्थाटन करते करते वे एक ऐसे तीर्थ में पहुँचे जहाँ व्यासदेव की एक विशाल मूर्ति थी। व्यास जी पद्मासन लगाये बैठे थे। कुछ कुछ ध्यानस्थ से थे। कमर के ऊपर का भाग निर्वस्त्र था। कन्धे पर पड़ा हुआ जनेऊ शोभा दे रहा था। पेट तुन्दिल था; तोंद कुछ आगे को निकली हुई थी। कालिदास के साथ उस तीर्थ के एक पण्डा जी महाराज थे। मूर्ति के पास आते ही पण्डा जी ने कहा—ये वेदव्यास हैं। यह सुन कर कालिदास ने मूर्ति को बड़े गौर से देखा। वे कुछ मुसकराये। उन्होंने व्यास जी की तोंद पर हाथ से, धीरे से, एक थपकी लगाई और यह कह कर प्रणाम किया—

"चकारजठरे नमः"

जितने पुराण हैं, सब व्यास ही के बनाये समझे जाते हैं। उनमें श्लोकों की पाद-पूर्ति के लिए चकार (च-वर्ण) का खूब प्रयोग है। कोई पृष्ठ ऐसा न मिलेगा जिसमें दो-चार, दस-पाँच, और कभी कभी इससे भी अधिक चकार न हों। कालिदास को यह बात बहुत खटकती थी। व्यास जी का पेट देख कर उन्हें उनके चकार-बाहुल्य का स्मरण हो आया। उन्होंने मन ही मन कहा—क्या इस तोंद के भीतर चकार ही चकार भरे पड़े हैं जो लाखों चकार निकल जाने पर भी पचका नहीं। उनकी वह थपकी और गुस्ताखी से भरी हुई उनकी वह उक्ति व्यासदेव को

नागवार गुज़री। इससे उन्होंने कालिदास को सज़ा देनी चाही। सज़ा यह दी कि थपकी लगाने के साथ ही कालिदास का दाहना हाथ व्यास जी के पेट पर वहीं चिपक रहा।

अब दिल्लगी देखिए। कालिदास ने खूब जोर लगा कर हाथ खींचा। दाहने झुक कर खींचा, बायें मुड़ कर खींचा; मूर्ति के पादपीठ पर पैर लगा कर जोर किया। मगर उनकी एक न चली। हाथ न छूटा। और भी बहुत लोग जमा हो गये। उन्होंने कालिदास के हाथ को यहाँ तक खींचा कि उसके उखड़ जाने की नौबत आने को हुई। पर हाथ जहाँ था, वहीं रहा। काट कर हाथ अलग करने से तो महाकवि की शायद मौत ही हो जाती। इससे छेनी और हथौड़ा मँगाया गया और यह ठहरी कि लाओ, मूर्ति के उतने अंश को तराश कर हाथ छुड़ा लें। छेनी चली। उसकी आवाज़ आई ठन। छेनी टूट गई। पर मूर्ति पर उसकी चोट का कोई चिह्न तक नहीं हुआ। लाचार लोगों ने हार मानी। कालिदास के काटो तो खून क्या, पसीना भी नहीं। उनके होश उड़ गये। उनकी यह दशा देख, मूर्ति खिलखिला कर हँस पड़ी। व्यास जी बोले—

क्यों कवि जी, बड़ों के अपमान का फल मिल गया! खबरदार, अब कभी ऐसी गुस्ताखी न करना! मेरी एक समस्या है। उसकी पूर्ति कर दो, तो हाथ छूट जाय। समस्या यह है—

"त्रितयं त्रितयं त्रिषु"

कालिदास ने व्यास जी से बहुत गिड़गिड़ा कर क्षमा माँगी और उनकी समस्या की पूर्ति इस प्रकार की—

पतिश्वसुरता ज्येष्ठे पतिदेवरताऽनुजे।
पाञ्चाल्यास्त्ववशिष्टेषु त्रितयं त्रितयं त्रिषु॥

पाञ्चाली अर्थात् द्रौपदी, पाँच पाण्डवों की पत्नी थी। उन पाँचों की अलग अलग अवधि निश्चित थी। पति-भाव तो पाँचों ही के विषय में चरितार्थ था। पर जब वह युधिष्ठिर के सिवा अन्य चारों भाइयों की

पत्नी होती थी, तब जेठे होने के कारण युधिष्ठिर उसके ससुर बन जाते थे। इसी तरह जब वह युधिष्ठिर, भीम, अर्जुन और नकुल के साथ पत्नी-भाव रखती थी, तब सब से छोटे भाई सहदेव पति होने के सिवा रिश्ते में देवर भी हो जाते थे। रहे मँझले भाई, सो इसी तरह का सम्बन्ध लगाने से, बारी बारी से, वे द्रौपदी के पति, ससुर और देवर, इन तीनों ही रिश्तों के हक़दार हो जाते थे। बस कालिदास की समस्या-पूर्ति का यही मतलब है। कालिदास की पहली उक्ति और इस पूर्ति में यदि कोई पाठान्तर अथवा व्याकरण या काव्य-विषयक, या और ही कोई दोष हो तो वह कालिदास का न समझा जाय; यथा-पूर्व सुनते चले आनेवाले पण्डितों का समझा जाय।

महाकवि की यह पूर्ति वेद-व्यास को बहुत पसन्द आई। उन्होंने उन्हें परीक्षा में पास समझा और कृपा करके उनका हाथ छोड़ दिया। तब से कालिदास ने तोबाह की और फिर कभी किसी बड़े-बूढ़े की दिल्लगी नहीं उड़ाई।

[जुलाई १९२२.

देवनागरी पर रोमन लिपि का भावी आक्रमण

स्वयं भारतवर्ष की तरह भारत-वासियों की देवनागरी लिपि भी बड़ी विलक्षण है। हम लोग जैसे ३३ कोटि देवताओं की कल्पना करके उनकी पूजा-अर्चा करते हैं, वैसे ही अनेक अक्षरों-वाली लिपि की भी दासता की शृङ्खला में अपने को बँधा रखना पसन्द करते हैं। ३३ व्यञ्जन, १६ स्वर ही हमने काफ़ी नहीं समझे। युक्ताक्षरों का, ह्रस्व-दीर्घ का, प्रकृति-प्रत्यय का, उपसर्गों का, षत्व का, णत्व का और व्यञ्जनों के साथ बहुरूपिया स्वरों के सम्मेलन का भी झंझट बढ़ा रक्खा है। एक तो देवनागरी लिपि शीघ्रता से लिखी नहीं जा सकती, दूसरे जगह बहुत ज्यादह घेरती है, तीसरे उसकी आकृति सुन्दर नहीं। फिर भी ऊपर का यह इतना झमेला! इसी से तो निरक्षरता ने अधिकांश भारत को अपने इजारे में कर लिया है। बेचारे बच्चे इस लिपि को सीखें तो कैसे सीखें! सीखने जाकर घबरा उठते हैं; और महीने ही दो महीने में मदरसा छोड़ बैठते हैं। सौ में अस्सी बच्चे तो शायद इस लिपि ही के भय से मदरसे नहीं जाते। जो जाते हैं और किसी तरह रह जाते हैं, वे महीनों का काम बरसों में समाप्त कर पाते हैं; परिश्रम करते करते थक जाते हैं; तन्दुरुस्ती खो बैठते हैं; दिमाग़ कमज़ोर कर डालते हैं; किस्सा कोताह, इस पिशाचिनी लिपि की चपेट में पड़ कर वे किसी काम के नहीं रह जाते। यह देख कर क्रूर, निष्ठुर और निर्दय भारत-वासियों को तो अपने बच्चों पर दया आती नहीं। पर समुद्र-पार तक के दयाशील जनों की नींद-भूख मारी गई है। उनसे यह कारुणिक दृश्य

नहीं देखा जाता। इसी से पादरी नोल्स, तथा अभागे भारत के भी कुछ दयाधन सज्जन, इस लिपि को उठा कर उसकी जगह रोमन अक्षरों को देना और इस तरकीब से इस देश से अशिक्षा को निकाल बाहर करना चाहते हैं। वे कहते हैं कि इस युक्ति से बच्चों का हित-साधन भी होगा और निरक्षरता भी पलक मारते ही रफू-चक्कर हो जायगी। फिर रोमन की बदौलत छोटे-छोटे बच्चे झटपट प्राथमिक शिक्षा समाप्त करके स्कूलों और कालेजों में पहुँच जायँगे। इन लोगों की इस आवाज़ की भनक गवर्नमेंट के कानों तक भी बहुत करके पहुँचती रही होगी। पर अब तक वह चुप थी। अब उससे भी चुप नहीं रहा गया। ठीक है, रगड़ खाने से पत्थर भी घिस जाता है; बार-बार किसी का रोना-धोना सुनने से पाषाण भी पिघल उठता है। इसी से बङ्गाल की गवर्नमेंट ने कलकत्ता गैजेट के हाल के एक अङ्क में एक प्रस्ताव की सूचना प्रकाशित की है। उसने बँगला लिपि के दोष दिखा कर यह विचार व्यक्त किया है कि उसकी जगह रोमन अक्षरों को क्यों न दी जाय? बङ्गालियों के बच्चों को यदि बँगला लिपि न सीखनी पड़े तो प्राथमिक शिक्षा प्राप्त करने में उन्हें बहुत सुभीता हो। इस प्रकार इन दोनों लिपियों के गुण-दोष बता कर उसने सर्व-साधारण से सम्मति माँगी है कि तुम लोग इस प्रस्ताव को कैसा समझते हो।

बङ्गाल के सर्व-साधारण जन इस प्रस्ताव का कितना आदर करेंगे, यह तो कुछ दिन बाद मालूम ही हो जायगा; पर यह बात अकेले बङ्गाल ही की नहीं। यदि रोमन का प्रचार वहाँ हो गया तो महाराष्ट्र, गुजरात, मध्य प्रदेश, बिहार, पञ्जाब और संयुक्त प्रान्तों में भी होने में क्या बाधा आ सकेगी? इन प्रान्तों में भी तो देवनागरी ही लिपि, या उसी का कोई न कोई रूप, प्रचलित है। अतएव हम लोगों को अभी से सावधान हो जाना चाहिए।

यदि हमारी लिपि की सदोषता ही हमारी निरक्षरता या प्राथमिक

शिक्षा की अनुन्नत दशा का कारण हो सकती है, तो हमारी धर्म्म-विभिन्नता, परिच्छद-विभिन्नता, भाषा-विभिन्नता आदि भी तो हमारी जातीयता के भाव की घातक समझी जाती है। फिर क्यों न सर्वत्र ही एकाकार कर दिया जाय ? न टोपी, पगड़ी, पग्गड़ और साफ़े का ही अस्तित्व रहे; न दाल-भात, पूरी-कचौरी, मांस-मछली का ही झमेला रहे; और न हिन्दू, मुसलमान, बौद्ध, जैन, पारसी आदि धर्मों का ही बखेड़ा रहे ! सर्वत्र ही एकमेवाद्वितीयं की तूती बोले तो कैसा !

[फरवरी १९२३.

"सुतापराधे जनकस्य दण्डः"

हिन्दी साहित्य की उन्नति हो रही है। पर हिन्दी के समाचार-पत्रों और सामयिक पुस्तकों की उन्नति उससे भी अधिक हो रही है। और, हिन्दी भाषा में सम्पादन-कार्य्य करनेवालों की कला-कुशलता की तो इतनी अधिक उन्नति हो रही है जिसकी माप बड़े से बड़े गज़, लट्ठे और जरीब से भी नहीं हो सकती। इसका कारण यह जान पड़ता है कि हिन्दी के सम्पादकों को सम्पादन-कार्य्य की योग्यता प्राप्त करने की मुतलक़ ज़रूरत नहीं। वह उन्हें अनायास ही प्राप्त हो जाती है; जन्म के साथ ही वह उन्हें मिल जाती है; आँख, कान, नाक की तरह उसे भी देकर ही ईश्वर हिन्दी के सम्पादकों को जन्म देता है। पहले यह बात न थी; कुछ ही समय से ईश्वर ने सम्पादकों को इस विभूति से विभूषित करने की कृपा की है। इसी से क़सबों और शहरों ही में नहीं, छोटे छोटे गाँवों तक में सम्पादक उत्पन्न हो रहे हैं और मासिक, पाक्षिक और साप्ताहिक पत्रों का निकास करके देश, जाति और धर्म आदि की निष्काम सेवा से सब का मुख उज्वल कर रहे हैं।

परन्तु विधाता की सृष्टि वैपरीत्य से ख़ाली नहीं। देव हैं तो दानव भी हैं; पुण्य है तो पाप भी है; गुण है तो दोष भी है; अमृत है तो विष भी है। इसी से तुलसीदास जी कह गये हैं—

जड़-चेतन गुण-दोषमय विश्व कीन्ह करतार ॥

और इसी से हिन्दी के नव-नवोद्गत सम्पादकों में ब्रह्मा ने जहाँ योग्यता, उदारता, विद्वत्ता और विवेकशीलता आदि की निःसीम सृष्टि की है, तहाँ हिन्दी के पाठकों में अयोग्यता, अनुदारता, बुद्धि-हीनता और अविवेकता आदि दुर्गुणों को भी ठूँस ठूँस कर भर दिया है। फल यह

हुआ है कि वे ज्ञान-विज्ञान की बातों से भरे हुए पत्रों की भी कद्र नहीं करते। कोई कैसा ही अच्छा पत्र क्यों न निकाले, वह महीने ही दो महीने या अधिक से अधिक वर्ष ही दो वर्ष में, ग्राहक या पाठक न मिलने से, अस्त हो जाता है। कोई कोई तो गर्भ ही में नष्ट हो जाते हैं। कुछ बच भी गये तो विज्ञापनों ही में रह जाते हैं, बाहर निकलने की नौबत ही नहीं आती। ईश्वरी निर्देश!

पाठकों का तो यह हाल है; लेखकों का इससे भी बदतर। न वे पाप से डरते हैं, न प्रायश्चित्त से डरते हैं, न लोक-लज्जा ही से डरते हैं। इस दशा में हिन्दी की निःसीम सेवा का व्रत धारण करनेवाले और देश-भक्ति का बीड़ा उठानेवाले सर्वगुण-सम्पन्न सम्पादकों की लालसायें और अभिलाषायें व्यर्थ ही मुरझा जाती हैं; हिन्दी साहित्य की कृशता दूर नहीं होती; देश-भक्ति की लता ज़रा भी पनपने नहीं पाती। एक ऐसे ही निराश सम्पादक के पत्र की नक़ल नीचे दी जाती है। यह पत्र हिन्दी के एक लेखक के नाम है। इसमें जो कई लेखकों के नाम हैं, वे छोड़ दिये हैं; केवल संख्याङ्क दे दिये गये हैं। पत्र की इबारत इस प्रकार है—

> श्रीयुत × × × × जी। प्रणाम।
>
> (१) बा० × × × ×, (२) पं० × × ×,
>
> (३) [बाबू, पण्डित, मिस्टर कुछ नहीं] × × × ×, (४) × × × × × × × × × × × × आप सब के लिए प्रथम बार लिख चुका था। × × × × जी (नम्बर ३) ने लेख भेजने की दया की है। आप किसी ने भी सुनाई नहीं की। आपसे पुनः प्रार्थना है कि अन्य अङ्कों के लिए यथावकाश, मगर प्रथमाङ्क के लिए शीघ्र ही नवयुवकों के उपयोगी कोई लेख भेजिए। अन्यथा संतोषदायक उत्तर दीजिए। यदि १० दिन के अन्दर लेख तथा उत्तर प्राप्त न होगा तो

आप लोगों की कुदृष्टी के कारण—साहित्य संसार में हम असमर्थता प्रकट कर देंगे। जिससे नवयुवकों के एक मात्र मासिक-पत्र न निकलने का दोष-भार आप ही के ऊपर होगा। आपके उत्तर तक न देने से हमारे सेवा-कार्य में बड़ी शिथिलता पैदा की है।

भवदीय

सं०'.........'।

पत्र की यह हूबहू नक़ल है। पत्र-लेखक ने पत्रान्त में 'सं०' के आगे अपने गर्भगत पत्र ही का नाम देने की ज़रूरत समझी है, अपना नाम देने की नहीं। परन्तु वह तो बेचारा अभी पैदा भी नहीं हुआ। नाम छिपाना भी शायद सम्पादकीय कला-कौशल का कोई अंश है। पर क़ानून इस कौशल का कायल नहीं। वह तो सम्पादकों से अपने सम्पादित पत्रों पर जबरदस्ती उनके नाम प्रकाशित कराता है। सम्भव है, इस गर्भजात पत्र के सम्पादक ने प्रेस ऐक्ट के इस बलात्कार से बचने की भी कोई तोड़ निकाल रक्खी हो।

सम्पादकजी के इस पत्र के पाठ से हम बहुत ही हैरान हो रहे हैं। इसलिए कि उनके सेवा-कार्य्य में शिथिलता आ जाने से, जिसके नाम यह पत्र है, उस पर दोषों का भार जो टूट पड़ेगा, उसका परिहार कैसे होगा? मनु और याज्ञवल्क्य आदि ने ऐसे दोषों के प्रायश्चित्त का कोई विधान तो बताया नहीं। सम्पादक जी ही, अपनी निज-निर्म्मित किसी स्मृति से कोई वचन उद्धृत करके दोषी की रक्षा करें तो कर सकते हैं। दोषी का दोष गुरुतर अवश्य है; क्योंकि उसने ही—और उसके सदृश और भी लेखक माने गये कितने ही मनुष्यों ने आपके हाथ-पैर जोड़कर, मिन्नत-आरज़ू करके, और आपके द्वार पर धरना देकर आपको एक मासिक-पत्र निकालने के लिए मजबूर किया है; और अब वही पहले अङ्क के लिए भी लेख नहीं लिखते। लिखना तो दूर रहा, पत्र का उत्तर

तक नहीं देते । अतएव इन लोगों के दोष-भार या पाप-पुञ्ज की गुरुता में सन्देह नहीं । भगवन्! सम्पादक-प्रवर! त्रायस्व ।

पत्र-लेखक का शब्द-शास्त्र-ज्ञान, आपकी रचना-चातुरी और आपकी तर्क-पद्धति का हाल, आपका पत्र ही कह रहा है । फिर यदि कोई लेखक आपको लेख न भेजे तो आश्चर्य या अफसोस की कौन बात? जिस लेखक को आप कोस रहे हैं, उसने अपने होशोहवास में आपसे पत्र निकालने की दरख्वास्त की नहीं और लेख भेजने की प्रतिज्ञा से भी अपने को बाँध लिया नहीं । फिर वह दोषी कैसे? सेवा का सुख लूटें आप; सम्पादक बनें आप; नाम पैदा करें आप; पत्र चल जाय और कुछ प्राप्ति हो तो दाम अपने काम में लावें आप; कोई किसी कारण से लेख न भेजे या न भेज सके तो दोष-भार लादें आप लेखकों पर! आप अपने बल पर पत्र निकालने चले हैं या जबरन् लेखकों के बल पर? आपके पत्र का कोई उत्तर न दे तो आप उसे कोसें क्यों? उत्तर देने पर आपका प्रत्युत्तर यदि और भी अधिक मधुर वचनों से परिपूर्ण आवे तो कोई उस मार्ग ही का "बायकाट" क्यों न कर दे? सरकार, आपने अपने पत्र में जिस लेखक को प्रणाम किया है, वह आपसे हार गया! अतएव तुलसीदास के वचनों में उसकी प्रार्थना है—

वधे पाप अपकीरति हारे । मारतहू पा परिय तुम्हारे ॥

कुछ सम्पादक-शिरोमणि और पत्र-स्वामी एक और भी परमार्थ-साधक पथ का अवलम्बन करते हैं । वे अपने नये पत्र की एक-एक कापी लोगों को भेजते हैं । उसमें एक चिट छाप कर लगा देते हैं । उस पर छपा रहता है कि यह अङ्क पाते ही या तो साल भर का मूल्य भेज देना; या अगला अङ्क वी० पी० से भेजे जाने का हुक्म देना; या यही लिख भेजना कि हमारा नाम ग्राहकों में लिख लिया जाय; और यदि यह कुछ भी न करना तो एक पोस्ट कार्ड तो ज़रूर ही लिख भेजना कि हमें ग्राहक होना मंजूर नहीं । इसके उत्तर में निवेदन है कि औरों से यह सब करा लेने का आपको क्या अधिकार? आप एक चीज़ लेकर बाज़ार

में आये हैं। जिसे वह पसन्द होगी या जिसे उसकी जरूरत होगी, वह आप ही उसे लेगा। आप उस पर अपनी इच्छा-पूर्ति का इतना भार क्यों लादते हैं? यदि उसे वह चीज़ पसन्द नहीं तो वह चुप रहेगा। पोस्ट कार्ड लिखने में व्यर्थ श्रम, ख़र्च और समय का नाश क्यों करेगा? परमेश्वर के लिए आप इस तरह का जुल्म करना छोड़ दीजिए।

बड़े बड़े विज्ञापन निकलते हैं—अमुक तिथि को "अनन्वय" निकल जायगा; अमुक तारीख को "अनन्त" प्रकाशित हो जायगा; अमुक महीने की पूर्णिमा को मधुरालाप पण्डित "कलकण्ठ" अपने दर्शन दे देगा। उसके निकलते ही अज्ञानान्धकार दूर भाग जायगा; उसके चित्र देख कर रैफ़ल की आत्मा को कँप-कँपी आ जायगी; उसकी छपाई देख कर इंडियन प्रेस के टाइप ढालनेवालों को ग़श आ जायगा, इत्यादि। पहले तो ऐसे पत्रों के निकलने ही में सन्देह रहता है। यदि निकले भी तो प्रायः पहले ही अङ्क में इस तरह की कुछ न कुछ कैफ़ियत पढ़ने को मिलती है।

(१) पत्र छः महीने विलम्ब से निकलता है। डिक्लेरेशन लेनेवालों ने देर कर दी। अगले अङ्क से एक मिनट की भी देर न होगी।

(२) चित्र समय पर कलकत्ते से नहीं आया। इससे विचित्र ही निकला है। अब दस बीस चित्र पहले ही से बना कर रख लिये जायँगे।

(३) टाइप अच्छा नहीं। अगले अङ्क, मास या वर्ष से निज का प्रेस हो जाने पर यह त्रुटि भी दूर हो जायगी।

इस तरह के पत्रों में से कुछ तो निकलते ही नहीं; कुछ दो-चार महीने चल कर बन्द हो जाते हैं। कुछ विरले ही भाग्यशाली साल दो साल बच जाते हैं और अपने अस्तित्व की सार्थकता कर दिखाते हैं। इस दशा में कोस-कोस कर लेखकों से लेख लिखाने और लोगों से पेशगी मूल्य प्राप्त कर लेने की चेष्टा करना कहाँ तक न्याय-सङ्गत है, इसका फैसला पाठक ही अच्छी तरह कर सकते हैं।

[जुलाई १९२३.

ईसाइयों के धर्मग्रन्थ बाइबिल का बहुत प्रचार

हिन्दुस्तान के हिन्दुओं की आख्या 'धर्म्मप्राण' है। धर्म्म ही उनके प्राण हैं। धर्म्म के अभाव में वे अपने को निष्प्राण समझते हैं। बात बात में वे धर्म्म की दुहाई देते हैं। खाने में धर्म्म, पीने में धर्म्म, बैठने-उठने में धर्म्म, सोने-जागने में धर्म्म—उनके हर काम में धर्म्म-महाराज अपनी सत्ता चलाते हैं। धर्म्म ही के लिए वे जीते और धर्म्म ही के कारण वे मरना तक खुशी खुशी कबूल कर लेते हैं। कुछ भी क्यों न हो, कर्म्मठ हिन्दू धर्म्म के लिए सब कुछ सहने और सब कुछ करने को तैयार रहते हैं। उनका धर्म्म मौखिक नहीं। अधिकांश हिन्दू धार्मिक नियमों पर अमल भी करते हैं।

पर ईसाई धर्म्म के अनुयायियों को देखिए। उनमें से अधिकांश का धर्म्म केवल मौखिक है। मुँह से तो वे अपने धर्म और धर्म्म-प्रवर्तक की स्तुति और प्रशंसा करते हैं। गिरजाघर में जरूर धर्म्मोपदेश सुनते हैं। बगल में या पाकेट में बाइबिल की पुस्तक लिये घूमते हैं। पर अपने धार्मिक नियमों का परिपालन बहुत ही कम ईसाई करते हैं। ईसाइयों से हमारा मतलब यहाँ पर, योरप के ईसाइयों से है। नम्र और उदार होना, मनुष्य मात्र पर दया करना, सब को अपना भाई समझना, दूसरों पर अत्याचार करने का कभी स्वप्न तक न देखना, ये उनके धर्म्म के सिद्धान्त हैं। परन्तु इन नियमों का पालन करनेवाले ईसाई दुनियाँ में बहुत ही थोड़े होंगे। अधिकतर ईसाई उन लोगों पर घोर से भी घोर अत्याचार करते हैं जो उनके धर्म्म के अनुयायी नहीं। एशिया और अफरीका में सैकड़ों वर्ष से

जो उत्पीड़न हो रहा है, उसके अधिकांश कारण यही हैं। योरप के पिछले महायुद्ध में खून की जो नदियाँ बही थीं, उनके बहानेवाले यही थे। बात यह कि ये अपने धर्म्म को सर्वश्रेष्ठ समझ कर भी सिद्धान्तों पर नहीं चलते। अर्थात् इनकी धार्मिकता की घोषणा इनकी वचन-विदग्धता मात्र है; तथापि ये लोग अपने धर्म्म के प्रचार के लिए करोड़ों रुपये पानी की तरह बहाया करते हैं। ये अपना धर्म्म-प्रचार अपनी धर्म्म-पुस्तक, बाइबिल, के व्यापक वितरण से भी करते हैं और अन्यान्य उपायों से भी करते हैं।

यह तो हुई उन ईसाइयों की बात जिनके धार्मिक सिद्धान्त प्रायः मौखिक हैं। अब हमारे उन धर्म्म-प्राण हिन्दुओं को देखिए जो बात बात पर धर्म्म की दुहाई देते हैं। वे अपने धर्म्म के प्रचार-कार्य्य से सोलहों आने विमुख हो रहे हैं। अपने वेद, पुराण, गीता और उपनिषदों के अनुवाद सैकड़ों भाषाओं में कराना तो दूर रहा, अपने ही देश की भिन्न भिन्न भाषाओं में भी तो उनके रूपान्तर करने की चेष्टा नहीं करते। हमारी इस अविवेकता की जितनी निन्दा की जाय, कम है।

[मार्च १९२४.

ठाकुर गोपालशरणसिंह की कविता

"सुकविता यद्यस्ति राज्येन किम्" ।

जब से हिन्दी में समाचार-पत्रों और सामयिक पुस्तकों के प्रकाशन का आधिक्य हुआ और पद्यात्मक लेख भी उनमें प्रकाशित करना सम्पादकों ने अपना कर्त्तव्य समझा, तब से अनेक नये-नये कवि उत्पन्न हो गये हैं और बराबर होते जा रहे हैं। परन्तु पद्य कविता नहीं। कविता और ही वस्तु है और उसे लिखने की शक्ति किसी विरले ही भाग्यवान् को प्राप्त होती है। वह इतनी बहुमूल्य शक्ति है जिसकी प्राप्ति के सामने राजस्व की प्राप्ति भी तुच्छ है। इसी से एक महाकवि ने, जो राजा भी था, लिखा है कि यदि सुकविता है तो राज्य को लेकर क्या करना है। अतएव सुकवियों को राजा से कम न समझना चाहिए।

कवि-कीर्ति की प्राप्ति की इच्छा रखनेवाले ऐसे भी अनेक लोगों की पंक्तियाँ आज-कल पत्रों में बहुधा निकला करती हैं, जो छन्द या वृत्त की गति का भी ज्ञान नहीं रखते, जो समवृत्त लिख कर भी उन्हें अर्धसम या विषम बना डालते हैं, और जो छन्दोभङ्ग किसे कहते हैं, यह भी नहीं जानते। कविता-सम्बन्धिनी इस अराजकता के ज़माने में यदि किसी प्रकृत कवि की रचना कभी-कभी देखने को मिल जाती है तो कविमन्य-जनों की कृतियों के अवलोकन से उत्पन्न क्षोभ और परिताप, कुछ देर के लिए, भूल जाता है।

जून १९२४ की सरस्वती में पाठकों ने "शोकोद्गार" नाम की कविता पढ़ी होगी। उसके लेखक हैं—ठाकुर गोपालशरणसिंह। उसमें

उन्होंने अपने पुत्र के परलोकगामी होने पर विलाप किया है। करुणा-रस का उसमें यथेष्ट परिपाक हुआ है। उसकी प्रत्येक उक्ति कवि के हृदय से निकली हुई जान पड़ती है। उसमें बनावट या खींच-खाँच कर की गई शब्द-योजना का कहीं पता नहीं। उसमें जो कुछ कहा गया है, पढ़नेवाले के अन्तस्तल तक प्रवेश करता और कवि के साथ सच्ची सहानुभूति का अनुभव कराता चला जाता है। सौ बात की बात यह कि भाषा सरल और सरस, भाव स्वाभाविक और शब्द-स्थापना सुन्दर होने के कारण उसकी उक्तियों का असर पढ़नेवाले के हृदय पर खूब होता है। अच्छी कविता का यही लक्षण है।

अब आप पिछले ज्येष्ठ की "माधुरी" में "विलाप और प्रबोध" नाम की कविता भी पढ़िए। उसका वृत्त मालिनी है, जिसे हिन्दी में सफलतापूर्वक लिखना किसी ऐसे-वैसे कवि या पद्य-लेखक का काम नहीं। इस कविता के लेखक ने अपना प्रकृत नाम नहीं दिया; कविता के नीचे केवल "भुक्त-भोगी" लिखा है। इसमें पहले तो कवि ने अपना पुत्र-शोक प्रकट किया है; फिर आपही अपना प्रबोध भी किया है। यह कविता भी अच्छी है और विषय भी इसका "शोकोद्गार" नामक कविता से बहुत कुछ समानता रखता है। पर इस कविता के शब्दों के चुनाव, रचना की शैली और भावों के प्रवाह की तुलना "शोकोद्गार" से करने पर सहृदय जनों को जो रसास्वादन होगा, उससे उन्हें दोनों का भेद-ज्ञान हुए बिना न रहेगा। "विलाप और प्रबोध" नामक कविता के दो पद्य नीचे दिये जाते हैं—

वह सुख सब मेरे क्या हुए हा, विधाता !
दुख-विपत-घटा क्यों छा गई आज ऐसी ?
दिवस-रजनि आठों याम आँसू बहाते,
कलप-कलप, हा, मैं यों बिता क्यों रहा हूँ ?

❀ ❀ ❀ ❀

सुख सकल यहाँ तो हैं दुखों से घिरे ही;

सब दिन दुख ही में हैं किसी के न जाते।

सुख, दुख, यह दोनों हैं मिले एक ही में,

फिर तुम इतने क्यों हो रहे हो दुखारी॥

"भुक्तभोगी" जी के कथनानुसार यह कविता "ठेठ हिन्दी" में है। अब आप इसी वृत्त में लिखी गई, ठाकुर गोपालशरणसिंह-कृत, "हृदय की वेदना" नामक कविता के दो पद्य सुन लीजिए। यह कविता बोल-चाल की हिन्दी में है—

यदपि सतत मैंने युक्तियाँ कीं अनेक,

तदपि अहह! तूने शान्ति पाई न नेक।

उड़कर तुझको मैं ले कहाँ चित्त जाऊँ?

दुखद जलन तेरी हाय! कैसे मिटाऊँ॥

❀ ❀ ❀ ❀

सतत हृदय में तू वेदना! जन्म पाती,

रह कर उसमें ही पुष्ट हो खूब जाती।

पर अहह! उसी को नित्य तू है जलाती—

शिव शिव इतनी तू नीचता क्यों दिखाती॥

इन दोनों कविताओं का भी परस्पर मिलान करने पर दोनों का अन्तर रसज्ञों के ध्यान में सहज ही आ सकता है।

अच्छे लेखकों और अच्छे कवियों की रचनाओं में कुछ ऐसी विशेषता होती है जो अन्यत्र नहीं पाई जाती। अतएव उन्हें पढ़ते या सुनते ही सहृदय जन बहुधा ताड़ जाते हैं कि ये तो अमुक कवि या लेखक की लेखनी से निकली जान पड़ती है। इस तरह का अनुमान वे, कवि या लेखक का नाम जाने बिना ही, कर सकते हैं। सुकवियों की रचनाओं में एक प्रकार की अदृश्य छाप सी लगी रहती है, जो साधारण कवियों और पद्य-रूपात्मक तुकबन्दी करनेवालों की रचनाओं में ढूँढ़ने से भी नहीं मिलती।

ठाकुर गोपालशरण सिंह की रचनायें बहुत पहले से सरस्वती में निकल रही हैं। उन्हें तुलनात्मक दृष्टि से देखने पर जान पड़ता है कि ठाकुर साहब की कवित्व-शक्ति दिन पर दिन विकसित हो रही है। उनके हृदय में कवित्व का बीज विद्यमान है, इसमें तो सन्देह ही नहीं। आशा है, वे कविता लिखने का अभ्यास जारी रक्खेंगे और किसी उपयोगी विषय पर कोई अच्छा काव्य लिख कर हिन्दी साहित्य की शोभा बढ़ावेंगे। संस्कृत भाषा में सैकड़ों काव्य-ग्रन्थ हैं। उनके परिशीलन से कवित्व-शक्ति के उन्मेष को बहुत सहायता मिल सकती है।

विद्वानों की सम्मति है कि कवि भी एक प्रकार का राजा है। परन्तु ठाकुर गोपालशरण सिंह कविता की दृष्टि से भी राजा हैं और लौकिक विभूति की दृष्टि से भी। पद और प्रतिष्ठा में वे अवध प्रान्त के कितने ही राजाओं और तअल्लुकेदारों से कम नहीं, प्रत्युत् अधिक ही होंगे। वे रीवाँ राज्य के करद रईस हैं। नई गढ़ी के इलाके के वे स्वामी हैं और वहीं रहते हैं। आप बड़े विद्या-व्यसनी, बड़े उदार-चरित और हिन्दी के बहुत बड़े प्रेमी हैं। आपने उच्च शिक्षा पाई है। कुछ समय तक आपने इलाहाबाद के म्यूर सेंट्रल कालेज में भी अध्ययन किया है। और अधिक शिक्षा-प्राप्ति की इच्छा रखने पर भी, कुछ कारणों से आपको विवश होकर कालेज छोड़ना पड़ा। यद्यपि आपसे मिलने का सौभाग्य हमें कभी नहीं प्राप्त हुआ, तथापि पत्र द्वारा प्रकट हुए आपके सौजन्य, औदार्य और शिष्टतापूर्ण व्यवहार पर हम मुग्ध हैं। अभी आपकी उम्र ३२ वर्ष के लगभग होगी।

कुँवर शिवनाथ सिंह ने एक पुस्तक लिखी है। उसका नाम है—"सेंगर वंश का इतिहास"। उसमें लिखा है कि किसी समय भारत के कई प्रान्तों में सेंगर वंश के क्षत्रियों का दौर-दौरा था। सैकड़ों वर्ष तक इन लोगों ने कितने ही राज्यों की स्थापना करके अपने अधिकारों को अक्षुण्ण रक्खा। इस समय भी इस प्रान्त में कई सेंगर क्षत्रिय राज-पद से अलंकृत हैं। किसी समय बघेलखण्ड के भी कितने ही अंशों

पर इन्हीं का राज्य था। मऊगंज में इस वंश के राजों की राजधानी थी। शायद उस समय रीवाँ राज्य की संस्थापना भी न हुई थी। पर दैव-दुर्विपाक से सेंगरों का स्वातन्त्र्य उनके हाथ से जाता रहा और उन्हें रीवाँ की अधीनता में आना पड़ा। उस खण्ड के सेंगर नरेशों के वंशजों में अब एक-मात्र ठाकुर गोपालशरणसिंह जी सब से अधिक प्रतिष्ठा के पात्र हैं। उनके और उनके पूर्वजों के राज्याधिकार और क्षात्र-धर्म्म-पालन इत्यादि से सम्बन्ध रखनेवाली अनेक घटनायें सुनने और विचार करने लायक है। पर यहाँ उनके उल्लेख की आवश्यकता नहीं।

[सितम्बर १९२४.

पाणिनि आफ़िस का एक सदनुष्ठान

परलोक-वासी राय बहादुर श्रीशचन्द्र वसु विद्यारत्न चतुरस्त्र विद्वान् थे। उनको यह लोक छोड़े कई वर्ष हुए। वे अँगरेजी भाषा के विद्वान् तो थे ही, संस्कृत भाषा के भी पारगामी पण्डित थे। जिस समय वे बनारस में सदर-आला (सब जज) थे, उसी समय काशी की अग्रवाल बिरादरी का एक मुक़द्दमा चला था। मुक़द्दमा बड़े महत्त्व का था। जहाँ तक स्मरण है, मुकद्दमा, समुद्र-यात्रा और विदेश-वास के कारण, जाति-बहिष्कार से सम्बन्ध रखता था। वादी और प्रतिवादी दोनों ही पक्षों के नामी नामी पुरुष-पुङ्गव पैरवीकार थे। इस मुक़द्दमे का विचार कर श्रीश बाबू ने जो फ़ैसिला लिखा था, वह बड़े ही महत्त्व का समझा गया था। उसमें उन्होंने अपनी क़ानून-दानी के सिवा स्मृतियों के जिस चूड़ान्त ज्ञान का प्रदर्शन किया था, उसे देख कर बड़े बड़े विद्या-विशारदों तक ने उनकी योग्यता और पाण्डित्य की प्रशंसा की थी।

बाबू श्रीशचन्द्र ने अपने जीवन-काल में संस्कृत व्याकरण का अनुवाद, अँगरेज़ी में, करके उसकी महत्ता उस भाषा के जाननेवालों पर अच्छी तरह प्रकट कर दी थी। उन्होंने अष्टाध्यायी और सिद्धान्त-कौमुदी दोनों के अँगरेज़ी अनुवाद कर के, टीका-टिप्पणी समेत, प्रकाशित किया। इसके सिवा पाणिनि के सूत्रों और धातुपाठ आदि की सूचियों का प्रकाशन भी, पुस्तक के रूप में, अलग किया; और कितनी ही पुस्तकों के प्रकाशन और अनुवाद का काम समाप्त करके उन्होंने अपनी इहलीला का संवरण किया।

श्रीश बाबू के छोटे भाई का नाम है वामनदास वसु। डाक्टरी की ऊँची परीक्षा (I. M. S.) पास करके आपने फ़ौज में सर्जन का काम किया। वहाँ आप मेजर के पद तक पहुँचे। परन्तु औरों की तरह ५५ वर्ष की उम्र होने तक आप रजत-श्रृंखलाओं से बद्ध न रहे। उसके बहुत पहले पेंशन लेकर आप प्रयाग चले आये और वहाँ बहादुर-गञ्ज के अपने भुवनेश्वरी आश्रम में आप साहित्य-कार्य्य में निमग्न हो गये। आपकी बदौलत आज तक अनेक ग्रन्थ-रत्नों का प्रकाशन और उद्धार हो चुका है। ये ग्रन्थ संस्कृत, हिन्दी, बँगला और अँगरेज़ी आदि कई भाषाओं में हैं। उनमें से कुछ का उल्लेख सुनिए—

ऐतिहासिक ग्रन्थ—(१) संस्कृत साहित्य का प्राचीन इतिहास—मोक्ष मूलर-कृत।

(२) पाणिनि पर निबन्ध—गोल्ड स्टुकर-कृत।

(३) हिन्दुओं का समाज-शास्त्र—वि० कु० सरकार-कृत।

स्कूलों और कालेजों में पाठोपयोगी—ग्रिफ़िथ, तीन मिलमैन, वाटर-फील्ड और बैबिंगटन आदि की कई पुस्तकें।

वैज्ञानिक—(१) मधुरमेह पर एक पुस्तक मेजर वसु की लिखी हुई। (२) औषधि के काम आनेवाले भारतीय पेड़-पौधों का वर्णन—मूल्य २७५)

श्यामाचरण संस्कृत-पुस्तकमाला—(१) वादि-विनोद, (२) शाण्डिल्यसूत्र और (३) ब्राह्मोपनिषद्-सार-संग्रह।

ऐतिहासिक पुस्तकें—इनकी संख्या २० के ऊपर है। इनमें से कुछ पुस्तकें, जो मेजर वसु की लिखी हुई हैं, बड़े ही महत्त्व की हैं। किसी में सतारे का पुराना इतिहास है, किसी में योरप के कई देशों के निवासियों की भारतवर्ष में आरम्भिक सत्ता का वर्णन है, किसी में भारत के वाणिज्य-व्यवसाय के संहार का विवेचन है। इनके सिवा नादिर शाह, टीपू सुलतान और अवध के नवाबों की बरबादी के रोमाञ्चकारी वर्णन हैं।

हिन्दुओं की पवित्र पुस्तकें—इस ग्रन्थमाला में उपनिषदों, पुराणों, दर्शन-शास्त्रों आदि अनेक प्राचीन ग्रन्थों के अनुवाद आदि हैं। इन सब की संख्या ३० से ऊपर होगी।

वसु महाशय का यह काम बराबर जारी है और उनके अध्यवसाय से नई नई पुस्तकें और उनके अनुवाद आदि बराबर निकलते जा रहे हैं। इतने ही संक्षिप्त विवरण से पाठक समझ जायँगे कि इलाहाबाद का पाणिनि आफ़िस कितना और कैसा काम कर रहा है और सर्व-साधारण की सहानुभूति और सहायता का कहाँ तक पात्र है।

मेजर वसु अब एक बड़े ही अद्भुत ग्रन्थ के प्रकाशन की तैयारी कर रहे हैं। उसका नाम है—धातुरूपमहार्णवः। संस्कृत भाषा में दो हज़ार से भी अधिक धातुयें हैं। दसों लकारों, तीनों पुरुषों और तीनों वचनों में उनके लाखों रूप हो जाते हैं। यह हम इसलिए कहते हैं कि रूपों का अनेकत्व यहीं तक नहीं। कर्मणि, णिच्, सन्, यङ्, लुगन्त, तुम्, तव्य, अनीय, शतृ, क्त आदि के कारण धातुओं के और भी न मालूम कितने रूप हो जाते हैं। इन सब को याद रखना और पता लगाना महावैय्याकरणों के लिए भी बहुत ही कष्ट-साध्य है। प्रस्तावित पुस्तक में इन सभी रूपों का सन्निवेश किया गया है। इसकी बहुत कुछ रचना पूर्वनिर्दिष्ट श्रीश बाबू ने ही की है। अवशिष्ट अंश की पूर्ति मेजर वसु और पण्डित गोपाल शास्त्री व्याकरणाचार्य ने की है। छपने पर इसकी पृष्ठ-संख्या २,००० के लगभग होगी। मूल्य इसका ४०) होगा। परन्तु छपने के पहले लेनेवाले को केवल २५) देने पड़ेंगे। ५०० ग्राहक हो जाने पर इसका प्रकाशन आरम्भ किया जायगा। यह अश्रुत-पूर्व ग्रन्थ पाठशालाओं, स्कूलों, कालेजों, विश्वविद्यालयों के सिवा सभी समर्थ संस्कृतज्ञों के संग्रह करने योग्य होगा।

परन्तु यह आफ़िस और इसके स्वत्वाधिकारी मेजर वसु इतने से ही सन्तुष्ट नहीं। वे एक और बहुत बड़ा काम करना चाहते हैं। इसकी सूचना अभी हाल ही में निकली है।

कानपुर में, उस दिन, हमारे एक मित्र ने कुछ काग़ज़-पत्र दिखाये और उन्हें पढ़ने का अनुरोध किया। पढ़ने पर मालूम हुआ कि मेजर वसु इलाहाबाद में एक सत्यशोधक विद्वन्मण्डली या शाला (General Research Institute) की स्थापना करना चाहते हैं। उनके भाई श्रीशचन्द्र वसु और उनके मित्र परलोकवासी कर्नल कीर्तिकर की इच्छा, अपने जीवन-काल ही में, ऐसी शाला खोलने की थी। परन्तु उसकी पूर्ति तब नहीं हो सकी। अब मेजर वसु उसकी स्थापना के लिए बद्ध-परिकर हो रहे हैं। वे कहते हैं कि यदि उनमें शक्ति होती तो वे अकेले ही इस कार्य का भार अपने ऊपर ले लेते। फिर भी वे बहुत कुछ आत्म-त्याग करने को तैयार हैं। कर्नल कीर्तिकर की लिखी हुई कुछ पुस्तकें, विज्ञान और रोग-चिकित्सा पर, हैं। उनकी मालियत ५० हजार रुपया है। अपने निजी पुस्तकालय की २५ हज़ार रुपये कीमत की पुस्तकें उपयोग के लिए तथा अपनी प्रकाशित कुल पुस्तकें, जिनकी कीमत लगभग ५० हजार रुपये के होगी, वह सब इस शाला के ख़र्च के लिए वे दे डालना चाहते हैं। इसके सिवा कुछ जमीन तथा कुछ और रुपया भी देने का सङ्कल्प वे कर चुके हैं।

मेजर वसु चाहते हैं कि भिन्न भिन्न विषयों के विद्वान् इलाहाबाद में रह कर इस शाला में काम करें। उन्हें अपने खाने-पीने के ख़र्च की चिन्ता न करनी पड़े। वे अपने अपने विषय से सम्बन्ध रखनेवाली ज्ञान या विज्ञान-शाखा के अज्ञात या अल्पज्ञात अंशों की खोज करके, मनुष्य-मात्र के लाभ के लिए, सत्य का अनुसन्धान करके, उसका प्रकाशन करें। उनका यह उद्देश्य बहुत महान् और सर्वथा स्तुत्य है। अन्य देशों में इस तरह की एक नहीं अनेक शालायें और संस्थायें हैं। उनके सभासद देश-प्रदेश के प्रतिष्ठित विद्वान् हैं। उन्हें वृत्तियाँ मिलती हैं। वे जीवन-व्यापार की चिन्ताओं से दूर रह कर आमरण विद्याभ्यासङ्ग और सत्य-शोधन में निमग्न रहते हैं। प्रकृति के बड़े बड़े रहस्यों का उद्घाटन आज तक अनेक ऐसे ही विद्वानों ने किया है।

ऐसे सर्वोपयोगी और महत्वशाली काम के लिए धन की बड़ी आवश्यकता है। जब तक इतना रुपया न जमा हो जाय जिससे इस शाला की एक इमारत बन जाय और जिसके सूद से इसमें काम करनेवालों को थोड़ी-बहुत वृत्तियाँ देने का प्रबन्ध हो जाय, तब तक इस कल्याणकारी कार्य्य का आरम्भ नहीं हो सकता। अतएव मेजर वसु चाहते हैं कि सभी विद्याव्यसनी, ज्ञानपिपासु और सत्कार्य्य के लिए दिये गये दान की महिमा जाननेवाले सज्जन उनके इस सदनुष्ठान को कार्य्य रूप में परिणत करने के लिए यथाशक्ति उनकी सहायता करें।

मेजर वसु की इस सदिच्छा की पूर्ति के लिए अब तक कितने ही महाशयों ने अपनी सहायता की रक़म भेज भी दी है। पर उस सब का टोटल अभी १० हजार रुपये से भी कम है। आशा है, ऐसे अच्छे काम के लिए, समर्थ सज्जन, अपनी शक्ति के अनुसार अवश्य ही सहायता देने और उसे मैनेजर, पाणिनि आफ़िस, भुवनेश्वरी आश्रम, बहादुरगञ्ज, इलाहाबाद के नाम भेजने की कृपा करेंगे।

[फरवरी १९२८.

पुरातत्त्व खण्ड

भारतीय शिल्प-शास्त्र

प्राचीन काल में शिल्प-कला की बहुत सी पुस्तकें संस्कृत में थीं। आज उनके नामों तक का पता नहीं। जब से कुछ भारतीय विद्वानों का ध्यान अपने देश की शिल्प-कला की ओर आकर्षित हुआ है, तब से इस विषय के कुछ ग्रन्थों का पता लगा है। गत शताब्दी के प्रारम्भ काल में रामराज नाम के एक बड़े भारी विद्वान् मद्रास प्रान्त में हो गये हैं। उन्हें शिल्प-कला से बड़ा प्रेम था। उन्होंने इस विषय की एक बड़ी अच्छी पुस्तक भी बनाई। उसमें एक जगह लिखा है कि भारतीय शिल्प-कारों में परम्परा से यह कहावत चली आती है कि भारत में शिल्प-शास्त्र की कोई चौंसठ पुस्तकें थीं। दक्षिणी भारत में खोज करने से उन्हें इन चौंसठ ग्रन्थों में से लगभग दस ग्रन्थों के कुछ खण्ड प्राप्त भी हुए, जिनमें से नौ के नाम ये हैं—(१) मानसार, (२) मय-मत, (३) काश्यप, (४) वैखानस, (५) सकलाधिकार, (६) विश्वकर्मीय, (७) सनत्कु-मार, (८) सारस्वत्यम् (९) पाञ्चरात्रम्।

प्राचीन हस्तलिखित संस्कृत पुस्तकों के एक सूचीपत्र से इस विषय के कुछ और ग्रन्थों का भी पता लगा है। उन ग्रन्थों के नाम ये हैं:—(१) शिल्पशास्त्र, (२) शिल्प-कला-दीपिका, (३) शिल्प-ग्रन्थ, (४) शिल्प-लेख, (५) शिल्प-सर्वस्व-संग्रह, (६) शिल्पार्थसार, (७) विश्वकर्म प्रकाश। सुप्रसिद्ध डाक्टर कुमार स्वामी ने "मीडिवल सिंहालीज़ आर्ट" नाम की पुस्तक बनाने में सीलोन (लङ्का) में पाये गये सारिपुत्र, मायामतन् और रूपावलीय नाम के इस विषय के तीन ग्रन्थों

से बहुत कुछ सहायता ली है। सुप्रसिद्ध डाक्टर भाण्डारकर ने अपने एक निबन्ध में इसी विषय के विश्वकर्मावतार-वास्तु-शास्त्र नाम के एक हस्तलिखित ग्रन्थ का प्रमाण दिया है, जिसे उन्होंने पूना के दक्षिण कालेज के पुस्तकालय में पाया था। इसी प्रकार बङ्गाल के एक विद्वान् ने भी इस विषय के विश्वकर्म-शिल्प नामक एक ग्रन्थ का उल्लेख अपने एक लेख में किया है। "विश्वकर्म-प्रकाश" नाम का भी एक ग्रन्थ इस विषय का है। वह तो बम्बई में छप भी गया है।

ग्रन्थों की इस नामावली से सिद्ध है कि किसी समय शिल्प-कला की भारत में बड़ी उन्नति थी और सैकड़ों ग्रन्थ इस विषय के संस्कृत में विद्यमान थे। पर समय के फेर से अब उनके नाम तक लुप्तप्राय हो रहे हैं।

[जूलाई १९१२.

कालिदास की जन्म-भूमि

इलियड नामक महाकाव्य का कर्ता होमर ग्रीस देश का निवासी था। उस समय ग्रीस अनेक छोटी छोटी रियासतों में बँटा हुआ था। होमर बेचारा अन्धा था। वह अपने काव्य के पद गा गाकर सभी रियासतों में भीख माँगता भटकता फिरता था। उस समय तो उसकी क़दर न हुई। पर जब वह मर गया और उसके काव्य का महत्त्व लोगों ने समझा, तब एक ही साथ कितनी ही रियासतें उसकी जन्म-भूमि होने का दावा करने लगीं। प्रमाण माँगा गया तो सभी ने उत्तर दिया—"क्या तुम नहीं जानते, होमर ने इसी रियासत में अपनी कविता गाई थी?" तब तो उसे किसी ने न अपनाया। बेचारा होमर माँगता-खाता ही मर गया। पर पीछे से उसके माँगने-खाने और भटकते फिरने पर जन्मभूमि बनने का गर्व! कालिदास को माँगना-खाना तो नहीं पड़ा, पर उनकी जन्मभूमि बनने का दावा भारत के कई प्रान्त अवश्य कर रहे हैं। कुछ लोग कहते हैं—वे काश्मीरी थे, कुछ कहते हैं—दक्षिणी थे, कुछ कहते हैं—बङ्गाली थे। अब इतने दिनों बाद बङ्गाल के नवद्वीप-वालों ने कालिदास को अपनाने के लिए बड़ा जोर लगाया है। वहाँ के पण्डित कहते हैं, कालिदास की जन्मभूमि नवद्वीप ही है। उन लोगों ने इस विषय में बड़े बड़े व्याख्यान, अभी हाल में, दे डाले हैं; कालिदास के नाम पर सभायें बना डाली हैं; पुस्तकालय भी उन्होंने उनके नाम पर खोल दिये हैं। अभी और न मालूम वे लोग क्या क्या करनेवाले हैं। नदियावालों के इस उत्साह और उत्तेजन को देखकर कलकत्ते के संस्कृत कालेज के अध्यक्ष डाक्टर सतीशचन्द्र विद्याभूषण का आसन डोल उठा है। वे कालिदास

की असली जन्मभूमि का पता लगाने के लिए मालवे की तरफ़ पधारे हैं। देखें उनकी खोज का क्या फल होता है। कालिदास नवद्वीप के ठहरते हैं या मालवे के, या और कहीं के।

[नवम्बर १९१३.

विक्रमादित्य और उसके संवत् के विषय में एक नई कल्पना

मिस्टर के० पी० जायसवाल, एम० ए० (विलायत के), बारिस्टर-एट-ला (सरस्वती के बाबू काशीप्रसाद) ने माडर्न रिव्यू में एक छोटा सा लेख प्रकाशित कराया है। उसमें आपने संवत्-प्रवर्त्तक विक्रमादित्य के विषय में एक नई कल्पना की है। आपकी कल्पना का आशय यह है—

सातवाहन वंश का राजा सातकर्णी, ईसा के १३२ वर्ष पहले, महाराष्ट्र देश के प्रतिष्ठानपुर (पैठन) की गद्दी पर बैठा। उसकी माँ गौतमी ने लिखा है कि उसका पुत्र बड़ा ही प्रतापी राजा हुआ। उसने शकों का संहार करके उनके राजा नहफन को युद्ध में हराया और मार डाला। यह नहफन बहुत करके शक जाति ही का था; क्योंकि उसका दामाद ऋपभदत्त शक नाम ही से उल्लिखित हुआ है। सातकर्णी की मृत्यु ईसा के ५७ या ५८ वर्ष पहले हुई। तब उसका पुत्र पुलोमा उर्फ विलव गद्दी पर बैठा। द्रविड़ देश में पुलोमा के जो सिक्के मिले हैं, उन पर उसका नाम विलवय कुरा खुदा है। कुरा का अर्थ वहाँ की भाषा में राजा है। जैनों ने भी इस राजा का नाम अपने प्राकृत ग्रन्थों में विलव ही लिखा है। इसी प्राकृत नाम विलव का संस्कृत रूपान्तर विक्रम है। विक्रम संवत् उसी समय, अर्थात् ईसा के ५७ वर्ष पहले आरम्भ हुआ है। यह संवत् चाहे एक प्रबल पराक्रमी और नामी राजा की मृत्यु की यादगार में चलाया गया हो, चाहे इन्हीं गुणों से विशिष्ट एक राजा के राज्याभिषेक के उपलक्ष में चलाया गया हो, दोनों बातें ईसा के पूर्व सत्तावनवें वर्ष में अवश्य हुई थीं। क्योंकि सातकर्णी का पुत्र भी बहुत प्रसिद्ध राजा था। अतएव वर्तमान विक्रम-संवत् इसी विलव राजा के राज्यारम्भ से अस्तित्व में आया है।

[जनवरी १९१४.

कालिदास का समय-निरूपण

कालिदास के समय आदि के निरूपण से सम्बन्ध रखनेवाले अनेक लेख अब तक निकल चुके हैं। बाबू विजयचन्द्र मजूमदार अच्छे पुरातत्व-वेत्ता हैं। इनके पुरा-तत्त्व विषयक लेख अँगरेजी में भी निकलते हैं और बँगला में भी। इन प्रान्तों के विद्वत्वृन्द-वन्दित अँगरेजी के पण्डितों की तरह ये अपनी मातृभाषा से घृणा नहीं करते। इन्होंने अब साठ सत्तर पृष्ठों की एक बँगला पुस्तक लिखकर प्रकाशित की है। उसका नाम है—"कालिदास"। उसमें आपने लिखा है कि—"कालिदास का साहित्य लीला-काल सम्भवतः ४४५ से ४८० ईसवी तक था।" इन्होंने भी "आसमुद्रक्षितीशानां" आदि श्लोक उद्धृत करके यह सिद्ध करने की चेष्टा की है कि रघुवंश में कालिदास ने गुप्त राजों का गुप्त वर्णन या उल्लेख किया है; और मेघदूत में भी गुप्त साम्राज्य की घटनाओं का गुप्त उल्लेख है। मजूमदार महाशय की इन कल्पनाओं और तर्कनाओं का खण्डन "प्रवासी" की फाल्गुनवाली संख्या में एक समालोचक ने बड़ी ही योग्यता से किया है। ये समालोचक महाशय काशी की स्मरण-शेष संस्कृत पत्रिका, मित्र गोष्ठी, के सम्पादक भट्टाचार्य्य श्रीविधुशेखर शास्त्री हैं। आपकी खण्डनात्मक उक्तियाँ विशेष विद्वत्ता-सूचक और युक्तिसङ्गत हैं। उन्हें पढ़ कर कभी यह बात स्वीकार करने को जी नहीं चाहता कि कालिदास ईसा की पाँचवीं सदी के हैं; क्योंकि जिन तर्कनाओं के आधार पर उनकी स्थिति पूर्वोक्त समय में बताई जाती है, वे बिलकुल ही सार-हीन और असङ्गत हैं। उनके उत्तर में भट्टाचार्य्य महाशय ने जो कुछ लिखा है, उस सबके उल्लेख के लिए यहाँ जगह नहीं। परन्तु गुप्त साम्राज्य

के कल्पित वर्णन के विषय में उनकी सम्मति सुनने लायक़ है। अतएव वह नीचे दी जाती है। शास्त्री जी कहते हैं—

यदि गुप्त राजवंश के नाम और कीर्त्ति-कलाप के वर्णन की इच्छा प्रसङ्ग-क्रम से भी कालिदास के मन में होती तो क्या वे उसका अनुरूप वर्णन न कर सकते थे? क्या उनकी लेखनी इतनी दुर्बल थी? संस्कृत के अक्षय्य शब्द-भाण्डार का दरवाज़ा क्या उनके लिए बन्द था? संस्कृत की विचित्र शब्द-माला का प्रभाव राघव-पाण्डवीय आदि काव्यों में अच्छी तरह देखने को मिलता है। ऐसे ऐसे काव्यों में तो आमूलाग्र दो राजवंशों का वर्णन साथ ही साथ हुआ है। जिसके श्लेषों का झङ्कार अनिर्वचनीय है, उस संस्कृत भाषा में सिद्धहस्त होने पर भी क्या कालिदास प्रसङ्गागत दो-चार श्लोकों में भी रघु और गुप्त इन दोनों वंशों का वर्णन करने की शक्ति न रखते थे?

मतलब यह कि कुमारगुप्त, समुद्र, स्कन्द आदि जितने शब्द कालिदास के काव्यों में आये हैं, वे श्लिष्ट नहीं। उनसे प्रासङ्गिक वाच्यार्थ के सिवा और कोई अर्थ नहीं निकलता। अतएव उनके काव्यों में गुप्त साम्राज्य का वर्णन ढूँढ़कर उन्हें ईसा की पाँचवीं सदी में रखने की चेष्टा करना साहस का काम है। ठीक यही राय इस नोट के लेखक की भी है। उसका उल्लेख वह इस विषय के अपने एक लेख में कर चुका है। यही बात उसने रघुवंश के हिन्दी अनुवाद की भूमिका के दसवें पृष्ठ पर भी कही है।

[अप्रैल १९१४.

पश्चिमी देशों के साथ प्राचीन भारतवर्ष का व्यापार

इलस्ट्रेटेड टाइम्स आव् इंडिया में इस विषय पर एक अच्छा लेख निकला है। उसमें लिखा है—

प्राचीन काल में भारतवर्ष के निवासी कूप-मण्डूक न थे। आज से तीन चार हजार वर्ष पहले तक का ऐतिहासिक प्रमाण मिलता है कि इस देश के व्यापारी ग्रीस, रोम, फ़ारिस और मिस्र देश में व्यापार करने जाया करते थे। उस समय यहाँ से उन देशों को जाने के तीन मार्ग थे—पहला लाल सागर के रास्ते और दूसरा फ़ारिस की खाड़ी के रास्ते। ये दोनों जल-मार्ग थे। तीसरा स्थल-मार्ग था। इस पिछले मार्ग से जानेवालों को हिन्दूकुश पर्वत पार करके बलख जाना पड़ता था। वहाँ से वे लोग आक्सस नदी के तट पर पहुँचते थे। फिर नावों में अपना माल लादकर उसे वे कास्पियन समुद्र तक पहुँचाते थे। वहाँ से जहाज़ों में भर कर उसे पश्चिमी देशों के भिन्न भिन्न बन्दरगाहों में ले जाते थे। बहुत पुराने समय में पश्चिमी देशवालों को भारत का बहुत ही कम ज्ञान था। भारतवासी तो अवश्य उन देशों को जाते थे, पर वहाँवाले यहाँ न आते थे। ईसा के कोई एक हज़ार वर्ष पहले फिनीशिया के रहनेवाले हिरम नामक एक मल्लाह ने सबसे पहले इस देश तक पहुँचने में सफलता प्राप्त की। धीरे धीरे उन लोगों का आवागमन बढ़ने लगा और हिन्दुस्तान की चीज़ें जहाज़ों में भर भर कर वे अपने देशों को ले जाने लगे। हाथी-दाँत, रेशम, मोर और मोरपंख, लाखों की मालियत के पहले ही से भारतीय व्यापारियों द्वारा अरब, फ़ारिस और मिस्र जाते थे। जब वहाँवाले स्वयं भी इस देश में आने लगे, तब इन चीज़ों का व्यापार और भी बढ़ गया।

सिकन्दर की चढ़ाई के बाद जब यूनानवाले इस देश से अधिक परिचित हो गये, तब इस व्यापार में और भी उन्नति हो गई। भारत ही ने पहले-पहल यूनानवालों को हाथी के दर्शन कराये। अशोक के समय में तो बौद्ध उपदेशक, झुण्ड के झुण्ड, यूनान, रोम, फिनीशिया आदि देशों को जाने लगे। ईसा की पहली शताब्दी में महाराज कनिष्क ने, भेंट के तौर पर, कुछ आश्चर्यजनक चीज़ें रोम के सम्राट् आगस्टस को भेजीं। इन चीजों में विशालकाय कछुये, अजगर और शेर भी थे। उन्हें देखकर रोमवालों के आश्चर्य की सीमा न रही। इतने बड़े बड़े कछुये और अजगर उन्होंने उसके पहले कभी देखे ही न थे। शेर के भी उन्होंने तब तक दर्शन न किये थे। भारतवर्ष ही ने उन्हें पहले-पहल शेर के दर्शन कराये। कनिष्क ने जो चीज़ें भेजी थीं, उनमें एक लड़का भी था। उस लड़के के एक भी हाथ न था। परन्तु पैरों से धनुष खींच कर वह इस तरह बाण छोड़ता था कि उसका निशाना कभी खाली ही न जाता था।

धीरे-धीरे पश्चिमी देशों में भारतीय व्यापार ने यहाँ तक उन्नति की कि उन देशों के हितचिन्तक भयभीत हो उठे। उन्होंने सोचा कि यदि यह व्यापार इसी तरह उन्नति करता गया तो कुछ समय में हमारी सारी सम्पत्ति भारतवर्ष चली जायगी। उनका भय निर्मूल न था। कोई आठ करोड़ रुपये का तो गरम मसाला ही यहाँ से हर साल उन देशों को जाता था। रेशम का भी बहुत अधिक चालान होता था।

दो तीन हज़ार वर्ष पहले जिस भारतवर्ष के व्यापार की यह दशा थी, वही भारतवर्ष अब अपना तन ढकने के लिए पश्चिमी देशों का मुहताज है!

[मई १९१४.

हिन्दुओं की प्राचीन शल्य-चिकित्सा

डाक्टर सी० एन० मुखोपाध्याय, ब० ए०, एम० डी० ने एक बड़ी ही महत्वपूर्ण पुस्तक, दो जिल्दों में, लिखी है। पुस्तक अँगरेजी में है। कलकत्ता विश्व-विद्यालय ने उसे प्रकाशित किया है। पहली जिल्द में हमारी प्राचीन शल्य-चिकित्सा का वर्णन है और दूसरी में चीर-फाड़ के शस्त्रों या यन्त्रों की चित्रावली। लेखक ने ऋग्वेद के मन्त्रों से यह सिद्ध किया है कि वैदिक काल में यह चिकित्सा बड़ी उन्नत अवस्था में थी। हाथ, पैर, नाक, कान आदि कट जाने पर उनकी जगह पर कृत्रिम अवयव लगा दिये जाते थे।

आज-कल जैसे क्लोरोफार्म सुँघा कर शस्त्र-क्रिया की जाती है, वैसे ही उसी गुणवाली कोई ओषधि भी, उस ज़माने में, काम में लाई जाती थी। इससे शस्त्र-वैद्य के शस्त्र-सञ्चालन से रोगी को कष्ट न होता था; वह अचेत पड़ा रहता था। शस्त्र-कार्य्य हो जाने पर उसे चेत कराया जाता था। लाशों को छूना लोग बुरा न समझते थे। उन्हें चीर-फाड़ कर रोग सम्बन्धी ज्ञान प्राप्त करने और हड्डियों, रगों तथा भिन्न भिन्न अवयवों के आकार, कार्य्य और संख्या आदि जानने की यथेष्ट चेष्टा होती थी। अशोक के समय तक यहाँ बड़े बड़े अस्पताल थे। फौजों के साथ अनेक शस्त्र-वैद्य—शल्य-चिकित्सक—रहते थे। राजकीय अस्पतालों में, और अन्यत्र भी, मधुर स्वर में गाना गाने और बाजा बजानेवाले भी रहते थे। वे गाकर और बाजे बजा कर रोगियों का मनोरञ्जन करते थे। तरह तरह की आश्चर्यजनक बातें सुना कर रोगियों का दिल बहलानेवाले भी थे। इतनी उन्नत हुई हमारी प्राचीन शल्य-चिकित्सा को बौद्ध धर्म के प्रचार

से बड़ी हानि पहुँची। हिंसा और चीर-फाड़ से दूर भागनेवाले बौद्धों ने उसकी जड़ खोदना आरम्भ किया। इस कारण धीरे धीरे वह अवनत ही होती गई। तथापि मुसलमानों के राज्यारम्भ ही तक नहीं, उसके बाद भी, बहुत समय तक, यत्र-तत्र शल्य-शास्त्र पाये जाते थे और थोड़ी बहुत शस्त्र-क्रिया करनेवाले भी, कहीं कहीं मिल जाते थे। और लोग नहीं तो देहात में नाई ही फोड़े-फुन्सी पर नश्तर लगा कर पीड़ा कम कर देते थे। पर दैवयोग से अब ऐसे नाई भी नहीं रहे। अब तो ज़रा सा फोड़ा खुलाने के लिए भी कभी कभी, चालीस मील दूर, सदर अस्पताल में, असिस्टेंट सर्जन साहेब के सामने हाजिर होना पड़ता है। काल, तू बड़ा बली है!

[सितम्बर १९१४.

भारत का प्राचीन शिक्षा का आदर्श

वर्त्तमान समय शिक्षा-प्रचार के लिए अधिक उपयुक्त है। पहले विद्यार्थियों को शिक्षित होने में जिन कठिनाइयों का सामना करना पड़ता था, आज उनमें से अधिकांश दूर हो गई हैं। अब विद्यार्थियों को जङ्गल में—गुरु-गृह में—नहीं रहना पड़ता। गुरु की सेवा करने और भिक्षा-वृत्ति से जीवित रहने के लिए अब वे बाध्य नहीं। पुस्तकें, काग़ज और लिखने-पढ़ने की सामग्री अब उन्हें बहुत सरलता से मिल सकती है। पर अनेक कठिनाइयों का सामना करने पर भी प्राचीन भारतवर्ष ने, अपने आदिम समय में भी, विद्या-प्राप्ति में बड़ी उन्नति की थी। ग्रीस देश के यात्रियों के लिखे वर्णन से पता लगता है कि भारत ने उस समय भी शिक्षा के महत्त्व को खूब समझा था। उन्होंने लिख रक्खा है कि शिक्षा और ज्ञान-विज्ञान में भारत दुनिया के सारे देशों का मुकुट है। प्राचीन तक्षशिला वर्त्तमान रावलपिण्डी नगर के पास थी। वहाँ का विश्वविद्यालय उस समय बड़ी ही ऊर्जितावस्था में था। हज़ारों विद्यार्थी दूर दूर से आकर वहाँ अध्ययन करते थे। सभी शास्त्रों की शिक्षा वहाँ दी जाती थी। यह बात बहुत पुराने समय की है। नालन्द का विश्वविद्यालय पीछे से स्थापित हुआ था। ईसा की आठवीं शताब्दी में वह विद्यमान था। उस समय भी वहाँ शिक्षा का खूब प्रचार था। यह विश्वविद्यालय वर्त्तमान बिहार प्रान्त में था। ब्रह्म देश, चीन, तिब्बत और तुर्किस्तान आदि देशों तक के विद्यार्थी उसमें पढ़ने आते थे। उसका कुछ हाल सुनिये।

यह विश्वविद्यालय एक मनोहर उपवन में, बस्ती से दूर, स्थापित था। इसके प्राकृतिक दृश्य बड़े ही सुहावने थे। बड़े बड़े सुयोग्य अध्यापक, जो अनेक विषयों के पारदर्शी थे, शिक्षा-कार्य में नियुक्त थे। ह्वेन-सांग के कथनानुसार उसमें लगभग दस हज़ार विद्यार्थी शिक्षा पाते थे।

इन विद्यार्थियों के रहने और भोजन-वस्त्र आदि का सब प्रबन्ध विश्व-विद्यालय ही द्वारा होता था। विश्वविद्यालय से शिक्षा प्राप्त कर के निकले हुए विद्यार्थी अपने जीवन को संसार की सेवा और धर्म-प्रचार में लगाते थे। बौद्ध धर्म्म के व्यापक प्रचार का सब से बड़ा कारण यही था। विद्यार्थियों की शिक्षा का समय नियत था। सबेरा हुआ कि घण्टा बजा। सब विद्यार्थी अपने अपने नित्य-कृत्यों से निपटे। पढ़ने का समय आया। सब अपने अपने शिक्षकों के पास जा कर शिक्षा ग्रहण करने लगे। विश्व-विद्यालय का नियम था कि जो विद्यार्थी जिस विषय में पारङ्गत होना चाहे, वह उसी विषय के पारङ्गत अध्यापक से पाठ ले। शाम को अध्यापक और विद्यार्थी मिल कर ईश्वराराधना करते थे। यह ईश्वराराधना ऐसी उत्तमता और भक्तिपूर्वक होती थी कि देख कर दर्शक का मन मुग्ध हो जाता था। छुट्टियों में शिक्षक और शिक्षार्थी पैदल ही भ्रमण करने के लिए तीर्थ-स्थानों, नगरों और पर्वतों को जाते थे।

प्राचीन समय के विद्यार्थियों को अपने गुरु की बहुत कुछ सेवा-शुश्रूषा करनी पड़ती थी। पर अब वह बात नहीं। उस समय विद्यार्थी सांसारिक झंझटों से एकदम अलग रहता था। इस समय उसे संसार के व्यवहारों से सम्बन्ध छोड़ने की ज़रूरत नहीं। अब सभी विद्यार्थी एक ही स्थान पर एक साथ नहीं रहते। अब अध्यापकों और विद्यार्थियों का भी वैसा घनिष्ठ सम्बन्ध नहीं रहा। इस दशा में नवीन शिक्षा का आदर्श हमारे प्राचीन शिक्षा के आदर्श से बहुत भिन्न हो गया है। हम अब अपने प्राचीन भावों को एक-दम भूल से गये हैं। प्राचीन आदर्श के अनुसार विद्यार्थी विद्याध्ययन के काम को एक प्रकार की तपस्या समझता था। लिखा है—"बालानामध्ययनं तपः"। आज-कल के विद्यार्थियों को चाहिए कि इस पुराने आदर्श को बिलकुल ही न भुला दें।

[जून १९१५.

सोमनाथ के मन्दिर की प्राचीनता

सोमनाथ के सम्बन्ध में गुजरात के गैज़ेटियर के आधार पर कुछ ऐतिहासिक बातें हमें इस नोट में लिखना है। गेज़ेटियर में इस मन्दिर का पुराना इतिहास बड़ी खोज से लिखा गया है।

यह मन्दिर पट्टन या पाटन नामक स्थान में है। महाभारत में यही पट्टन प्रभास-तीर्थ के नाम से उल्लिखित हुआ है। उसमें प्रभास-पाटन का तो नाम है, पर सोमनाथ का नाम नहीं। हाँ, पुराणों में सोमनाथ का नाम पाया जाता है। वहाँ यह पाँच रत्नों में से एक रत्न माना गया है। जिस समय गुजरात में वल्लभीपुर के राजों की सत्ता थी, उसी समय ४८० से ७६७ ईसवी के बीच इसका निर्माण हुआ था। आदि मन्दिर लकड़ी का था। इसी लकड़ी के मन्दिर को महमूद ग़ज़नवी ने तोड़ा था। इसके बाद अन्हिलवाड़े के किसी राजा ने पहले मन्दिर की जगह पर पत्थर का मन्दिर बनवाया। इस मन्दिर को भी, ईसा की सोलहवीं शताब्दी में, गुजरात के शासक महमूद बेगरा ने तोड़ कर नष्ट कर दिया। बेगरा ने मूर्ति तोड़ कर और मंदिर का अधिकांश नष्ट करके उसे मसजिद में परिवर्त्तित कर दिया। इस मन्दिर-मसजिद के टूटे-फूटे कुछ अंश अब तक विद्यमान हैं। सोमनाथ का जो मन्दिर इस समय पाटन में है, वह अहल्याबाई का बनवाया हुआ है। अतएव वह कोई ढाई सौ वर्ष का पुराना है।

पुरातत्त्वज्ञ विद्वानों की राय में सोमनाथ के आदि मन्दिर को बने पन्द्रह सौ वर्ष से अधिक नहीं हुए। पर पाटन के पास ही एक शिला-लेख मिला है। उस पर संवत् ११६९ खुदा हुआ है। उसमें लिखा है

कि सोमनाथ का लकड़ीवाला मन्दिर श्रीकृष्ण ने बनवाया था। उसमें यह भी लिखा है कि लकड़ी के मन्दिर के पहले जो मन्दिर था, वह चाँदी का था और रावण का बनवाया हुआ था। उसके भी पहले पाटन में सोमनाथ का मन्दिर था। वह सोने का था और सोम का बनवाया हुआ था। इस पर, सम्भव है, लोग यह कहें कि शिलालेख की बातें विश्वसनीय नहीं—वे उस समय प्रचलित जनश्रुति के आधार पर लिखी गई होंगी।

इब्न असीर नाम का एक इतिहासकार ११६०—१२३२ ईसवी में हो गया है। उसका लिखा हुआ तारीखे कामिल नामक इतिहास बहुत विश्वसनीय समझा जाता है। उसने महमूद ग़ज़नवी की चढ़ाई और सोमनाथ के मन्दिर का विस्तृत वृत्तान्त लिखा है। उसका कथन है कि यह मन्दिर सोम अर्थात् चन्द्रमा का था। उसके ख़र्च के लिए दस हजार गाँव लगे हुए थे। अनन्त रत्नों की राशियाँ मन्दिर में जमा थीं। बारह सौ मील दूर गंगा से रोज़ गङ्गाजल आता था। उसी से मूर्ति-स्नान होता था। एक हजार ब्राह्मण पूजा के लिए और साढ़े तीन सौ नाचने-गानेवाले देव-मूर्ति को रिझाने के लिए नियत थे। यात्रियों की हजामत बनाने के लिये तीन सौ नाई थे। इन सब लोगों की तनख़्वाह मुक़र्रर थी। मन्दिर में लकड़ी के ५० खम्भे थे। उसके ऊपर सीसा जड़ा हुआ था। मूर्ति ५ हाथ ऊँची थी। वह एक अँधेरे कमरे में थी। कमरे में रत्न-खचित दीपक जलते थे। मूर्ति के पास छत से सोने की एक जंजीर लटकती थी। उससे २०० मन वज़नी एक घण्टा टँगा था। इस मन्दिर की लूट से महमूद ग़ज़नवी को एक करोड़ रुपये का माल मिला था।

[अगस्त १९१५.

हस्त्यायुर्वेद अथवा पालकाप्य

बँगला के आठवें साहित्य-सम्मेलन के सभापति थे महामहोपाध्याय श्रीयुक्त हरप्रसाद शास्त्री, एम० ए०, सी० आई० ई० । सम्मेलन के इस अधिवेशन में पढ़े गये आप के दो अभिभाषण तथा एक अन्य लेख—ये सब साहित्य-परिषत्-पत्रिका में प्रकाशित हुए हैं। इनमें अनेक ज्ञातव्य बातें हैं । एक में शास्त्री जी ने उन लोगों की ख़बर ली है जो अँगरेज़ी ही भाषा बोलते और उसी में अपने विचार व्यक्त करते हैं । ऐसे लोग जब अपनी भाषा लिखते हैं, तब वे उसे इतना बिगाड़ देते हैं कि वह आधा तीतर आधी बटेर की उक्ति की अनुगामिनी हो जाती है । उसकी एक अजीब खिचड़ी बन जाती है । ऐसे लोगों को शास्त्री जी ने सलाह दी है कि वे अपनी भाषा कुछ दिन सीखें, तब कलम पकड़ें । जो लोग व्यर्थ ही संस्कृत के क्लिष्ट शब्दों का प्रयोग करते और अकारण ही उर्दू-फारसी के शब्दों के प्रयोग से बचते हैं, उन्हें भी शास्त्री जी ने दो-चार खरी बातें सुनाई हैं । चाहे जिस भाषा के शब्द हों, यदि वे अपनी भाषा में प्रचलित हो गये हैं तो उनका बहिष्कार सम्भव नहीं । भाषा वही अच्छी कही जा सकती है जो सरल हो और जिसे अधिक लोग आसानी से समझ सकते हों; चाहे उसमें जिस भाषा के प्रचलित शब्द विद्यमान हों ।

हम लोग बहुधा इस बात की शिकायत किया करते हैं कि हमारे यहाँ इतिहास नहीं । इसके उत्तर में शास्त्री जी ने कितने ही प्राचीन और नवीन इतिहास-ग्रन्थों के नाम बताये हैं । उन्होंने कई ऐसी पुस्तकों का हवाला भी दिया है जिनमें औरङ्गजेब के समय का विस्तृत वृत्तान्त है । यदि इन सब पुस्तकों के आधार पर कोई योग्य विद्वान् उस समय का

इतिहास लिखे तो ऐसा इतिहास बड़े ही महत्व का हो। अब तक हम लोगों ने मुसल्मानों और विदेशियों ही के मुख से औरङ्गजेब की शासन-नीति आदि का वृत्तान्त पढ़ा है। वह यदि किसी हिन्दू के मुख से भी सुनने को मिले तो मालूम हो जाय कि किसमें कितनी सत्यता है और हिन्दुओं की राय किससे कहाँ तक मिलती है।

शास्त्री महाशय ने अपने प्रधान लेख में बङ्गाल सम्बन्धिनी कुछ बातें बड़े ही मार्के की कही हैं। उनको उन्होंने बङ्गाल के गौरव का कारण माना है। रेशम, छाल का कपड़ा, थियेटर, नौका और जहाज़, बौद्ध शील-भद्र और चैतन्य देव आदि से सम्बन्ध रखनेवाली बीस बातों का उल्लेख करके उन्होंने बताया है कि उनका उत्पत्ति-स्थान बङ्गाल ही है। अतएव वे बीसों ही उसके गौरव का कारण हैं। सब से पहले आपने हस्त्यायुर्वेद का उल्लेख किया है। आपने लिखा है कि हाथियों के चिकित्सा-शास्त्र के प्रथमाचार्य्य काप्य मुनि उन्हीं के देश के निवासी थे। उन्हीं ने इस शास्त्र का आविष्कार किया। आपके कथन का सारांश यह है—

अङ्ग देश के राजा लोमपाद की इच्छा हाथी पर सवार होने की हुई। पर हाथी कहाँ मिलते हैं और किस प्रकार वशीभूत किये जाते हैं, यह वह न जानता था। उसने बहुत से ऋषियों को एकत्र किया। उनकी सलाह से उसने हाथियों का पता लगाने के लिए कुछ लोग भेजे। उन्हें एक पहाड़ी आश्रम में हाथियों का एक दल मिला। उसके रक्षक एक मुनि भी वहीं मिले। यह खबर उन लोगों ने राजा को दी। राजा अपनी सेना लेकर उस आश्रम को गया। रक्षक मुनि उस समय वहाँ न थे। वे बाहर गये थे। जितने हाथी राजा को वहाँ मिले, उन्हें वह अपनी राजधानी चम्पानगर को ले आया और वहीं रख दिया। मुनि ने लौट कर देखा, हाथी नहीं। वे व्याकुल हो उठे और हाथियों को ढूँढ़ने निकले। चम्पानगर में वे उन्हें मिल गये। वे दुबले और रोगी हो रहे थे। मुनि

ने उनकी चिकित्सा आरम्भ कर दी। और लोगों के पूछने पर मुनि ने अपना नाम-धाम तक न बताया। जब राजा ने पूछा और बहुत हठ की, तब उन्होंने अपना नाम पालकाप्य बताया और राजा की प्रार्थना पर सूत्रमय हस्त्यायुर्व्वेद-शास्त्र की रचना की। इस शास्त्र को शास्त्री जी कोई ढाई हज़ार वर्ष का पुराना समझते हैं। आप कहते हैं—

"पालकाप्य वङ्गदेशेर लोक छिलेन। लौहित्य वा ब्रह्मपुत्रेर धारे, समुद्र ओ हिमालयेर मध्ये ताँहार जन्मभूमि ओ शिक्षार स्थान। यदि ओ अङ्गराज्ये चम्पानगरे ताँहार आयुर्व्वेद लेखा ओ प्रचार हय, तिनि आसले बाँगला देशेरइ लोक। × × × खृष्ट पूर्व्व पञ्चम वा षष्ठ शतके यदि बाँगला देशे हस्तिचिकित्सार एत उन्नति हइया थाके, ताहा हइले सेटा वङ्गदेशेर कम गौरवेर कथा नय"।

ढाई हजार वर्ष पहले वङ्ग देश की जो सीमा थी, उसका भी उल्लेख यदि शास्त्री जी कर देते और यह भी सिद्ध कर देते कि पालकाप्य का आश्रम उसी सीमा के भीतर था, तो आप का कथन प्रमाण से परिपुष्ट हो जाता। आपके दावे में अभी कुछ कसर रह गई है। सम्भव है, उस समय पालकाप्य का आश्रम कामरूप या किसी और देश की सीमा के भीतर रहा हो।

[अगस्त १९१५.

प्राचीन भारत में रसायन-विद्या

कलकत्ते के डाक्टर प्रफुल्लचन्द्र राय बड़े नामी रसायन-शास्त्री हैं। आपने हिन्दुओं की रसायन-विद्या का इतिहास अँगरेज़ी में लिखा है। इस सम्बन्ध में जितनी खोज आपने की है, और किसी ने नहीं की। यह बात आपके लिखे हुए इतिहास से सिद्ध है। उसमें रसायन-विद्या के क्रम-विकाश का आपने प्रामाणिक वर्णन किया है। कुछ दिन हुए, आपने इसी सम्बन्ध में एक व्याख्यान लाहौर में दिया था। उसका सारांश नीचे दिया जाता है।

आयुर्वेद के उपलब्ध ग्रन्थों में चरक और सुश्रुत सब से पुराने हैं। उनमें रस शब्द किसी वस्तु के अर्क़ या प्रवाही अंश के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। इससे सूचित है कि बहुत पुराने समय में रस का वह अर्थ न होता था जो आज-कल होता है। चरक और सुश्रुत के समय के अनन्तर रस शब्द पारे के लिए आने लगा और अब तक आता है। परन्तु साथ ही यह शब्द धीरे-धीरे सभी धातुओं और खनिज पदार्थों की भस्म आदि के अर्थ में भी आने लगा। पिछले रसायन-ग्रन्थों में रस का अर्थ यद्यपि पारा भी मिलता है, तथापि अधिकतर वह पूर्वोक्त वस्तुओं का ही द्योतक है।

रसायन-विद्या की उत्पत्ति भारत में हुए हजारों वर्ष हो गये। वात्स्यायन और पतञ्जलि तक ने इसका उल्लेख अपने ग्रन्थों में किया है। स्वर्ण-रत्न-परीक्षा, धातुवाद और मणिरागाकरज्ञान को वात्स्यायन ने ६४ कलाओं में गिना है। सुनते हैं, पतञ्जलि ने सार (लोहे) के भिन्न भिन्न प्रकारों और प्रक्रियाओं पर एक ग्रन्थ ही अलग लिखा था, जो अब नहीं मिलता। रसायन जरा-मृत्यु को जीतनेवाली मानी गई है। इससे

उसकी बड़ी महिमा है। यह योग-विद्या का एक अङ्ग समझी जाती है। जब से तान्त्रिक मत का प्राबल्य भारत में हुआ, तब से उसकी महिमा और भी अधिक हो गई। रुद्रयामल आदि तन्त्र-ग्रन्थों में इस विषय का बहुत कुछ वर्णन है। तान्त्रिक काल में इस विद्या की इतनी उन्नति हुई कि सैकड़ों ग्रन्थ इस विषय के बन गये। उनमें से रसार्णव, रस-हृदय, रससार और नागार्जुन-कृत रस-रत्नाकर अब भी उपलब्ध हैं। उस काल में तो इस विद्या के प्रेमियों और अनुयायियों का एक पन्थ ही अलग हो गया था। इस कारण माधवाचार्य को अपने सर्वदर्शन-संग्रह में उनके सिद्धान्तों का भी उल्लेख करना पड़ा।

वृन्द नामक एक विद्वान् के बनाये हुए सिद्धयोग नामक ग्रन्थ में, वर्तमान रसायन-विद्या की प्रणाली के अनुसार, पारे की रसायन का वर्णन है। यह ग्रन्थ कोई ९०० ईसवी का है। इसके अनन्तर चक्रपाणि दत्त आदि ने और भी इसी तरह के कितने ही ग्रन्थ बनाये, जो अब तक पाये जाते हैं। धीरे-धीरे अभ्रक, ताँबे, लोहे, राँगे, हरताल, सीसे आदि को फूँकने, शुद्ध करने और उनकी रसायनें बनाने की प्रक्रिया भी प्रचलित हुई। भिन्न भिन्न पदार्थों के रूप, रङ्ग, घटकावयव और गुणों आदि की जाँच करके तत्सम्बन्धी सिद्धान्त भी धीरे-धीरे निश्चित किये गये। इसके साक्षी इस विषय के अनेक ग्रन्थ हैं।

जो प्रमाण आज तक इस विषय के मिले हैं, उनसे यही सूचित होता है कि रसायन-विद्या स्वयं भारतवासियों ही की उद्भावना और खोज का फल है।

[अगस्त १९१५.

हज़ार वर्ष के पुराने खँडहर

पुरातत्त्व के प्रेमी स्टीन साहेब के नाम से अवश्य ही परिचित होंगे। हज़ारों वर्ष पहले तुर्किस्तान में बौद्धों की बस्तियाँ और मठ आदि थे। जो जगहें इस समय उजाड़ हैं—जहाँ सैकड़ों कोस तक एक बूँद भी पानी नहीं—वहाँ पूर्व काल में बड़े बड़े शहर थे। स्टीन साहेब ने इन उजड़े हुए शहरों और स्थानों की बहुत कुछ खोज की है। इस विषय में उन्होंने एक पुस्तक भी प्रकाशित की है। उसे निकले बहुत समय हुआ। चीनी तुर्किस्तान के उजाड़-खण्डों की खोज के लिए अब आप दुबारा दौरे पर हैं। इस काम में आप को फिर भी बहुत कुछ सफलता हुई है। आपके साथ लालसिंह नामक एक हिन्दुस्तानी महाशय भी हैं। एप्रिल से नवम्बर १९१४ के दौरे का संक्षिप्त वर्णन स्टीन साहेब ने लन्दन की भौगोलिक सभा को भेजा है।

दो ढाई हज़ार वर्ष पहले चीन की सीमा पर, तुर्किस्तान में, हज़ारों मील लम्बी एक पक्की दीवार थी। उसमें जगह जगह बुर्ज और क़िले थे। वे सब भग्नावस्था में हैं। उनकी खोज पहले भी स्टीन साहेब ने की थी और अनेक प्राचीन चिह्न और पदार्थ खोज निकाले थे। इस दफ़े भी उन्होंने अनेक क़िलों, खँडहरों और दीवार के भग्नांशों की खोज की। तिब्बत के उत्तर से उन्होंने प्रस्थान किया। पहले दौरे में उन्होंने एक गुफ़ा के भीतर सहस्र-बुद्ध के एक मन्दिर को ढूँढ निकाला था। इस दफ़े भी वे मन्दिर को देखने गये। वहाँ से पूर्वोक्त दीवार के रास्ते कोई २५० मील तक वे जङ्गल ही जङ्गल चले गये। मार्ग में उन्हें मिट्टी और धातु के पात्र तथा कितने ही प्राचीन सिक्के मिले। इससे सूचित हुआ कि वह प्रान्त

किसी समय आबाद था। जगह जगह पर सीमा की रक्षा के लिए चीन की फौज रहती थी। पानी न मिलने के कारण स्टीन साहेब और उनके साथियों को इस रास्ते से जाने और खोज करने में बहुत कष्ट हुआ। परन्तु उन्होंने धैर्य न छोड़ा। फल यह हुआ कि लकड़ी पर खुदे हुए कितने ही प्राचीन लेख, लकड़ी की कितनी ही चीजें और अनेक प्रकार के औज़ार उन्हें मिले। ये चीजें उन जगहों में मिलीं जहाँ दो हज़ार वर्ष पहले चीन की सेना के अड्डे थे।

इसके बाद स्टीन साहेब आगे बढ़े और उस उजड़े हुए प्रदेश की जाँच की जहाँ किसी समय प्राचीन यूची जाति और हूणों का आधिपत्य था। ये वही हूण थे जिन्होंने मध्य एशिया से पश्चिमी देशों तथा भारत पर आक्रमण किया था। इस प्रान्त के खाराखोटो नामक उजड़े हुए नगर में स्टीन साहव को बौद्धों के लिखे हुए अनेक लेख, सिक्के, पात्र, धातु और पत्थर के औज़ार तथा गहने आदि मिले। इससे सिद्ध हुआ कि इस प्रान्त में किसी समय बहुत बौद्ध रहते थे; बड़े बड़े शहर और गाँव थे; और उनके निवासियों का भारत से विशेष सम्पर्क था। जान पड़ता है, पानी की कमी के कारण ही ये बस्तियाँ धीरे-धीरे उजड़ गईं और कालान्तर में यह प्रान्त का प्रान्त अखण्ड जङ्गल और रेतीले मैदानों में परिवर्तित हो गया।

[अगस्त १९१५.

देहली के क़िले की इमारतों का ख़र्च

भारतीय पुरातत्व विभाग के सर्वोच्च अधिकारी सर जान मार्शल हैं। आप डाइरेक्टर जनरल आफ़ आरकियोलाजी की पदवी से अलंकृत हैं। आपकी कृपा से आपकी बहु-मूल्य वार्षिक रिपोर्टें पढ़ने का सौभाग्य हमें भी प्राप्त होता है। आपकी १९११—१२ की वार्षिक रिपोर्ट में गार्डन सैन्डरसन साहब का लिखा हुआ एक लेख छपा है। वह फ़ारसी के प्राचीन इतिहासों के आधार पर लिखा गया है। उसमें शाहेजहाँ के देहलीवाले क़िले से सम्बन्ध रखनेवाली अनेक महत्व-पूर्ण बातें हैं। कितने ही चित्र भी उसमें हैं। १८८३ से १९११ तक इस किले की इमारतों की मरम्मत आदि में गवर्नमेंट ने कोई तीन लाख रुपया खर्च किया है। अभी और भी बहुत रुपया वह खर्च करनेवाली है। कुछ समय से इन इमारतों की विशेष रक्षा होती है। इस नोट में यह बताना है कि इस क़िले की इमारतें तैयार कराने में शाहजहाँ ने कितना रुपया खर्च किया था।

१०४९ हिजरी (१६३९ ईसवी) में देहली के क़िले और शाही महलों की नींव डाली गई। उस समय गैरत खाँ देहली का गवर्नर था। दूर दूर से कारीगर बुलाये गये। १०५८ हिजरी, अर्थात् ९ वर्षों में, इमारतें बन कर तैयार हुईं। उसी साल, २४ रबी-उल्-अव्वल को, शाहजहाँ ने अपनी इस नई राजधानी में प्रवेश किया। शाहजादा दारा शिकोह, सोना और चाँदी लुटाता हुआ, पिता को किले के फाटक तक ले आया। बड़ा भारी दरबार हुआ। बहुत कुछ दान-पुण्य किया गया। बादशाह ने अपने बेटों, पोतों और बड़े बड़े कर्मचारियों को खिलअतें दीं, उनकी तनख़्वाहें बढ़ाईं और पद-वृद्धि भी की।

औरङ्गज़ेब के शासन-समय में बख़्तावर ख़ाँ नाम के एक लेखक ने इस नये क़िले की इमारतों के खर्च का हिसाब लिखा था। वह हिसाब इस प्रकार है—

	लाख रुपया
(१) शाही महल	२८
(२) दीवाने ख़ास	१४
(३) इम्तियाज़ महल (रङ्ग-महल)	५½
(४) दीवाने आम	२
(५) हयात-बख़्श बाग़	६
(६) बेगमों के महल	७
(७) बाज़ार इत्यादि	४
(८) क़िले के भीतर की अन्य इमारतें	६०
(९) क़िले और खन्दक	२१

कारीगरों और मजदूरों की मज़दूरी में एक करोड़ रुपया खर्च हुआ था।

इस क़िले की अपार सम्पत्ति और बहुमूल्य वस्तुयें कई दफ़े लूटी गईं। नादिर शाह, अहमद शाह अब्दाली और मरहठों ही ने नहीं, १८५७ के विद्रोह के समय विद्रोहियों ने भी उस पर हाथ मारा। स्वयं इमारतों पर भी अब तक अनेक अत्याचार हुए हैं। अब जो बच रही हैं, उनको बनी रखने का प्रबन्ध अपने हाथ में लेकर गवर्नमेंट ने बड़ा अच्छा काम किया है।

[अगस्त १९१५.

दिल्ली का तख़्ते-ताऊस

सन् १९११–१२ की आर्कियोलाजिकल सर्वे रिपोर्ट में देहली के तख़्ते-ताऊस का अच्छा वर्णन है। यह वर्णन बादशाह-नामे के आधार पर लिखा गया है। उसका मतलब नीचे दिया जाता है—

बादशाह शाहेजहाँ ने कहा—मेरे ख़ज़ाने में अनन्त रत्न हैं। हर साल जो नये नये रत्न आते हैं, वे भी वहीं रख दिये जाते हैं। वहाँ वे बेकार पड़े रहते हैं; किसी को देखने को भी नहीं मिलते। यह सारी रत्न राशि राज्य की शोभा-वृद्धि के लिए है। अतएव उसे इस तरह और ऐसी जगह रखना चाहिए जहाँ सब लोग उसे देख सकें। यह सोच कर उसने सब रत्न ख़ज़ाने से निकलवा लिये। दो करोड़ रुपये की मालियत के रत्नों में से ८६ लाख रुपये की मालियत के उत्तमोत्तम रत्न छाँटे गये। वे बेबदलख़ाँ नाम के एक अफ़सर के सिपुर्द किये गये। यह अफ़सर शाही सुनार-ख़ाने के दफ़्तर का सुपरिन्टेन्डेन्ट था। शाहेजहाँ ने उसे हुक्म दिया कि एक लाख तोले वज़न की, सोने की, एक पटिया पर वे जड़े जायँ। कोई १४ लाख रुपये के ख़र्च से ३½ गज़ लम्बी २½ गज चौड़ी और ५ गज ऊँची पटिया तैयार की गई। उसी पटिया या चौखटे ने तख़्ते-ताऊस के ढाँचे का काम दिया। पन्ने जड़े हुए १२ खम्भों पर तख़्त की छत खड़ी की गई। उसके भीतरी भाग पर मीनाकारी का काम हुआ। बाहर सब रत्न जड़े गये। छत के ऊपर, बाहरी ओर, दोनों तरफ़, एक एक मोर बनाया गया। मोरों के अङ्ग-प्रत्यङ्गों में बड़े ही अद्भुत रत्न जड़े गये। उन दोनों मोरों के बीच में एक पेड़ बनाया गया। उसमें हीरे, पन्ने, लाल और मोती जड़े गये। तख़्त पर चढ़ने के लिए तीन सीढ़ियाँ

बनाई गईं। उन पर भी दिव्य रत्न लगाये गये। सात वर्ष में यह तख़्त बन कर तैयार हुआ। इसकी तैयारी में एक करोड़ रुपया ख़र्च पड़ा। तख़्त के चारों तरफ़ सोने की ११ पटियाँ जोड़ कर दीवार बनाई गई। उन पर भी जवाहिरात जड़े गये। बीच की जिस पटिया के सहारे बादशाह को बैठना था, अकेले उसकी लागत कोई दस लाख रुपये तक पहुँच गई। तख़्त के बीच में एक बहुत बड़ा लाल लगाया गया। फ़ारिस के शासक शाह अब्बास ने इस लाल को, ज़नर्वालबेग नाम के एक अफ़सर के हाथ, शाहेजहाँ के पिता जहाँगीर को भेंट में भेजा था। दक्षिण जीतने की ख़ुशी में जहाँगीर ने यह लाल शाहेजहाँ को पुरस्कार के तौर पर दिया था। यह लाल किसी समय शाह तैमूर के पास था। उसने उस पर अपना नाम खुदा दिया था। इसके बाद वह शाह-रुख़ और उलग़बेग के हाथ लगा। उन्होंने भी अपना अपना नाम उस पर खुदाया। शाह अब्बास के पास आने पर उसने भी अपना नाम उस पर खुदवा दिया। जब वह जहाँगीर को मिला, तब जहाँगीर ने भी वैसा ही किया। इन नामों के बाद शाहेजहाँ ने भी उस पर अपना नाम खुदवा कर उस की शोभा बढ़ाई।

तख़्त तैयार हो जाने पर शाहेजहाँ के मलिकुश्शोरा (कवि-चक्रवर्ती) हाजी मुहम्मद ख़ाँ "क़ुदसी" ने उसकी तारीफ़ में यह कविता, फ़ारसी में, लिखी—

۱—زهی فرخنده تخت پادشاهی -
که شد ساماں بتائید الهی -
۲—فلک روزے که میکردش مکمل-
زر خورشید را بگداخت اول-
۳—بحکم کا رفرما صرت شدپاک -
بمیناکاریش مینائے افلاک -

۴-جزاین تخت از زروگوهر چه مقصود-
وجود بحر وکان راحکمت این بود-
۵--زیاقوتش که درقیمت بهانیست -
لب‌لعل بتان‌را دل بجانیست -
۶--برای پایه اش عمرے کشیده -
گهر افسر بسر خاتم بدیده -
۷--بصرفش عالم ازرو شد چنان پاک -
که شد از گنج خالی کیسه خاک -
۸--رساند گرفلک خودرا بپایش -
دهدخورشید و مه را رونمایش -
۹--سرافرازے که سربر پا یه اش سود-
زگردون پایه‌ه برتخت افزود -
۱۰--خراج بحروکان پیرایه‌ه او -
پناه عرش و کرسی سایه‌ه او -
۱۱--زانواع جواهر گشته الوان -
چراغی عالمی هر دانه آن -
۱۲--در اطرافش بود گلهائی مینا -
فروزان چون چراغ ازطورسینا -
۱۳--چومیکرد از فرازش کوتهی دست -
نگین خویش جم برپایه اش بست-
۱۴--شب تار ازفروز لعل و گوهر-
تواند صد فلک را داد اختر -
۱۵--دهد شاه جهان را بوسه برپاے -
ازان شدپایه قدرش فلک ساے -
۱۶--کند شاه جهان بخش جوان بخت -
خراج عالمے را خرج یک تخت -

۱۷---خداوندے کہ عرش و کرسی افراخت-
توانا قدرتش تختے چنیں ساخت-
۱۸---اثر باقیست تاکون و مکاں را-
بود بر تخت جا شاہجہاں را-
۱۹---بود تختے چنیں ہر روز جایش-
خراج ہفت کشور زیرپایش-
۲۰---چوتاریخش زباں پرسید ازدل-
بگفت اورنگ شاہنشاہ عادل-

इसकी अन्तिम पंक्ति के—"औरङ्ग-शाहन्शाहे-आदिल" शब्दों से तख्त तैयार होने की तारीख निकलती है। वह १०४४ हिजरी (१६३४ ईसवी) है। इस कविता को शाहेजहाँ ने तख्त के भीतरी भाग में एक पटिया पर खुदवा दिया। इस कविता के कुछ अंशों का भावार्थ इस प्रकार है—

× × × ×

यदि खान से निकला हुआ सोना और समुद्र से प्राप्त हुआ रत्न-समूह इस सिंहासन को अलंकृत न करता तो खान और समुद्र का होना ही व्यर्थ हो जाता। और, फिर वे आते किस काम? इसके अनमोल पन्नों को देख कर बिम्बाधर-धारिणी प्रियतमाओं का हृदय धड़कने लगता है।

× × × ×

इस सिंहासन के बनने में खर्च हो जाने के कारण संसार में बहुत ही कम सोना रह गया है। यह कहना चाहिए कि पृथ्वी का गर्भ—उसका कोश—प्रायः खाली हो गया है। आकाश यदि इस सिंहासन के पाये तक पहुँचता तो वह इसका मुँह देख कर, सूर्य और चन्द्रमा दोनों इसे नजर कर देता।

× × × ×

जब तक आकाश और जगत् का अस्तित्व कुछ भी शेष है, तब तक, ईश्वर करे, शाहेजहाँ बादशाह इस सिंहासन पर विराजमान रहे। परमेश्वर करे, वह प्रति-

दन इस सिंहासन की शोभा बढ़ावे और सात महादेशों की प्रजा के दिये हुए कर पर वह पैर रक्खे— वह उसे प्राप्त हो।

× × × ×

जिस सिंहासन की प्रशंसा में यह सब कहा गया है उसे, १७३६ ईसवी में, नादिर शाह फ़ारिस उठा ले गया। उसका नकशा या उसका चित्र तक इस देश में न रह गया। लोगों का खयाल था कि यह तख़्त फ़ारिस की राजधानी तेहरान में अब तक विद्यमान है। इस नाम का तख़्त जो वहाँ है, वह यही है। पर लार्ड कर्ज़न की खोज ने इस बात को असत्य कर दिया है। उन्होंने अपनी "पर्शिया" नामक पुस्तक में लिखा है कि फ़ारिस का तख़्ते–ताऊस एक और ही तख़्त है। उसे फ़तेह-अली शाह ने अपनी नई बेगम ताऊस खानम के नामानुसार बनवाया था। यह बात फ़ारिस के वज़ीरे आजम ने उनसे कही। वज़ीर ने यह भी कहा कि देहली का तख़्ते–ताऊस तो टूट फूट गया और उसके जवाहरात लुट गये। वह टूटा-फूटा तख़्त नादिर शाह के पोते के पास था। उसे आग़ा मुहम्मद खाँ ने उससे ज़बरदस्ती छीन लिया। उस समय उसके टुकड़े टुकड़े हो गये थे। उसने उन सब टुकड़ों को जोड़ कर नये तर्ज़ का एक तख़्त बनवाया। यह तख़्त तेहरान के शाही महलों के नये अजायब-घर में रक्खा है। सो, अब तक फ़ारिस के फ़तेहअली शाहवाले तख़्त को तख़्ते–ताऊस समझ कर व्यर्थ ही लोग उसकी प्रशंसा के पुल बाँधते रहे हैं।

[अगस्त १९१५.

ज़ेन्द्-अवस्ता

अँगरेज़ी की एक सामयिक पुस्तक में पारसियों की पवित्र पुस्तक ज़ेन्द्-अवस्ता पर एक अच्छा लेख निकला है। उसमें अध्यापक रोट के एक लेख के आधार पर लिखा गया है कि—

"ज़ेन्द्-अवस्ता और वेद, इन दोनों पुस्तकों का उद्गम स्थान एक ही है। वेदों की ज्ञान-धारा विशेष विस्तृत और निर्मल है। वह आरम्भ में जैसी थी, वैसी ही प्रायः अब भी है। पर ज़ेन्द्-अवस्ता की धारा की निर्मलता बहुत कुछ कम हो गई है। उसके प्रवाह की दिशा भी बदल गई है। इस समय तो इस बात का पता लगाना भी कठिन हो गया है कि आरम्भ में उसका रूप और उसका आकार यथार्थ में कैसा था।"

कुछ विद्वानों की राय है कि अवस्ता की उत्पत्ति या रचना ईसा के हज़ार वर्ष पहले हुई थी। कुछ उसे ईसा के २००० वर्ष और कुछ ६००० वर्ष पहले की बताते हैं। कुछ लोगों का अनुमान है कि अवस्ता में वर्णन किये गये ज़ोरोस्ट या ज़रथुस्त ईसा के ७०० वर्ष पूर्व विद्यमान थे। पर अवस्ता की भाषा और उसमें उल्लिखित धर्म्म पर विचार करने से यही कहना पड़ता है कि उसकी रचना ईसा के ७०० वर्ष पूर्व से भी बहुत पहले की है। अवस्ता अपनी आदिम अवस्था में उस रूप में न थी, जिस रूप में उसे हम इस समय देखते हैं। उसके भिन्न भिन्न अंश या मंत्र अलग अलग थे। वे बिखरी हुई दशा में विद्यमान थे। वेदों की तरह उनका भी संग्रह पीछे से हुआ है। सिकन्दर के समय में उनका यह संग्रह-रूप प्रचलित था। इससे भी सिद्ध है कि इसकी रचना उस समय के बहुत पहले हो चुकी थी। फ़ारिस में गुश्तास्प नाम का एक बादशाह

हो गया है। वह कमानियन वंश का था। उसका समय सन् ईसवी से १३०० वर्ष पूर्व माना जाता है। लोगों का विश्वास है कि ज़रथुस्त इसी बादशाह के समय में विद्यमान थे। यदि यह अनुमान सच है तो अवस्ता ३००० वर्ष से भी अधिक पुरानी हुई। ईसा के जन्म के १००० वर्ष पहले से लेकर सिकन्दर की चढ़ाई तक ज़रथुस्त का चलाया हुआ धर्म बड़ी उन्नति पर था। तदनन्तर उसकी अवनति होने लगी। ईसा के कोई ३०० वर्ष पहले आरदेशर नामक बादशाह ने फिर इस धर्म्म का पुनरुज्जीवन या पुनरुन्नति की। उसी ने इस धर्म्म-ग्रन्थ को लिपिबद्ध भी कराया। उसके पहले वेदों की तरह अवस्ता भी इस धर्म्म के अनुयायियों के कण्ठ ही में वास करती थी। ६४१ ईसवी में इस धर्म्म का—इस अग्निपूजक सम्प्रदाय का—फ़ारिस से प्रायः लोप हो गया। अरब के मुसलमानों ने फ़ारिस जीत कर वहाँ अपना धर्म्म चलाया। इस धर्म्म के कुछ अनुयायी जो भारत को भाग आये थे, उन्होंने इसे इस देश में जीवित रक्खा। वही अब पारसी नाम से प्रसिद्ध हैं।

अवस्ता पाँच भागों में विभक्त है। किसी भाग में पूजन-प्रकार का वर्णन है, किसी में स्तुति और प्रार्थना के मंत्र हैं, किसी में मनुस्मृति के सदृश धर्माचरण के नियम हैं। कहीं कहीं दर्शन-शास्त्र, ज्योतिष, आयुर्वेद, वनस्पति-विद्या आदि से सम्बन्ध रखनेवाली बातें भी हैं। इस ग्रन्थ की भाषा ज़ेन्द है। इसी से इसके नाम में अवस्ता के पहले "ज़ेन्द" शब्द रक्खा गया है। यह भाषा संस्कृत से बहुत कुछ मिलती-जुलती है। इसी से विद्वानों का अनुमान है कि पारसियों और आर्य्यों के पूर्वज किसी समय एक ही देश में रहते और एक ही भाषा बोलते थे। अनेक वैदिक देवताओं के नाम भी अवस्ता में पाये जाते हैं। पर वहाँ "देव" शब्द का अर्थ उलटा किया गया है। वह आर्य्यों के "दैत्य" शब्द के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। कुछ वैदिक देवताओं के गुण और स्वभाव तो अच्छे बताये गये हैं और कुछ के बुरे। अवस्ता में सोम और सोम याग की

बड़ी निन्दा है। जान पड़ता है, आर्य्यों और पारसियों के पूर्वजों में आचार-विचार में भिन्नता उत्पन्न हो जाने के कारण ही उनकी दो शाखायें हो गईं। एक शाखा सिन्धु पार करके इस देश में चली आई, दूसरी फ़ारिस की तरफ़ गई।

अवस्ता के अनुवाद जर्मन, फ्रेंच और अँगरेज़ी भाषाओं में हो गये हैं। शायद गुजराती में भी उसका अनुवाद हो चुका है।

[सितंबर १९१५.

भारत के अति प्राचीन ताँबे के शस्त्रास्त्र

काल-भेद के अनुसार विद्वानों ने कुछ ऐसे युगों की कल्पना की है जिनमें कुछ विशेष विशेष धातुओं की प्रधानता थी। प्रस्तर-युग में पत्थर के, लौह-युग में लोहे के, ताम्र-युग में ताँबे के हथियारों और औजारों ही की प्रधानता थी। हमारे देश भारत में भी यही बात थी। इस सम्बन्ध में अनेक विद्वानों ने, समय समय पर, अनेक लेख प्रकाशित किये हैं। हाल में श्री पण्डित हीरानन्द शास्त्री, एम० ए०, एम० ओ० एल० का एक लेख एशियाटिक सोसाइटी आव बेङ्गाल के जर्नल में निकला है। इस लेख में शास्त्री जी ने ताँबे के बहुत पुराने कितने ही औजारों की प्राप्ति का हाल लिखा है। विन्सेंट स्मिथ आदि जिन पुरातत्वज्ञों ने इस देश के ताँबे के शस्त्रास्त्रों पर लेख लिखे हैं, उनके भी कुछ लेखों का आपने हवाला दिया है। उनके तथा स्वयं प्राप्त किये और देखे हुए कुछ नये औज़ारों और शस्त्रों के चित्र भी आपने दिये हैं। यात्री जब ब्रह्मावर्त जाते हैं, तब वहाँ के राधा-कृष्ण के मन्दिर के, और परिहार के मन्दिर के भी, पुजारी भाले का फल और घड़ियाल मारने के काँटे या बल्लम दिखाते हैं और कहते हैं कि ये अर्जुन के बाणों के फल हैं। इन औज़ारों और अन्य शस्त्रों का संक्षिप्त वर्णन और उनके चित्र देकर शास्त्री जी ने उनकी तौल भी लिखी है। ये सब ताँबे के हैं और बहुत पुराने हैं। कानपुर, उन्नाव, बुलन्दशहर और हरदोई में इस तरह के अनेक शस्त्र मिले हैं। उनमें से कुछ तो लखनऊ के अजायब-घर में रक्खे हैं, कुछ विलायत में हैं, कुछ कहीं हैं, कुछ कहीं। जिस समय ताँबे का प्राधान्य था, उस समय तलवारें, खंजर, भाले, बाण के फल, कुल्हाड़ियाँ, फरसे या परशु आदि सब प्रायः ताँबे ही के बनते थे।

मगर, घड़ियाल और कछुवे आदि मारने के लिए ताँबे ही के काँटे या बल्लम उस समय लोग व्यवहार करते थे। वे बनते तो ताँबे के थे, पर दस्ते लकड़ी ही के लगते थे। ऐसी कई चीज़ें पूर्वोक्त शास्त्री जी ने, १९११ ईसवी में, ब्रह्मावर्त (बिठूर) से प्राप्त की हैं।

[अक्तोबर १९१५.

पुरातत्त्व विभाग

इस महकमे के डाइरेक्टर जनरल ने गवर्नमेंट आव् इंडिया को एक रिपोर्ट भेजी है। उसमें उन्होंने गत ५ वर्षों के काम का संक्षिप्त उल्लेख किया है। २३ आक्टोबर के गैज़ट आव् इंडिया में गवर्नमेंट ने उसे, अपने वक्तव्य के साथ प्रकाशित कर दिया है। गवर्नमेंट ने इस महकमे के चार उद्देश्य बताये हैं।

(१) हिन्दुस्तानियों को अधिक भर्ती करना।

(२) अजायब-घरों की उन्नति करना।

(३) पुरातत्त्व-सम्बन्धिनी खोज का काम बढ़ाना और खोज करने-वालों को उत्साहित करना।

(४) पुरातत्त्व-विषयक पुस्तकों का प्रचार बढ़ाना और महकमे के बाहर के विद्वानों को पुरातत्त्व-सम्बन्धी काम करने के लिए उत्साह प्रदान करना।

गवर्नमेंट की राय है कि इस महकमे में और भी अधिक भारत-वासियों का लिया जाना बहुत जरूरी है। जो लोग अब तक लिये गये हैं, वे बहुत अच्छा काम कर रहे हैं। पर शायद यहाँ भी रुपये की कमी के कारण, अब तक अधिक संख्या में भारतवासी नहीं लिये जा सके। संस्कृत जाननेवाले दो एक एम० ए० 'पास' पण्डितों ने इसमें प्रवेश पाने की इस साल प्रार्थना की थी। परन्तु वे सफल-मनोरथ नहीं हुए।

१८६० ईसवी में इस महकमे की नींव पड़ी थी। कोई ४० वर्ष तक तो इसने कुछ सटपट ही काम किया। १९०२ ईसवी में लार्ड कर्जन की कृपा से इसका जीर्णोद्धार हुआ। अफ़सरों की संख्या बढ़ाई गई। खर्च

के लिए रुपया भी अधिक मंजूर हुआ। काम का ढर्रा भी निर्दिष्ट हुआ। प्राचीन इमारतों की रक्षा का काम भी इसी को सौंपा गया। तब से इस महकमे में जान सी आ गई है। अब यह धड़ल्ले के साथ काम कर रहा है। १९१४—१५ में इसने सात लाख से भी अधिक रुपया खर्च किया। यह खर्च पुरातत्त्व की खोज, पुरानी वस्तुओं की ख़रीद और पुरानी इमारतों की रक्षा में किया गया। खोज और संरक्षण ही इसके प्रधान काम हैं। अजायब-घरों की स्थापना, रक्षा और उन्नति का काम भी यही करता है। अब तक पुतत्त्व-विषयक अजायब-घरों की संख्या ३९ तक पहुँच चुकी है।

इस रिपोर्ट के लेखक, डाइरेक्टर जनरल आव् आरकियोलाजी, ने गत पाँच वर्ष के मुख्य मुख्य कामों का जो संक्षिप्त वर्णन किया है, उसमें पाटलिपुत्र की खुदाई का भी उल्लेख है। डाक्टर स्पूनर की तरह आपकी भी राय है कि मौर्य्य नरेशों के प्रासाद अनेक अंशों में फ़ारिस के राजकीय महलों की नक़ल पर ही बने थे।

इस महकमे में एक दोष है। यदि कहीं कोई नया शिलालेख मिलता है या कोई नया आविष्कार होता है, तो उसके प्रकाशन में बरसों लग जाते हैं। छपे तो वह पहले इसी महकमे की पुस्तकों और रिपोर्टों में छपे। यदि गवर्नमेंट चाहती है कि साक्षर भारतवासी भी इस काम में योग दें तो उनके लिए सब तरह का सुभीता भी कर देना चाहिए। माँगने पर शिलालेखों की नक़लें मिलनी चाहिएँ और उनके विषय में जो कुछ पूछा जाय, वह बताना भी चाहिए। इस महकमे की रिपोर्टें और सामयिक पुस्तकें देशी भाषाओं के समाचार-पत्रों को भी दी जानी चाहिएँ। बिना ऐसा किये महकमे के काम की यथेष्ट चर्चा न हो सकेगी और अँगरेज़ी पढ़े-लिखे कुछ ही विद्वानों को छोड़कर औरों को इससे लाभ उठाने का मौक़ा भी न मिलेगा।

[दिसम्बर १९१५.

कूच नामक एक प्राचीन राज्य

एस० लीवाई नाम के एक विद्वान् नामी पुरातत्ववेत्ता हैं। आपने रायल एशियाटिक सोसाइटी के जरनल में एक लेख प्रकाशित कराया है। लेख बड़ा मनोरञ्जक है। उसमें आपने लिखा है कि किसी समय चीनी तुर्किस्तान (Chinese Turkestan) में भारतवासियों ही का आधिपत्य था। उनके तत्कालीन प्रभुत्व, विद्वत्त्व और कला-कौशल के चिह्न अब तक पाये जाते हैं। इस राज्य का नाम कूच (कुत्स?) था। यह उस भूमिभाग में था जो काशगर की राह चीन जानेवालों को बीच में पड़ता है। इस प्रान्त के वर्तमान निवासियों का धर्म्म, रहन-सहन और भाषा यद्यपि अब और की और हो गई है, तथापि उनमें अब भी ऐसी अनेक बातें पाई जाती हैं जो उनके आर्य्य-वंशीय होने की सूचना दे रही हैं। कूचियों की प्राचीन भाषा में पिता के लिए पातर, माता के लिए मातर, है के लिए स्ते, आठ के लिए आक्ट, शब्द थे। सन् ईसवी के सौ दो सौ वर्ष बीत जाने पर कूचियों ने बौद्ध धर्म्म स्वीकार कर लिया। धीरे-धीरे वही उनका प्रधान धर्म हो गया। कूच राज्य का सम्बन्ध खोटान या खुतन से बहुत समय तक रहा। खोटान किसी समय प्रसिद्ध राज्य था और बड़ी उन्नत दशा में था। उसके साथ व्यापार-व्यवसाय करके कूच राज्य ने भी बड़ी उन्नति की। उस समय के बड़े-बड़े बाज़ारों, पाठशालाओं, मन्दिरों, महलों और मठों के ध्वंसावशेष इस राज्य की पुरानी उन्नति की अब तक घोषणा दे रहे हैं। उन्हें देख कर यही कहना पड़ता है कि यह राज्य किसी समय धन-सम्पन्नता और विद्या, इन दोनों बातों में बहुत बढ़ा-चढ़ा था। वहाँ संस्कृत भाषा का खूब अध्ययन-अध्यापन होता

था। मठों में सैकड़ों हज़ारों बौद्ध संस्कृत पढ़ते और संस्कृत ही में शास्त्रों की चर्चा करते थे। वहाँ के प्राचीन निवासियों ने अनेक संस्कृत ग्रन्थों का अनुवाद अपनी, अर्थात् कूची, भाषा में किया। पीछे से उन लोगों ने कितने ही नये नये ग्रन्थ भी अपनी भाषा में लिखे। बौद्धों के विनय-पिटक और अवदानों के आधार पर तथा उनके अनुकरण में इस प्राचीन राज्य के पण्डितों ने बहुत ग्रन्थ-रचना की। वहाँवाले हीनयान सम्प्रदाय के बौद्ध थे। उन लोगों ने बौद्धों के महाकल्प राहश तान्त्रिक ग्रन्थ भी लिख डाले। अनेक ग्रन्थों की रचना तो उन्होंने संस्कृत ही में की। वैद्य-विद्या की पुस्तकें भी उन्होंने लिखीं। कूचियों की भाषा में लिखी गई विरोध नामक पुस्तक लन्दन के ब्रिटिश म्यूज़ियम में सुरक्षित है। प्रसिद्ध बौद्ध विद्वान् कुमारजीव कूच नगर में बहुत समय तक रहे थे। यह वही कुमारजीव हैं जिनके लिखे हुए अनेक संस्कृत ग्रन्थों के अनुवाद चीनी भाषा में पाये जाते हैं।

[दिसम्बर १९१५,

शहरे-बहलोल में प्राप्त प्राचीन मूर्त्तियाँ

पेशावर के ज़िले में होती—मरदान नाम की एक छोटी सी रियासत है। उसके पश्चिम, कोई आठ मील दूर, शहरे-बहलोल नाम का एक गाँव है। उसके पास कितने ही बहुत पुराने पुराने धुस्स और डीह हैं। कोई २००० वर्ष पहले वहाँ पर एक नगर था और क़िला भी था। बौद्धों की वहाँ विशेष बस्ती थी। अनेक विहार, स्तूप और चैत्य थे। यह बात कुशान वंश के राजों के राज्य-काल की है। ईसा की पाँचवीं छठी सदी में यह जगह उजड़ गई जान पड़ती है। क्योंकि ह्वेनसांग आदि चीनी परिव्राजकों ने इस स्थान का उल्लेख अपनी यात्रा-पुस्तक में नहीं किया। वहाँ ज़मीन के भीतर से सैकड़ों सुन्दर सुन्दर मूर्त्तियाँ, बहुत समय से निकलती रही हैं। कुछ तो ऊपर ही पड़ी हुई मिली हैं। वहाँवाले इन मूर्त्तियों को अद्भुत वस्तु समझ कर अँगरेज़ों के हाथ बेचते रहे हैं। इस स्थान की प्राचीनता को देख कर पुरातत्व विभाग के स्टीन साहब ने फ़रवरी—एप्रिल सन् १९१२ में छः डीहों की खुदाई की। इस काम में गवर्नमेंट का ५००० से ऊपर रुपया खर्च हुआ। १९११—१२ की आर्कियोलाजिकल सर्वे रिपोर्ट में इस खुदाई का फल प्रकाशित हुआ है। उसमें प्राप्त हुई वस्तुओं के अनेक चित्र भी दिये गये हैं।

स्टीन साहब को इस खुदाई में आशातीत सफलता हुई। १२०० मूर्त्तियाँ, बर्त्तन और खुदे हुए पत्थर के टुकड़े इत्यादि यहाँ पर उन्हें मिले। कितनी ही बौद्ध मूर्त्तियाँ तो अखण्डित दशा में प्राप्त हुईं। जो चीज़ें यहाँ पर भूगर्भ से खोद कर निकाली गईं, उनमें से दो मूर्त्तियाँ बड़े महत्त्व की हैं। एक मूर्ति तो किसी मनुष्य की है और दूसरी किसी स्त्री की। जिन

की ये मूर्त्तियाँ हैं, उन्होंने शायद इस बौद्ध तीर्थ में कोई धार्मिक काम किया होगा, अथवा कुछ पुण्य-दान दिया होगा, अथवा कोई इमारत बनवा दी होगी। पुरुष की मूर्त्ति की कारीगरी बहुत अच्छी है। पर मूर्त्ति का बायाँ हाथ टूटा हुआ है। उसके दाहने हाथ में कोई चीज़ है। वह शायद कोई फल है। पर क्या है, ठीक ठीक नहीं कहा जा सकता। स्त्री की मूर्त्ति में भी दोनों हाथों में कोई चीज़ है। २००० वर्ष पहले गान्धार देश में स्त्री-पुरुष कैसे कपड़े पहनते थे, यह बात इन मूर्त्तियों से अच्छी तरह प्रकट होती है। इस दृष्टि से ये मूर्त्तियाँ बड़े मोल की हैं।

[दिसम्बर १९१५.

श्रीहर्ष की जन्म-भूमि

कुछ समय पहले बङ्गाल के पारदर्शी पण्डितों ने यह प्रमाणित करने की चेष्टा की थी कि कालिदास बङ्गाली थे। नवद्वीप में उनकी यादगार भी बनने की बात सुनी गई थी। अब यह सिद्ध करने की चेष्टा हो रही है कि नैषध-चरित के कर्ता श्रीहर्ष मिश्र भी गौड़ देश के रहनेवाले, अतएव बङ्गाली, थे। बँगला के 'भारतवर्ष" नामक मासिक-पत्र के गत अगहन के अङ्क में एक लेख निकला है। उसके लेखक श्री प्रसन्ननारायण चौधरी, बी० एल० हैं। आपकी राय है कि श्रीहर्ष पुराने गौड़ देश के निवासी थे और गौड़ देश आजकल बङ्गाल के अन्तर्गत है। इस कारण श्रीहर्ष बङ्गाली थे। आपका तर्क सुनिए—

(१) श्रीहर्ष ने गौड़ोर्व्वीश-कुल प्रशस्ति नामक पुस्तक लिखी थी।

(२) नैषध के चौदहवें सर्ग में लिखा है कि दमयन्ती को नल के गले में जयमाल डालते देख स्त्रियों ने "उलूलुध्वनि" की थी; और यह ध्वनि बङ्गाल, उड़ीसा और बालेश्वर ही में प्रचलित है।

(३) श्रीहर्ष के वंशज हरिहर पण्डित के विषय में "प्रबन्ध-कोश" में लिखा है कि वे गौड़ थे।

(४) उलूलु-ध्वनि के विषय में टीकाकार नारायण पण्डित ने लिखा है कि कवि ने अपने देश, अर्थात् गौड़ देश की रीति का उल्लेख किया है।

(५) मैथिल कवि विद्यापति का समय आज से ५०० वर्ष पूर्व है। उन्होंने लिखा है कि श्रीहर्ष गौड़ थे।

इस पर विचार—

(१) श्रीहर्ष ने गौड़-नरेश की प्रशस्ति लिखी। इस कारण वे गौड़

देशवासी (बङ्गाली) हो गये। बेहतर। हम कहते हैं कि उन्होंने छन्दः-प्रशस्ति में छन्द नाम के किसी राजा की प्रशंसा भी लिखी है। फिर वे उसके पालित देश के वासी क्यों न हुए? उन्होंने नैषधचरित भी लिखा है। अतएव वे निषध देश (बरार) के रहनेवाले क्यों न माने जायँ? उन्होंने कान्यकुब्ज-नरेश, विजयचन्द्र की तारीफ़ में विजय-प्रशस्ति भी तो लिखी है। फिर क्या कारण है कि आप उन्हें कान्यकुब्ज देश का रहनेवाला नहीं मानते? गौड़ होने ही से यदि कोई गौड़ देश का वासी हो सकता है, तो इस समय बिहार, संयुक्त प्रान्त और पञ्जाब आदि में जितने गौड़ ब्राह्मण हैं, सभी बंगाली हुए। अच्छा, बंगाली ब्राह्मण तो अपनी उत्पत्ति, आदिशूर के समय में कान्यकुब्ज से गये हुए ब्राह्मणों से मानते हैं। फिर सारे बंगाली कनवजिया ब्राह्मण क्यों न हुए?

(२) कवि यदि किसी देश की रीति का वर्णन कर दे तो क्या वह उस देश का वासी हो जाय? यदि आजकल का कोई लेखक काश्मीर के अंगूरों या वहाँ के मुसलमानों की रीति-रस्मों का वर्णन करे तो क्या वह काश्मीरी हो जाय? गौड़ देश के एक आचार का उल्लेख करने ही से श्रीहर्ष बंगाली नहीं हो सकते। पहले पता लगाइये कि वे थे किस नगर के रहनेवाले; और वह नगर आपके बंगाल की सीमा के भीतर है भी या नहीं? तब श्रीहर्ष को बंगाली बनाइये। उन्होंने तो अपने काव्य में न मालूम किन किन देशों और जातियों का वर्णन किया है। उन्हें आप कहाँ कहाँ घसीटेंगे।

(३) श्रीहर्ष के वंशज हरिहर गौड़ थे। रहे होंगे। उन्हें गौड़-देशीय बतानेवाले प्रबन्धकोश के कर्ता की बात यदि प्रामाणिक मानी जा सकती है तो कन्नौज के पास मीरा सरायँ के सैकड़ों मिश्रों की बात क्यों नहीं प्रामाणिक मानी जा सकती? वे कहते हैं कि श्रीहर्ष हमारे पूर्वज थे। हमारी वंशावली यह बात पुकार पुकार कर कह रही है।

(४) नारायण पण्डित ने किस आधार पर श्रीहर्ष को गौड़देशीय

कहा है, इसका पता भी तो लगाइये। किसी के कहने मात्र से कोई बात सिद्ध नहीं समझी जा सकती। पुराणों में दही और दूध के समुद्रों का वर्णन है। फिर क्यों ऐसे समुद्रों को आजकल के अधिकांश शिक्षित जन कपोल-कल्पना समझते हैं?

(५) जो आक्षेप टीकाकार नारायण पण्डित के कथन पर हो सकते हैं, वही विद्यापति के विषय में भी हो सकते हैं।

पहले तो श्रीहर्ष के गौड़ होने के कोई परिपुष्ट प्रमाण नहीं। यदि यह मान भी लिया जाय कि वे अथवा उनके पूर्वज गौड़ थे, तो इसी लिए न कि वे गौड़ देश के रहनेवाले थे? परन्तु जब श्रीहर्ष ही नहीं, किन्तु उनके पिता तक का रहना कान्यकुब्ज-नरेश के यहाँ सिद्ध है, तब भी क्या वे गौड़देशीय ही बने रहे? कान्यकुब्ज देश में बस जाने के कारण वे कान्यकुब्ज क्यों न हुए? विद्यापति, नारायण पण्डित और प्रबन्धकोष के कर्ता का कथन तो सच, पर जो लोग श्रीहर्ष को अपना पूर्वज समझते हैं और जिनके यहाँ यह बात परम्परा से लिखी हुई चली आती है, उनका कहना ग़लत! यह कैसा तर्क है? श्रीहर्ष यदि गौड़देशीय थे तो गौड़ देश को चले क्यों न गये? क्योंकि उन्होंने अपना वंश-विस्तार कन्नौज के समीपवर्ती क़सबे मीरा सरायँ में बस कर किया? यदि वे गौड़ रहे भी हों तो अपना देश छोड़कर कान्यकुब्ज में रहने और कान्यकुब्ज के राजा के यहाँ आश्रय पाने से वे अवश्य ही कान्यकुब्ज हो गये। जो बंगाली बिहार में बस गये हैं, वे अपने को बिहारी ही सिद्ध करके सरकारी नौकरी पाने का दावा कर रहे हैं। यदि वे बिहार में बसने से बिहारी हो सकते हैं तो कान्यकुब्ज देश में बस जाने से श्रीहर्ष भी कान्यकुब्ज हो सकते हैं।

[जनवरी १९१७.

पाँच सौ वर्ष पूर्व भारत में स्वराज्य

विजयनगर के राजा देवराज (द्वितीय) के समय का खुदा हुआ एक प्राचीन लेख मिला है। इस राजा का राजत्व-काल १४१९—१४४० ईसवी है। लेख १४२९—३० ईसवी का है। इस प्राचीन लेख पर मद्रास के लोकल सेल्फ गवर्नमेंट गैज़ट में एक निबन्ध निकला है। उसमें लिखा है कि इस लेख के अनुसार, उस समय विजय-नगर राज्य की प्रजा ही कर की दर निश्चित करती थी और इसका निर्णय करती थी कि किस चीज़ पर कर लिया जाना चाहिए। राज्य के अधिकारियों को निश्चय की सूचना मात्र दे दी जाती थी। यदि मतभेद होता था तो वह परस्पर विचारपूर्वक दूर कर दिया जाता था। मनु की आज्ञा है कि पैदावार का एक षष्ठमांश, कर के रूप में, राजा को मिलना चाहिए। इस आज्ञा का यथा-सम्भव पालन किया जाता था। पैदावार के लिहाज़ से ही लगान या कर की रकम ठहराई जाती थी। भिन्न भिन्न पैदावार पर लगाये गये कर की दर भी भिन्न भिन्न होती थी। जिस जमीन के सींचे जाने का प्रबन्ध था, उसके लिए अधिक कर देना पड़ता था। परती और जंगली ज़मीन यदि जोती जाती थी तो उस पर बहुत ही कम लगान लगाया जाता था। सुभीते के अनुसार कुछ ज़मीन का लगान रुपये के रूप में देना पड़ता था और कुछ का उत्पन्न हुई जिन्स के रूप में। लगान लगाने में कृषि के खर्च के साथ ही कृषक के मुनाफ़े का भी खयाल रक्खा जाता था। नारियल, सुपारी और कटहल आदि के प्रत्येक पेड़ पर कितने फल आते हैं और उनकी कितनी क़ीमत होती है, यह देख कर आमदनी के अनुसार कर निश्चित किया जाता था। पर इस बात का खयाल रक्खा

जाता था कि बाग या खेत के मालिक को ख़र्च निकाल कर उसकी मिह-नत का काफ़ी बदला ज़रूर मिले। फ़सल नष्ट हो जाने या किसी कारण से कम होने पर लगान माफ़ कर दिया जाता था अथवा उसमें कमी कर दी जाती थी।

ऐसा होने ही से राजा और प्रजा में सद्भाव रह सकता है और प्रजा राजा की हितैषणा में रत रह सकती है।

[जनवरी १९१७.

महेन्द्रगिरि के मन्दिर

ईसवी सन् के छः सात सौ वर्ष बाद तक इस देश में बौद्ध मत का बहुत प्राबल्य रहा। उस समय यहाँ के अधिकांश निवासी बौद्ध धर्म्म ही के अनुयायी थे। सर्वत्र स्तूप, विहार और संघाराम ही दृग्गोचर होते थे। अन्य देवी-देवताओं के मन्दिरों का कहीं पता न था। और यदि कहीं रहे भी होंगे तो उनके चिह्न अब अवशिष्ट होने पर देव-मन्दिरों का निर्माण होने लगा। परन्तु उनकी शकल-सूरत बौद्धों की इमारतों ही के ढंग की बनी हुई है। इस प्रकार के सब से पुराने मन्दिर मदरास हाते के चिंगलपट ज़िले के अन्तर्गत महाबलीपुरम् में अब तक विद्यमान हैं। ये सप्त-मन्दिर (Seven Pagodas) के नाम से प्रसिद्ध हैं। वे सातवीं सदी के हैं; और पहाड़ काट कर बनाये गये हैं। ये मन्दिर बड़े विशाल हैं।

बौद्धों की इमारतों के ढंग पर बने हुए और भी कितने ही पुराने मन्दिर मदरास हाते में पाये जाते हैं। इस तरह के तीन मन्दिरों का हाल पुरातत्त्व विभाग के दक्षिणी सरकिल की एक रिपोर्ट में प्रकाशित हुआ है। यह रिपोर्ट १९१५–१६ ईसवी की है।

मदरास से जो रेलवे लाइन सीधी कलकत्ते को जाती है, उस पर गंजाम ज़िले में मडासा रोड नाम का एक स्टेशन है। उससे १९ मील उत्तर-पश्चिम महेन्द्रगिरि नामक एक पहाड़ है। उसकी गिनती कुल-पर्व्वतों में है। रामायण और महाभारत ही में नहीं, कितने ही पुराणों और कालिदास के रघुवंश में भी उसका उल्लेख है। बहुत पुराने शिला-लेखों में भी उसका नाम आया है। इसी पर्वत पर किसी समय चार बड़े बड़े मन्दिर थे। उनमें से एक तो प्रायः नाम-शेष हो गया है। उसका बहुत ही थोड़ा भग्नांश बाकी है। पर तीन मन्दिर अब तक विद्य-

मान हैं। अब गवर्नमेंट ने उनकी मरम्मत का भी प्रबन्ध कर दिया है। अतएव अब उनके बहुत समय तक बने रहने की आशा है। इन मन्दिरों के नाम हैं—भीम, युधिष्ठिर और कुन्ती के मन्दिर। इनके ये नाम क्यों पड़े, इसका ठीक ठीक निर्णय या निश्चय रिपोर्ट के लेखक, सुपरिंटेंडेंट लाँगहर्स्ट साहब, नहीं कर सके। क्या इसमें भीम, युधिष्ठिर और कुन्ती की प्रतिमायें स्थापित की गई थीं?

भीम का मन्दिर बहुत छोटा है। वह सिर्फ २२ फुट ऊँचा है। उसके नीचे का भाग चौकोना है। रिपोर्ट-लेखक की राय है कि यह मन्दिर अधूरा ही रह गया; पूरा नहीं होने पाया। वे इसे शिव-मन्दिर समझते हैं और नवीं सदी का बना अनुमान करते हैं। इस मन्दिर में कोई लेख नहीं। दूसरा मन्दिर युधिष्ठिर का है और पूर्वोक्त मन्दिर के बाद का है। उसका ढंग भी भीम-मन्दिर के सदृश है। भेद इतना ही है कि यह उससे बड़ा है और इसमें कारीगरी भी अधिक है। इसके भीतर कुछ पुराने लेख हैं; पर वे पढ़े नहीं गये। बाहर, दरवाज़े पर, एक लेख ग्यारहवीं सदी का है। उसमें तञ्जोर के राजा राजेन्द्र चोल (प्रथम) की कलिंग-विजय का उल्लेख है। इस प्रकार के विजय-निर्देशक लेख जय-स्तम्भों ही पर खोदे जाते थे। पर इस मन्दिर में कोई पत्थर ऐसा नहीं जो स्तम्भ कहा सके। तथापि लेख में जय-स्तम्भ का निर्देश अवश्य है। तीसरे मन्दिर का नाम कुन्ती-मन्दिर है। यह भी प्रायः उसी ढंग का है जिस ढंग का युधिष्ठिर-मन्दिर है। पर यह उसके पीछे का, शायद बारहवीं सदी का है। फिर भी यह कोई सात सौ वर्ष का पुराना है। इसके ताकों पर कुछ मूर्तियाँ हैं, पर वे पीछे रख दी गई हैं। लाँगहर्स्ट साहब की राय है कि इसमें बहुत करके विष्णु की मूर्ति की प्रतिष्ठा की गई होगी।

[जनवरी १९१७.

प्राचीन भारत की कुछ बातें

एच० जी० रालिन्सन, एम० ए० नाम के एक विद्वान् ने एक बड़ी अच्छी पुस्तक लिखी है। उसका नाम है—Intercourse Between India And The Western World। उसकी कुछ बातें सुनिए।

फ़ारिस के बादशाह दारा (Darius) का राज्य पञ्जाब में बहुत दिनों तक था। उसी का नहीं, उसके वंशजों का भी अधिकार पञ्जाब पर बहुत काल तक रहा है। उस समय फ़ारिस का राज्य बीस सूबों में बँटा हुआ था। पञ्जाब उस राज्य का बीसवाँ सूबा था। बौद्ध धर्म्म के प्रचार के अनन्तर पञ्जाब और सिन्ध फारिस के बादशाहों के अधिकार से निकल गये। कई ग्रीक और अर्द्ध-ग्रीक नरेशों का प्रभुत्व इन दोनों प्रान्तों पर हो गया। उन्होंने भी इन प्रान्तों का उपभोग बहुत समय तक किया। पञ्जाब और पश्चिमी भारत के कितने ही ग्रीक लोग हिन्दुओं और बौद्धों में यहाँ तक मिल-जुल गये कि धीरे-धीरे उन्होंने हिन्दू और बौद्ध धर्म्म की दीक्षा भी ले ली। उन्होंने अपने नाम तक बदल डाले। हिन्दू और बौद्ध नाम भी उन्होंने स्वीकार कर लिये। फल यह हुआ कि वे लोग पक्के बौद्ध और पक्के हिन्दू बन गये। उनमें और भारतीय हिन्दुओं और बौद्धों में कुछ भी भेद न रहा। कार्ली और नासिक में बौद्धों के मठों के लिए उन्होंने हज़ारों रुपये तक दान किये। इसके अनन्तर, सन् ई० के कुछ ही पहले, शक लोगों ने भारत में अपने राज्य की स्थापना की। उन्होंने पञ्जाब और सिन्ध को ही अपने अधीन न किया, सुदूर मथुरा तक उनका राज्य फैल गया। प्राचीन समय में भारतीय योद्धाओं की वीरता की इतनी ख्याति थी कि फारिस के बादशाह जरक्सीज़ ने भारतीय

लोगों की एक सेना ही अलग रक्खी थी। इस सेना ने फारिस के आस-पास के देशों में जरक्सीज के शत्रुओं से अनेक युद्ध किये। सम्भव है, ये लोग थर्मापिली के दर्रे के युद्ध में भी शामिल रहे हों। इसके बहुत समय बाद तक भी भारतीय लोग रोम, फ़ारिस और ग्रीस जाते रहे। अलेग्जांड्रिया नामक नगर उस समय बड़ी उन्नत अवस्था में था। वहाँ भी व्यापार आदि के लिए हज़ारों हिन्दू और बौद्ध जाते और बरसों रहते थे। ईसवी सन् के सौ दो सौ वर्ष बाद के रोमन बादशाहों के सिक्के दक्षिणी भारत में मिले हैं। इससे सिद्ध है कि उस समय रोमन राज्य और भारत के बीच खूब व्यापार होता था।

ये स्वप्न की सी बातें पूर्वोक्त पुस्तक की आलोचना करते समय "माडर्न रिव्यू" के सम्पादक ने लिखी हैं।

[फरवरी १९१७.

प्राचीन भारत में युवराजों की शिक्षा

इस नाम का एक लेख "माडर्न रिव्यू" की जनवरी १९१७ की संख्या में प्रकाशित हुआ है। उसके लेखक हैं—बाबू नरेन्द्रनाथ ला (Law), एम० ए०, बी० एल०। उसकी ज्ञातव्य बातें नीचे दी जाती हैं।

प्राचीन समय में प्रायः क्षत्रिय ही राजा होते थे। राजा का नाम लेते ही लोग समझ जाते थे कि वह क्षत्रिय है। कौटिल्य, चन्द्रगुप्त मौर्य्य का समकालीन था। यह ईसा के पहले चौथी सदी की बात है। उसके मत में क्षत्रिय के कर्त्तव्य ये हैं—(१) अध्ययन, (२) यज्ञ, (३) दान, (४) शस्त्राजीव और (५) भूत-रक्षा। पिछले दो कर्त्तव्य प्रायः क्षत्रियों ही के लिए रक्षित थे।

राजपुत्रों को लड़कपन ही से शिक्षा दी जाती थी। शिक्षक नामी होते थे। मुण्डन-संस्कार के बाद ही लिपि और संख्या-ज्ञान अर्थात् गणित की शिक्षा का आरम्भ होता था। ११ वर्ष की अवस्था में क्षत्रियों का यज्ञोपवीत संस्कार होता था। उस संस्कार के पश्चात् बालक उच्च शिक्षा की प्राप्ति का अधिकारी समझा जाता था। उच्च शिक्षा से इन इन विषयों की शिक्षा का बोध होता था—

१—त्रयी और आन्वीक्षिकी। २—वार्त्ता। ३—दण्ड-नीति।

पहले विषयों की शिक्षा देनेवाले शिष्ट कहाते थे। वे पारदर्शी विद्वान् होते थे। दूसरे विषय की शिक्षा अध्यक्षों अर्थात् शासन-विभाग के निरीक्षकों के द्वारा दी जाती थी। वे केवल काल्पनिक शिक्षा न देते थे। उस विषय की पुष्ट व्यावहारिक शिक्षा भी राजपुत्र पाते थे। तीसरे विषय अर्थात् दण्ड-नीति की शिक्षा वक्ता और प्रयोक्ता के द्वारा दी जाती थी। राज्य-सञ्चालन और शासन-कला में जो पक्का पण्डित होता था, वही इन पदों पर नियुक्त किया जाता था।

इनके अतिरिक्त राजकुमारों को पुराण, इतिवृत्त, आख्यायिका, धर्म-शास्त्र और अर्थ-शास्त्र का भी ज्ञान प्राप्त करना पड़ता था। उस समय इतिहास में इन्हीं विषयों का समावेश होता था।

सैनिक शिक्षण राजकुमारों के लिए आवश्यक था। हस्ति-विद्या, अश्व-विद्या, रथ-विद्या और प्रहरण-विद्या का अर्थ सैनिक शिक्षा होता था।

विद्यार्थी को ब्रह्मचारी बन कर शिक्षा ग्रहण करनी पड़ती थी।

दो-पहर के पहले सैनिक शिक्षा और पश्चात् इतिहास-शिक्षा दी जाती थी। शेष समय में, दिन और रात में, वे अपूर्व-ग्रहण—नया पाठ और गृहीत-परिचय—दुहराना—आदि करते थे।

मर्यादा-पालन पर बड़ा ध्यान दिया जाता था। इस प्रकार की शिक्षा के फल का उल्लेख कौटिल्य ने इस प्रकार किया है—

विद्या विनीतो राजाहि प्रजानां विनये रतः।
अनन्यां पृथिवीं भुङ्क्ते सर्वभूतहिते रतः॥

सोलह वर्ष की उम्र में विद्यार्थी का पाठशाला-कार्य्य समाप्त हो जाता था। घर जाने के एक दिन पहले गोदान नाम का एक उत्सव होता था। तब विवाह करके वह अपने जीवन के दूसरे आश्रम में पदार्पण करता था। राजकुमारों की शिक्षा का अन्त यहीं न हो जाता था। घर जाने पर युवराजों को राज्य के भिन्न भिन्न विभागों में, बड़े बड़े अधिकारियों की देख-रेख में, भिन्न भिन्न विषयों का अनुभव कराया जाता था। उन्हें अपनी जिम्मेदारी पर उन उन विभागों का कार्य्य-भार उठाना पड़ता था। फिर उन्हें सेना-नायक का काम सौंपा जाता था। इसके पश्चात् राज्य-पदारूढ़ नरपतियों के साथ रह कर उनको शासन-कला का असली ज्ञान कराया जाता था। इन सब विषयों में प्रवीणता प्राप्त कर चुकने पर राज-कुमार शासन-योग्य समझा जाता था।

[मार्च १९१७.

बग़दाद

जिस बग़दाद को ब्रिटिश गवर्नमेंट ने ११ मार्च १९१७ को हस्तगत किया, वह बहुत पुराना और बड़ा प्रसिद्ध ऐतिहासिक नगर है। पर इस समय वह एक साधारण शहर रह गया है।

इस शहर को मुसलमानों के अब्बासिया ख़लीफ़ा मंसूर ने, ७६२ ईसवी में, बसाया। ७७५ ईसवी में उसने उसे अपनी राजधानी बना दिया। इसके बाद कोई १०० वर्षों तक बग़दाद संसार का सबसे प्रसिद्ध और धनशाली शहर रहा। उन्नति के समय उसकी आबादी कोई बीस लाख थी। उस समय वह अरबी भाषा में अनेक विद्याओं का केन्द्र था। अथवा यह कहना चाहिए कि मुसलमानों का वह विश्व-विद्यालय था। बग़दाद के ख़लीफ़ों ने वहाँ पर एक बहुत बड़ा पुस्तकालय स्थापित किया था। वे बड़े विद्या-व्यसनी थे। उनके दरबार में सैकड़ों कवि, दर्शन-शास्त्री और विज्ञान-वेत्ता रहा करते थे। यूनानियों, हिन्दुओं और चीनियों की अच्छी अच्छी पुस्तकों का अनुवाद कराया जाता था। अन्यान्य देशों में जो विद्यायें या कलायें थीं, उनका प्रचार अपने यहाँ करने की खूब चेष्टा की जाती थी। बग़दाद में इतने बड़े बड़े महल, मसजिदें, मदरसे और सरायें आदि थीं जिन्हें देख कर अन्य देशवाले आश्चर्य-चकित रह जाते थे। हारूनुर्रशीद बड़ा नामी ख़लीफ़ा हुआ। उसने ७८६ से ८०९ ईसवी तक राज्य किया। उसके समय में बग़दाद ने बड़ी उन्नति की। उसके राज्य-काल में धन-धान्य और विद्या-कला आदि की अत्यधिक वृद्धि हुई।

इसके कुछ समय बाद फूट ने अपना काम आरम्भ कर दिया। बुरे दिन आने लगे। फल यह हुआ कि बग़दाद के ख़लीफ़ा के राज्य का विस्तार

सङ्कुचित होते होते केवल बग़दाद और उसके इर्द-गिर्द कुछ ही दूर तक रह गया। ख़लीफ़ा लोग अपने वज़ीरों और फ़ौजी अफ़सरों के हाथ की कठ-पुतली मात्र बन गये। होते होते यह नौबत आई कि, १२५८ ईसवी में, अर्थात् राज्य स्थापित होने के कोई ५०० वर्ष बाद, बग़दाद बुरी तरह लूटा और फूँका गया। वहाँ कत्लेआम हुआ। बग़दाद की ऊर्जितावस्था मिट्टी में मिल गई। हलाकू ख़ाँ मुग़ल ने यह सब किया। उसी ने आख़िरी खलीफ़ा को, २१ मार्च १२५७ के दिन, फाँसी पर लटका दिया। झुण्ड के झुण्ड नगर-निवासी, बराबर ४० दिन तक, शहर के बाहर निकाल निकाल कर मार डाले गये। बग़दाद का विख्यात पुस्तकालय और अनेक उमदा उमदा इमारतें जला दी गईं।

बग़दाद में मुग़लों या मंगोलों के मुख्तलिफ़ फ़िरक़ों का अमल-दख़ल १२५८ से १५०८ ईसवी तक रहा। इसके बाद वह फ़ारिस के बादशाहों के अधिकार में आया। १६३८ ईसवी में रूम के सुलतान मुराद ने ३ लाख सेना लेकर उसे छीन लिया। तब बग़दाद में फिर एक दफ़े बड़ा भारी क़त्लेआम हुआ। तब से बग़दाद पर तुर्कों ही की सत्ता रही। अठारहवीं सदी में नादिर शाह ने उसे घेरा, पर ले न सका। इन्हीं आक्रमणों और राज्य-परिवर्तनों के कारण बग़दाद का वैभव दिन पर दिन नष्ट होता चला गया। अब तो वह एक मामूली शहर रह गया है। न वहाँ पहले के सदृश बड़ी बड़ी इमारतें हैं, न पुस्तकालय, न विश्वविद्यालय, न धन-वैभव। तथापि एशिया माइनर का वह अब भी प्रसिद्ध नगर है। कई अच्छी अच्छी मसजिदें और सरायें वहाँ हैं। व्यापार भी वहाँ खूब होता है। कई राज्यों के राज-दूत भी वहाँ रहते हैं। अनेक जातियों के लोग वहाँ वाणिज्य-व्यापार करते हैं। पुराने नगर के ध्वंस दूर दूर तक पाये जाते हैं।

वर्तमान बग़दाद टाइगरिस नदी के दोनों किनारों पर घना बसा हुआ है। उसकी आबादी कोई डेढ़ लाख होगी। गलियाँ तङ्ग और बे-

क़ायदे हैं। कूड़ा उठाने और गन्दा पानी निकालने का ठीक प्रबन्ध नहीं। आबोहवा अच्छी नहीं। पीने का पानी नदी से आता है। शहर के आस-पास पेड़ नहीं। बसरा से बग़दाद तक टाइगरिस नदी में धुआँकश और बड़ी बड़ी नावें आ जा सकती हैं। उनके द्वारा अब भी बहुत व्यापार होता है। आशा है, सरकार अँगरेज़ की कृपा से अब उसके दिन फिर पलटेंगे। अनेक दृष्टियों से यह नगर बड़े महत्त्व का है। यहाँ तक रेल भी है। फारिस, टर्की, आसीरिया आदि से वहाँ व्यापार होता है। सैकड़ों क़ाफ़िले आते जाते रहते हैं। ख़लीफ़ों के समय में टाइगरिस और यूफरटिज़, ये दोनों नदियाँ एक नहर से जोड़ दी गई थीं और शहर के क़रीब क़रीब सभी मकानों में नहरों से पानी पहुँचाया जाता था। ये नहरें मौजूद हैं। कुछ ही परिश्रम से वे फिर अपना काम कर सकती हैं।

[अप्रैल १९१७.

संसार के पुराने पुस्तकालय

यों तो पुस्तकालयों अथवा पुस्तकों के संग्रहों का पता बहुत प्राचीन काल में भी लगता है; परन्तु सब से पहला विख्यात पुस्तकालय, जिसका पता अभी तक चला है, अकद या अगेद में था। मेसोपोटामिया के अन्तर्गत अकद एक छोटा सा शहर था। ईसवी सन् के कोई तीन हज़ार वर्ष पहले वहाँ सरगान नाम का एक राजा था। उसी ने इस पुस्तकालय को अपने राजमहल में स्थापित किया था। इस के पहले वहाँ के पुजारी, अपने मन्दिरों में, विशेष करके देवी-देवताओं से सम्बन्ध रखनेवाली पुस्तकों ही का संग्रह किया करते थे।

इसके कोई २५०० वर्ष बाद असीरिया की राजधानी, निनवा, में एक पुस्तकालय स्थापित किया गया। उसका स्थापन-कर्त्ता था वहाँ का नरेश असुर-बनीपाल। वह स्वयं बड़ा विद्वान् और विद्या-व्यसनी था। यह बात ईसवी सन् के ६६७ वर्ष पहले की है।

आज से सौ वर्ष पहले तक इन दोनों पुस्तकालयों का पता किसी को भी न था। पर अब तो उनमें रक्खी गई पुस्तकें तक को आप देख और पढ़ सकते हैं। उनमें सब पुस्तकें मिट्टी की ईंटों पर खुदी हुई हैं और कितनी ही मिट्टी के गोल गोल बेलनों पर। पूर्वोक्त शहर जब लूटे गये और बरबाद हुए, तब ये पुस्तकालय मिट्टी के ढेरों में दब गये थे। कोई सौ वर्ष हुए, पुराने डीह खोद खोद कर ये निकाले गये हैं।

ग्रीस की सभ्यता के विकाश के साथ साथ, अर्थात् ईसवी सन् के पहले तीसरी या चौथी शताब्दी से पुस्तक-संग्रहों की विशेष बढ़ती होने लगी। कितने ही स्थानों पर पुस्तकालय खुले। परन्तु उनमें से

बहुत बड़ा और विख्यात पुस्तकालय अलक्जेंड्रिया का था। ग्रीस और ईजिप्ट अर्थात् यूनान और मिस्र देश की भाषाओं में फुटकर विषयों पर लिखी गई दो तीन लाख पुस्तकें उसमें संग्रह की गई थीं। उस समय मिस्र में कागज की जगह पर पेपरिस नाम की एक चीज़ काम में लाई जाती थी। उसी पर विशेष करके ये पुस्तकें लिखी गई थीं। वे जन्म-पत्रियों के सदृश लम्बी लम्बी थीं और लपेट कर रक्खी गई थीं। उस समय तक जितनी विद्यायें ज्ञात थीं, सब पर पुस्तकें प्राप्त की गईं और लिखा कर रक्खी गई थीं। यह पुस्तकालय प्रायः पाँच सौ वर्षों तक विद्या-वृद्धि करता रहा। पीछे ईसाइयों के दो फिरकों में लड़ाई हुई और यह पुस्तकालय जला दिया गया।

ईसवी सन् के शुरू होने के बाद से पुस्तकें एकत्र करने का रिवाज बहुत ही बढ़ गया। हर एक ईसाई महन्त के मठ में और हर राजमहल में भी छोटा-मोटा पुस्तकालय स्थापित हो गया। परन्तु ३०० ईसवी से लेकर १५०० ईसवी तक दो ही सुप्रसिद्ध पुस्तकालय थे। एक तो कुस्तुन्तुनिया (कान्स्टेन्टिनोपल) के बादशाह के राजमहल का और दूसरा रोम के पोप के राजमहल का। उस समय काग़ज़ पर लिखने की प्रथा प्रचलित हो गई थी। परन्तु पुस्तकों की जिल्दें न बाँधी जाती थीं। हमारी पोथियों की तरह पत्रे अलग अलग होते थे।

पन्द्रहवीं सदी में छापने की कल जारी हुई। तब से तो पुस्तक-संग्रहों और पुस्तकालयों की संख्या बहुत ही बढ़ गई। अब तो बड़े बड़े आदमियों के घरों में भी इतने बड़े बड़े पुस्तकालय हैं जितने पहले राजमहलों में भी न थे। इस समय लन्दन, पेरिस, न्यूयार्क और बर्लिन के पुस्तकालय दुनिया भर में प्रसिद्ध हैं। इनमें से प्रत्येक में दस दस लाख से ज़ियादह पुस्तकें हैं।

महात्मा कनफूसियस के चेलों ने चीन में जो ग्रन्थ-संग्रह किया तथा महात्मा बुद्ध के चेलों ने भारत में जो पुस्तकें एकत्र कीं, उनका ज़िक्र

इस नोट में नहीं किया गया; क्योंकि उन की विशेष प्रसिद्धि नहीं है। चीन में तो ईसवी सन् के पहले की दो चार किताबें मिलती भी हैं; परन्तु भारतवर्ष में वे भी नहीं। भारत में ईसवी सन् के पहले की पुस्तकों के हवाले अलबत्ते मिलते हैं। उस समय लोग बड़ी बड़ी पुस्तकें कण्ठाग्र कर लेते थे। इस कारण भी उस समय की अनेक प्राचीन पुस्तकों की रक्षा हुई है। पर उस की हस्त-लिखित पुस्तकें यहाँ नहीं मिलतीं।

[मई १९१७.

भारत के प्राचीन नरेशों की दिन-चर्या

स्मृति और पुराण इत्यादि अनेक संस्कृत ग्रन्थों में इस विषय का वर्णन मिलता है। कौटिल्य के अर्थ-शास्त्र में भी इसका उल्लेख है। कौटिल्य के मतानुसार राजों की दिन-चर्या अर्थात् दैनिक कार्य-क्रम इस प्रकार था—

दिन—(१) ६ बजे से ७½ बजे तक—देश-रक्षा का विचार और कोष की देख-भाल।

(२) ७½ बजे से ९ बजे तक—नगर और प्रान्त-निवासियों के अभियोगों पर विचार।

(३) ९ बजे से १०½ बजे तक—स्नान, भोजन और अध्ययन।

(४) १०½ बजे से १२ बजे तक—माल के अफसरों से रुपये-पैसे का हिसाब।

(५) १२ बजे से १½ बजे तक—अनुपस्थित मन्त्रियों से पत्र-व्यवहार।

(६) १½ बजे से ३ बजे तक—मनोरञ्जन या आत्म-विचार।

(७) ३ बजे से ४½ बजे तक—हय, गज, रथ और पदाति का निरीक्षण।

(८) ४½ बसे ६ बजे तक—सेनापति से परामर्श; सायं समय सन्ध्या-वन्दन।

रात्रि (१) ६ बजे से ७½ बजे तक—जासूसों तथा अन्य गुप्त कार्य्य-कर्त्ताओं से बात-चीत।

(२) ७½ बजे से ९ बजे तक—भोजन और अध्ययन।

(३) ९ बजे से १०½ बजे तक—अन्तःपुर-प्रवेश।

(४), (५) और (६) १०½ से ३ बजे तक—निद्रा, विजय-घोष के साथ निद्रा-त्याग और प्रातः स्मरण।

(७) ३ बजे से ४½ बजे तक—राजसभा का आवाहन और गुप्त-चरों को अपने अपने काम पर भेजना।

(८) ४½ बजे से ६ बजे तक—उपाध्यायों और पुरोहितों से आशीर्वाद-ग्रहण, वैद्यों, ज्योतिषियों और प्रधान पाचक से वार्तालाप और बछड़े सहित गाय की परिक्रमा करके दरबार में पदार्पण।

यह दिन-चर्या सर्व-सामान्य है। नरेश विशेष, अपने सुभीते के अनुसार, इसमें परिवर्तन भी कर लिया करते थे। इससे यह भी जाना जाता है कि प्राचीन समय में भारतीय नरपति राज-काज में अपना कितना अधिक समय लगाते थे। निद्रा के समय को छोड़ कर सिर्फ ३ घण्टे उन्हें राजकार्य से छुट्टी रहती थी। इस सूची से यह जाना जाता है कि प्रातःकाल ७½ बजे ९ से तक राजा लोग प्रजा-जनों से मिलते और उनकी शिकायतें स्वयं सुनते थे। आज-कल के बहुत कम राजों में यह प्रवृत्ति पाई जाती है।

[मई १९१७.

ज्वाला उगलनेवाली शृगालियाँ

रघुवंश के सोलहवें सर्ग में राजा कुश का वर्णन है। जिस समय वह राजा हुआ, अयोध्या नगरी उजाड़ पड़ी थी। वह नगरी, एक रात को, सुन्दरी नारी के वेश में, कुश के अन्तःपुर में प्रविष्ट हुई। कुश ने पूछा—देवी, तुम कौन हो? उसने अपना नाम बताया और अपनी उजड़ी हुई दशा का कारुणिक वर्णन किया। और और बातों के सिवा उसने यह भी कहा—

निशासु भास्वत्कल नूपुराणां यः सञ्चरोऽभूदभिसारिकाणाम् ।
नदन्मुखोल्काविचितामिषाभिः स वाह्यते राजपथः शिवाभिः ॥१२॥

अर्थात्—जिन राजमार्गों में दीप्तिमान् नूपुरों की झङ्कार करती हुई अभिसारिका स्त्रियाँ चलती थीं, वहीं अब शोर मचाती हुई शृगालियाँ फिरा करती हैं। चिल्लाते समय उनके मुँह से आग की चिनगारियाँ निकलती हैं। उन्हीं के प्रकाश में वे मुर्दा जानवरों का मांस ढूँढ़ा करती हैं।

यह बहुत पुरानी किंवदन्ती है कि चिल्लाते समय शृगालियों के मुँह से अग्नि—कम से कम प्रकाश—निकलता है। शकुन-सम्बन्धी ग्रन्थ वसन्तराज में लिखा है—

कुबेरकाष्ठां प्रति यः प्रयाति ज्वालामुखी वाभिमुखी विरौति ।
तस्याध्वगस्याभिमतार्थ सिद्धिर्भवेच्च सम्पत्ति फलागमश्च ॥

इसमें "ज्वालामुखी" पद शृगाली ही का विशेषण है। श्रीमद्भागवत के भी पहले स्कन्ध के चौदहवें अध्याय में लिखा है—

शिवैषोद्यन्तमादित्यमभिरौत्यनलानना ।

इसमें भी वही "अनलानना" अर्थात् ज्वालामुखी पद, शिवा (शृगाली) ही के लिए आया है। इससे सूचित है कि प्राचीन समय में लोगों का विश्वास था कि शृगालियों के मुँह से आग निकलती है। पर मुँह से आग क्यों और कैसे निकलती है और शृगालियाँ उससे जल क्यों

नहीं जातीं, इसका क्या समाधान ? कई विद्वानों से हमने इस विषय में पूछ-ताछ की, पर किसी ने ठीक उत्तर न दिया। उस दिन हम नवम्बर १८१९ का "माडर्न रिव्यू" नामक मासिक-पत्र देख रहे थे। उसमें "जापान मैगज़ीन" के एक लेख के कुछ अंश उद्धृत थे। लेख का विषय था—पशु जासूस। जापान में बहुत पुराने जमाने से जासूसी के कितने ही काम जानवरों से लिये जाते हैं। अब तो इस काम में और भी उन्नति हुई है। जासूसी के लिए कुत्ते, चूहे और लोमड़ियाँ ही विशेष कर काम में लाई जाती हैं। लोमड़ी के विषय में उक्त लेख में लिखा है—

"The fox can even make light for his master when the darkness is too extreme. All that the master has to do is to give him a certain kind of bone to carry, and as he breathes on it, there is an emission of phosphorescence that the man can easily see and follow the animal. The bone can be picked up often in the mountains where skeltons of dead animals are found."

मतलब यह कि एक विशेष प्रकार की हड्डी मुँह में दबाने पर लोमड़ी का श्वास-वायु जो उस पर पड़ता है, तो वह चमक उठती है। इसका कारण फास्फर है। पर यह हड्डी कौन सी है—शरीर के किस भाग की और किस जानवर की है, इसका विवेचन लेख में नहीं। लोमड़ी और शृगाल प्रायः एक ही जाति के जानवर हैं। सम्भव है, शृगालों और शृगालियों के श्वास से भी वह अस्थि-विशेष चमकने लगती हो। क्या आश्चर्य जो कालिदास के समय में भारत में भी वही धारणा रही हो जो जापान में थी और अब भी है। अतएव ऊपर दिये गये रघुवंश के श्लोक में जिस उल्का या ज्वाला का उल्लेख है, वह अस्थि-विशेष विषयक फास्फर की ही चमक हो सकती है। शरीर-शास्त्र और विज्ञान के विशेषज्ञों को इसकी खोज करनी चाहिए।

[जनवरी १९२०.

ब्राह्मण-ग्रन्थ

इस देश के धर्म्म-प्राण पण्डितों का कथन था और अब भी है कि मन्त्र-संहिता और ब्राह्मण-भाग, ये दोनों ही मिल कर वेद नाम से विख्यात हैं। वे कहते हैं कि जिनको हम वेद कहते हैं, उनकी रचना गद्य में भी है और पद्य में भी। पद्य-भाग का नाम मन्त्र और गद्य-भाग का नाम ब्राह्मण है। परन्तु आज-कल के नये ढङ्ग के वेदज्ञ विद्वान् कहते हैं कि बात ऐसी नहीं। वेदों की रचना, चाहे जिसने की हो, पहले हुई। उनके मन्त्र भाग का प्रायः प्रत्येक मन्त्र, पद्य या सूक्त अपना अलग इतिहास रखता है। क्यों उस मन्त्र की रचना हुई? किस काम में वह आता रहा? यह सब भूत-पूर्व वैदिक ब्राह्मणों को मालूम था। जैसे जैसे समय बीतता गया, लोग उन बातों को भूलते गये। यज्ञादि-प्रसंग में ऋत्विक् कुछ का कुछ करने या कहने लगे। यह देख कर वेदों के बचे-खुचे ज्ञाताओं को दुःख होने लगा। उन्होंने सोचा, यदि यही दशा रही तो किसी समय याग-यज्ञ का विधिवत् होना असम्भव हो जायगा। इससे इसका कुछ इलाज करना चाहिए। तब यह निश्चय हुआ कि कुछ रचना ऐसी की जाय जो गद्य में हो। उसमें नियम निर्दिष्ट हो जायँ कि यज्ञ में किस मन्त्र का, किस सम्बन्ध में प्रयोग किया जाय। उसमें मन्त्रों का संक्षिप्त इतिहास भी रहे; और उससे सम्बन्ध रखनेवाली, यदि कोई हों तो, गाथायें या कथायें भी रहें। यह व्याख्यान भाग वेदों के अन्तर्गत ही रक्खा जाय। ऐसा करने से याज्ञिकों को बहुत सुभीता होगा। उन्हें प्रत्येक मन्त्र का इतिहास और उसके प्रयोग की विधि यथा-स्थान मालूम हो जायगी; और फिर, आज-कल की तरह, मन्त्रों का दुरुपयोग

न हो सकेगा। याद रखिये, यह युक्ति नवीन पण्डितों की है—उन पण्डितों की जो यह नहीं मानते कि सूर्य्य, चन्द्रमा और तारा-गणों के सदृश वेदों को भी ईश्वर ही ने बनाया है या मन्त्र-कर्त्ता ऋषियों के हृदय में प्रविष्ट होकर उनके मुख से वेद बाहर कराये हैं।

यह हवा उस समय इतने ज़ोरों से चली कि ब्राह्मण पर ब्राह्मण बनने लगे। वेदों की भी शाखायें हैं। प्रत्येक शाखा के वेद-पाठियों के वेद-पाठ में कुछ अन्तर है। इसी से इस शाखा-भेद की उत्पत्ति हुई है। हर शाखावाले वेदज्ञों ने अपने अपने ब्राह्मण बना डाले। किसी किसी शाखा में तो एक नहीं अनेक ब्राह्मण हो गये। फल यह हुआ कि अनन्त ब्राह्मणों की सृष्टि हो गई। उनमें से कुछ तो अब भी उपलब्ध हैं; कुछ के नाम-मात्र यत्र-तत्र अन्य ब्राह्मणों में पाये जाते हैं; कुछ अधिकांश लुप्त या नष्ट हो गये। बचे हुओं में से मुख्य मुख्य के नाम सुन लीजिए—

(१) ऋग्वेद के दो ब्राह्मण—ऐतरेय या आश्वलायन और कौशीतकी या सांख्यायन।

(२) यजुर्वेद के दो—तैत्तिरीय और शतपथ।

(३) सामवेद के तीन—पञ्चविंश, षड्विंश और छान्दोग्य।

(४) अथर्ववेद का एक—गो-पथ।

इन ब्राह्मण-ग्रन्थों को देखने और ध्यान से पढ़ने से मालूम होता है कि उस समय यज्ञों का कितना महत्व था। ऐतरेय ब्राह्मणों में सोम-यज्ञ का बहुत विस्तृत वर्णन है। जिस शुनःशेफ को राजा हरिश्चन्द्र ने यज्ञ-पशु बनाना चाहा था, उसका भी वर्णन इसी ब्राह्मण में है। कौशीतकी ब्राह्मण में ईशान और महादेव के नाम आये हैं, जिनसे सूचित होता है कि हमारे शिवालयों के शिव जी उस समय भी पूजे नहीं, तो स्मरण जरूर किये जाते थे। शतपथ ब्राह्मण बहुत बड़ा ग्रन्थ है। उसे पढ़ने से कितनी ऐतिहासिक बातों का भी पता चलता है। उसमें अर्हत, श्रमण

और गौतम आदि शब्दों के दर्शन होते हैं। इससे कुछ लोग प्रश्न करते हैं कि क्या उस समय बौद्ध धर्म्म का आविर्भाव हो गया था? पुरूरवा और उर्वशी की कथा भी इस ब्राह्मण में है।

[मार्च १९२०.

तिब्बती भाषा में एक प्राचीन संस्कृत ग्रन्थ

कभी कभी संस्कृत भाषा में किसी ऐसे प्राचीन ग्रन्थ का पता लग जाता है जिससे भारत के प्राचीन ग्रन्थकारों और विद्वानों की कीर्ति और भी उज्ज्वल हो उठती है। जान पड़ता है, जितने ग्रन्थ इस समय इस भाषा में उपलब्ध हैं, उनसे सैकड़ों गुने अधिक ग्रन्थ किसी समय इस देश में विद्यमान थे। उनमें से अधिकांश, समय के फेर से, नष्ट हो गये। कुछ देश-विप्लव की आग में जल गये। जो बचे, उनमें से सैकड़ों नहीं हजारों ग्रन्थ इँगलैंड, जर्मनी, रूस, फ्रांस आदि देशों के प्रसिद्ध प्रसिद्ध पुस्तकालयों में पहुँच गये। उनका इस प्रकार विदेश को ढोया जाना आज कोई सौ दो सौ वर्षों से जारी है। अभी कुछ ही समय हुआ, नेपाल राज्य के पुस्तकागार से सहस्रशः अनमोल और दुष्प्राप्य ग्रन्थ, लार्ड कर्ज़न की सूचना या सिफारिश के कारण, स्थल की राह विलायत जा पहुँचे। फिर भी कभी कभी बड़े ही महत्त्व के प्राचीन ग्रन्थ यत्र-तत्र निकल आते हैं। हम लोग अब तक समझते थे कि प्राचीन काल में हमारे विद्वानों ने शिल्प-शास्त्र पर कोई अच्छा ग्रन्थ नहीं लिखा। जो दो-एक पुस्तकें इस समय पाई जाती हैं, वे विशेष महत्त्व की नहीं। पर यह केवल भ्रम था। इस भ्रम को दूर किया जर्मनी ने। सुना साहब! न हमने, न और ही किसी घनिष्ठ सम्बन्ध रखनेवाले देश ने। हमारा दशचित्र-लक्षण नामक ग्रन्थ, नहीं मालूम कितना समय हुआ, तिब्बत पहुँचा था। तिब्बती भाषा में वहाँ उसका अनुवाद हुआ। फिर वह अनुवाद भारत आया। भारत में उसकी एक प्रति

तञ्जोर के प्राचीन पुस्तकागार में पड़ी पड़ी सड़ती रही। किसी तरह वह जर्मनी पहुँची। वहाँ लाफर नाम के एक पण्डित ने उसका अनुवाद, अपनी भाषा में, किया और १९१३ ईसवी में लेपज़िक की एक पुस्तक-माला में उसे प्रकाशित किया। इस बात का पता हम लोगों को अब कहीं चला है। पुस्तक में तिब्बती मूल भी है। उसका अँगरेजी अनुवाद हो जाने से शिल्प-शास्त्र विषयक अनेक प्राचीन बातें मालूम हो सकती हैं। कुछ विद्वान् भारतवासी जर्मन भाषा भी पढ़ सकते हैं। सम्भव है, इस पुस्तक का अध्ययन करके वे इसमें वर्णित वस्तु का परिचय और लोगों को भी कराने की कृपा करें।

[मई १९२०.

प्राचीन भारत में लोक-सत्तात्मक राज्य

जब से पश्चिमी देशों के कुछ बड़े विख्यात विद्वद्वीरों ने यह कह दिया है कि भारत में कभी भी प्रजातन्त्र राज्य न था—अपने काम-काज का प्रबन्ध आप ही कर लेने का अधिकार भारतवासियों ने कभी नहीं पाया—तब से इस कथन के खण्डनात्मक लेखों का तूफ़ान सा आ गया है। आज कई साल से कितने ही भारतीय विद्वान् यह सिद्ध कर रहे हैं कि किसी समय हम लोग अपना राज्य आप ही करते थे—बहुत कुछ राजसत्ता हमारे ही हाथ में थी। इस विषय की कई पुस्तकें भी अँगरेज़ी में लिखी जा चुकी हैं; और कई लिखी जा रही हैं। इस विषय के लेखों की तो गिनती ही नहीं। पुरातत्वज्ञों के इस विषय के अँगरेज़ी लेखों के अनुवाद, सार और सङ्कलन देशी भाषाओं में भी प्रकाशित हो रहे हैं। कोई वेदों से प्रजा-सत्ताक संस्थाओं का अस्तित्व साबित करता है, कोई पुराणों से, कोई स्मृतियों से, कोई बौद्धों और जैनों के ग्रन्थ-साहित्य से। रामायण और महाभारत से अवतरण दे देकर यह बताया जाता है कि भारत के बड़े बड़े राजा-महाराजों को भी प्रजा की सम्मति ही से राज्याधिकार मिलता था। रीज़ डेविड्स नाम के एक साहब ने बौद्ध-कालीन भारत का इतिहास, अँगरेज़ी में, लिखा है। उसमें तो उन्होंने यहाँ तक लिख दिया है कि पुरुषों ही को नहीं, उस ज़माने में स्त्रियों तक को राज-काज करने का अधिकार प्राप्त था। सड़कों और राहों की मरम्मत कराने, पान्थ-शालायें अर्थात् सरायें बनवाने, तालाब खुदाने और सब लोगों के बैठने के लिए बारादरियाँ बनवाने के विषय में स्त्रियाँ भी, पुरुषों के साथ बैठकर, सलाह-मशविरा करती थीं। इस प्रकार के सर्वोपयोगी कामों में वे उत्साह-

पूर्वक पुरुषों की सहायता करती थीं। इन पुरानी बातों को खोज निका-लने से लाभ अवश्य है। इससे ज्ञान-वृद्धि अवश्य होती है और अपने पूर्वजों की योग्यता का पता लग जाने से उनके विषय में पूज्य बुद्धि भी उत्पन्न होती है। पर इस इतनी सी बात से हम उन पुरानी संस्थाओं की संस्थापना नये सिरे से नहीं कर सकते। जिनके हाथ में ये बातें करने की शक्ति है, वे यदि हमें इसके योग्य न समझें तो रीज़ डेविड्स के दिये हुए प्रमाण कुछ काम नहीं आ सकते। प्राचीन भारत में जो कुछ था, वह लौटा लाने की शक्ति हम में नहीं। समय और संयोग ने भारत को कुछ का कुछ बना डाला है। अब पुरानी पोथियों के पन्ने उलटने ही से सब काम नहीं हो सकता। पुरानी बातों का स्मरण करते हुए, समय के अनुकूल, नये ढंग से काम करने ही से अभीष्ट-सिद्धि होगी। पुरानी बातों में, आज-कल की दृष्टि से, कुछ दोष यदि हों तो उनसे बचकर चलने की चेष्टा करनी होगी। कुछ लेखक तो भारत की पुरानी प्रजातन्त्रता सिद्ध करने के लिए, संस्कृत भाषा के ग्रन्थ-साहित्य के वचनों का अर्थ करते समय, कहीं कहीं बहुत ही अधिक बहक जाते हैं। जो नहीं था, उसे "था" सिद्ध करने के लिए शब्दार्थ पर अत्याचार करना इतिहासज्ञता और विद्वत्ता का सूचक नहीं। स्वराज्य की प्राप्ति इसी पर आश्रित नहीं।

[मई १९२०.

मध्य भारत के कुछ प्राचीन मन्दिर

जैसे भारत के अनन्त ग्रन्थ-रत्न नष्ट हो गये, वैसे ही रक्षकों के अभाव में अनन्त इमारतें भी नष्ट हो गईं। ग्रन्थों के नाश का कारण तो अज्ञान, अविवेक और राज-विप्लव के सिवा उनकी स्वाभाविक आयुर्मर्यादा भी हुई; क्योंकि भूर्ज-पत्र, ताड़-पत्र और काग़ज़ पर लिखे हुए ग्रन्थ कुछ ही समय तक ठहर सकते हैं, दो चार हज़ार वर्षों तक नहीं। पर प्राचीन मन्दिरों, प्रासादों और अन्य इमारतों के असमय नाश का प्रधान कारण राजा या राजपुरुष ही कहे जा सकते हैं। अन्य धर्मावलम्बी धर्मान्धों के आक्रमण से यदि बच जायँ तो, रक्षा करने से, वे हज़ारों वर्ष तक खड़े रह सकते हैं। यह काम उन इमारतों के मालिकों का नहीं। वे तो अल्प काल ही में मृत्यु के गाल में चले जाते हैं और उनके वंशज, यदि विद्यमान भी रहते हैं तो, असमर्थता के कारण उनकी रक्षा नहीं कर सकते। यदि कोई कर सकता है तो देश या प्रान्त का राजा ही कर सकता है। परन्तु बड़े खेद की बात है, कुछ प्रसिद्ध प्रसिद्ध मन्दिरों को छोड़कर अन्य इमारतों की रक्षा की ओर इस देश के राजपुरुषों ने बहुत ही कम ध्यान दिया है। जिन अल्पसंख्यक मन्दिरों की रक्षा हुई है, उनके रक्षक राजपुरुष तो कम, उनके पण्डे-पुजारी ही अधिक थे। यह काम उन्होंने अपने लाभ—अपने स्वार्थ—की प्रेरणा से किया है; प्राचीन कारीगरी की रक्षा करना अपना धर्म्म समझ कर नहीं। भारत के राजे-महाराजे, अमीर-उमरा आदि यदि प्राचीन कारीगरी की रक्षा करना भी महत्त्व का काम समझते तो इस समय भी यहाँ के छोटे छोटे गाँवों तक में हजारों वर्ष के पुराने मन्दिर देख पड़ते। बड़े ही परिताप की बात है, ये

प्रायः सारे के सारे मन्दिर गिर कर नष्ट हो गये; और इनके साथ ही साथ उस समय की वास्तु विद्या के नमूने भी नष्ट हो गये। फल यह हुआ है कि पुराने डीहों और टीलों को खोद कर पुरातत्व महकमे के अफसरों को कहीं एक खम्भे, कहीं एक छज्जे, कहीं एक मेहराब का पता लगाना पड़ता है। पुरानी इमारतों के नाश से भारत की बड़ी हानि हुई है। जिस तरह पुराने ग्रन्थों की रक्षा से पुञ्जीभूत प्राचीन ज्ञान रक्षित रहता है, उसी तरह पुरानी इमारतों की रक्षा से प्राचीन कारीगरी बनी रहती है। इन वस्तुओं से भावी सन्तति को बड़े बड़े लाभ होते हैं। अस्तु। अब नष्ट हुई चीज़ों की याद में आँसू बहाना व्यर्थ है।

अभी भारत में सहस्रशः प्राचीन मन्दिर बे-मरम्मत पड़े हुए हैं। इनमें से कितने ही बहुत पुराने हैं। छः-छः सात-सात सौ वर्ष के पुराने मन्दिर तो ढूँढ़ने से बहुधा हर जिले में मिल सकते हैं। देशी रियासतों में भी उनकी संख्या कम नहीं। पर अब भी उनकी मरम्मत का ठीक ठीक प्रबन्ध नहीं। अकेला पुरातत्व विभाग इनकी रक्षा नहीं कर सकता; और करना भी चाहे तो बेचारी सरकार रुपया कहाँ से लावे! वह जिन कामों को अधिक जरूरी समझती है, उन्हीं के लिए अधिक खर्च करती है; मन्दिरों की रक्षा के लिए नहीं।

उस दिन हम पुरातत्व विभाग की एक रिपोर्ट पढ़ने लगे। रिपोर्ट पश्चिमी सर्किल की थी। उसका सम्बन्ध अप्रैल सन् १९१९ से मार्च सन् १९२० तक के साल से था। उसमें देखा तो इस महकमे के सुपरिंटेंडेंट, बाबू राखालदास बैनर्जी, ने अनेक ऐसे मन्दिरों का उल्लेख किया था जो बहुत पुराने भी हैं और जिनकी कारीगरी भी बहुत अच्छी है, पर जो बे-मरम्मत और टूटी-फूटी दशा में पड़े हैं। केवल इन्दौर राज्य ही में ऐसे मन्दिरों की संख्या सैकड़ों होगी।

एक छोटे से गाँव कोहल ही को लीजिए। बी० बी० ऐण्ड सी० आई० रेलवे के गरोठ स्टेशन से एक सड़क भानपुरे को जाती है। उसी से जाने

पर, मानपुरे से छः मील की दूरी पर, कोहल गाँव है। इस छोटे से गाँव में कई विशाल मन्दिर हैं। उनमें सबसे बड़ा मन्दिर वराह का है। वह कोई पाँच सौ वर्ष का पुराना है और पतनोन्मुख है। बेनर्जी महाशय ने इस मन्दिर की कारीगरी की बड़ी प्रशंसा की है। इसमें वराह की जो मूर्ति है, वह तो बड़ी विशाल है ही, विष्णु की भी एक ऐसी अच्छी मूर्ति है जैसी बहुत कम देखी गई है। इनके सिवा ब्रह्मा, बलराम, वामन, बदरीनारायण, शिव, दुर्गा, वाराही आदि देवी-देवताओं की भी अनेक मूर्तियाँ हैं, जो मूर्ति-निर्माण कला के उत्तम नमूने हैं। एक मन्दिर लक्ष्मीनारायण का भी दर्शनीय है। इस मन्दिर में अनेक पौराणिक दृश्यों की दर्शनीय मूर्तियाँ हैं। एक मन्दिर चतुर्भुज का भी है। उसकी बनावट और कारीगरी प्रायः लक्ष्मीनारायण ही के मन्दिर के सदृश है। जैनियों के भी दो बड़े बड़े मन्दिर हैं। उनमें से एक में जो वर्द्धमान महावीर आदि तीर्थङ्करों की मूर्तियाँ हैं, उनकी तो पूजा होती है, पर दूसरे के भीतर गाँववाले सूखी घास भरते हैं। देश की प्राचीन कारीगरी के इस आदर और मूर्तिपूजकों की देवभक्ति के इस आधिक्य की बलिहारी! असमर्थता चाहे जो करावे। समर्थों का ध्यान ही इस तरफ नहीं।

[जनवरी १९२३.

भारतवर्ष की सभ्यता की प्राचीनता

एक समय था जब भारतवर्ष की प्राचीन सभ्यता से सम्बन्ध रखने-वाली बातों का कभी कोई उल्लेख भी न करता था। संस्कृत की कुछ पुरानी पुस्तकों की ओर ध्यान आकृष्ट होने पर, कुछ अँग्रेज विद्वानों ने जो उल्लेख करने की जरूरत समझी तो उन्होंने भारत की प्रायः हर पुरानी बात को ईसा मसीह के समय के सौ दो सौ वर्ष इधर ही उधर की बतानी आरम्भ की। यह दशा बहुत समय तक रही। धीरे-धीरे लोगों की आँखें खुलने लगीं और दबी जबान से उन्होंने वेदों के विशेष प्राचीनत्व को स्वीकार करना आरम्भ कर दिया। मैक्समूलर आदि ने तो स्पष्टता-पूर्वक यह मान लिया कि संसार में सब से प्राचीन ग्रन्थ वेद ही हैं। वेदों, ब्राह्मणों और अन्य प्राचीन ग्रन्थों का जैसे जैसे अध्ययन होता गया, वैसे ही वैसे इस देश की सभ्यता का प्राचीनत्व भी अधिकाधिक प्रमाणित होता गया। अब तो नौबत यहाँ तक पहुँची है कि वेदों की आयु लाखों वर्ष की समझी जाने लगी है। अब तो वैदिक साहित्य के आधार पर विद्वानों ने यहाँ तक कहने का साहस किया है कि मिस्र, इराक़, फारिस, असीरिया, यूनान आदि देशों को भी सभ्यता प्रदान करनेवाला भारत ही है। हजारों वर्ष पहले भारतवासी इन देशों में पहुँचे थे और अपनी विद्या, अपने कला-कौशल और अपने व्यापार-वाणिज्य से इन देशों के निवासियों का जंगलीपन दूर करके उनके हृदयों में ज्ञानालोक का उदय किया था। इन देशों के पुराने खँडहर खोदने पर ऐसी हजारों चीज़ें मिली हैं जो भारतवासियों ही की कृपा का फल मालूम होती हैं। प्राचीन मुहरों, प्राचीन ध्वंसावशेषों में प्राप्त लेखों और प्राचीन

ईंटों पर खुदे हुए ग्रन्थों और अन्य नर-नारियों के ऐसे नाम पाये जाते हैं जो भारतीय नामों से मिलते-जुलते हैं। कुछ नाम तो, उदाहरणार्थ, राम-कृष्ण आदि, कुछ ही रूपान्तर के साथ, ज्यों के त्यों मिलते हैं। इन प्रमाणों से सिद्ध है कि आज से चार छः हज़ार वर्ष पूर्व भी वहाँ भारतवर्ष की सभ्यता प्रचलित हो गई थी।

गत महायुद्ध के अनन्तर योरप के कई शक्तिशाली देशों ने सीरिया को फ्रांस के रक्षण में रखने का विधि-विधान कर दिया है। इस देश के निवासी अपनी रक्षा आप ही शायद न कर सकते थे। इसी से फ्रांस ने दया के वशवर्ती होकर उन्हें अपनी छत्रच्छाया के नीचे कर लिया है। यह देश बहुत पुराना है और फ्रांसवाले ठहरे पुरातत्त्व के प्रेमी। इस कारण सीरिया में पदार्पण करते ही उन्होंने पुराने खँडहरों और धुस्सों को खोद खोद कर उसके भीतर दबी हुई प्राचीन चीजें निकालना शुरू कर दिया। अभी उस दिन उन्होंने दो कबरें खोद कर निकाली हैं। वे बहुत पुरानी हैं। अन्दाज़न् ४००० वर्ष की पुरानी ज़रूर होंगी। उनके भीतर जो चीजें निकली हैं, उनमें से—

(१) सुनहली बैठक या कुरसी,

(२) सुनहले दस्ते की एक तलवार और

(३) सोने की एक अँगूठी

के सिवा एक लेख भी खुदा हुआ मिला है। इस लेख में मिस्र के एक ऐसे बादशाह का नाम है जो आज से कम से कम ४००० वर्ष पहले विद्यमान था। इससे सिद्ध है कि ईसा के कम से कम २००० वर्ष पहले सीरिया पर मिस्र के बादशाहों का आधिपत्य हो गया था। मिस्र को जो सभ्यता प्राप्त हुई थी, वह भारतवर्ष ही की बदौलत। भारतवासियों ही ने मिस्र की प्रधान नदी नाइल (नील) का नामकरण किया था। अतएव मिस्र के सभ्य और शिक्षित होने के कितने हजार वर्ष पहले भारतवर्ष सभ्य हुआ होगा, इसका ठीक ठीक अन्दाज़ा कौन कर सकता है! हाँ

इतना ज़रूर अनुमान किया जा सकता है कि मिस्र ने ४००० वर्ष पहले जिस सीरिया को अपने अधीन किया, उसी मिस्र को सभ्यता प्रदान करनेवाला भारत उसके भी चार पाँच हजार वर्ष पहले ही सभ्य हो चुका तो आश्चर्य नहीं।

[जनवरी १९२३.

मिस्र में गड़े हुए एक बहुमूल्य ख़जाने की प्राप्ति

आज-कल योरप अपने को सभ्यता की चोटी पर चढ़ा हुआ समझता है। उसका दावा है कि परमात्मा ने उसके गौरकाय निवासियों को अन्य देशों और महादेशों के काले, पीले और गन्दुमी रङ्ग के निवासियों पर हुकूमत करने ही के लिए पैदा किया है। इस तरह के दावे सभी देशों और सभी समयों के कुछ साधारण आदमी भी करते सुने गये हैं और अब भी सुने जाते हैं। बात यह है कि बलवान् सदा ही निर्बल को अपना दास समझता है। परन्तु जिस परमात्मा या परमेश्वर की दुहाई इस तरह के लोग दिया करते हैं, वह उनकी डींगें सुनकर अट्टहास न करता होगा तो मुसकराता तो ज़रूर ही होगा, क्योंकि कालात्मक परमात्मा से अधिक बली कोई नहीं। वह कल के दास को आज स्वामी बना देता है और आज के स्वामी को कल दास। उसके भृकुटि-विलास मात्र ही से इस तरह के खेल हुआ करते हैं। पर मदान्ध मनुष्य उन्हें देख कर भी नहीं देखता, क्योंकि वह तो एक प्रकार का अन्धा ही ठहरा!

जो ईजिप्ट या मिस्र इस समय औरों का मुखापेक्षी हो रहा है, जो अपनी पहली मान-मर्यादा खो चुका है, जो पशु-बल से बली नहीं है, वही किसी समय इतना बलवान् था कि योरप के कितने ही देश उसकी पद-धूलि को मस्तक पर धारण करते थे। जिस समय इन योरपवालों के पूर्वज गुफाओं के भीतर रहते थे, बाहर निकलने पर भी जो नङ्गे घूमा करते थे, और कच्चे मांस ही से जो अपनी उदर-पूर्ति करते थे, उस समय भी ईजिप्ट सभ्य शिरोमणि बन रहा था। वहाँ की सभ्यता के सूत्रपात का आरम्भ

आज से कम से कम दस हज़ार वर्ष पहले तो ज़रूर ही हुआ था, क्योंकि इतनी पुरानी कबरों के भीतर से निकले हुए पदार्थ उसकी उस समय की सभ्यता की गवाही दे रहे हैं।

ईजिप्ट यद्यपि इतना पुराना देश है, तथापि कुछ पुरातत्त्वज्ञों का अनुमान है कि आज से कोई सात हज़ार वर्ष पहले लाल समुद्र की ओर से आ कर कुछ लोग वहाँ बस गये थे और वहाँ के प्राचीन निवासियों को अपने अधीन करके उन्हीं ने ईजिप्ट की सभ्यता और समृद्धि की विशेष वृद्धि की थी। वहाँ के अनेक नामों में, उदाहरणार्थ वहाँ की प्रधान नदी नील (Nile) के नाम में भारतीय नामों का साम्य पाकर वे अनुमान करते हैं कि हो न हो, भारत ही से भारतीय जन आ कर वहाँ बसे हों। मतलब यह कि अपना भारत ईजिप्ट से भी अधिक पुराना है और उसी ने अपनी सभ्यता के दान से ईजिप्ट को सभ्य बनाया है।

ईजिप्ट के ध्वंसावशेषों की खुदाई का काम बहुत समय से जारी है। आज तक योरप के पुरातत्वज्ञों ने वहाँ अनन्त बहुमूल्य वस्तुयें पृथ्वी के पेट से बाहर निकाली हैं। इस प्रकार की वस्तुयें विशेष कर प्राचीन नरेशों और अमीरों की क़बरों के भीतर से निकाली गई हैं। पुराने इतिहास के ज्ञाताओं ने ईजिप्ट के प्राचीन नरेशों को ३० वंशों में बाँटा है। प्रत्येक वंश में अनेक नरेश हुए हैं। उनमें से बहुतों का पता चल गया है और धीरे-धीरे उनके विषय में बहुत सी नई नई बातें अब तक ज्ञात होती जा रही हैं। इन नरेशों के अठारहवें वंश में तूतनखामेन (Tutankhamen) नाम का एक राजा था। उसका समय सन् ईसवी के कोई १२०० वर्ष पहले माना जाता है। अर्थात् उसे हुए कोई ३२०० वर्ष हो चुके। इसी राजा की क़बर अभी हाल ही में मिली है और उसके भीतर अनन्त बहुमूल्य वस्तुएँ प्राप्त हुई हैं।

नील नदी के पश्चिमी तट पर एक जगह लक्सर (Luxor) है। वह एक तराई में है। उसके पास बहुत से खँडहरों या ध्वंसावशेषों के चिह्न

हैं। वहाँ किसी समय बड़े बड़े राजा और राजपुरुष, मरने पर, गाड़े जाते थे। वह जगह बड़ी बीहड़ है और घने जङ्गल के बीच में है। वहीं पूर्व-निर्दिष्ट तूतनखेमन अथवा तूतनखामेन की क़बर मिली है। उसे ढूँढ निकालनेवाले लार्ड कार्नरवान (Carnarvon) और उनके सहायक कार्टर (Carter) साहब हैं। इन लोगों को ढूँढ़ते ढूँढ़ते एक गुफा मिली। उसका द्वार बन्द था। उस पर मुहर लगी हुई थी। उसे खोलकर भीतर धँसने पर २५ फुट की एक सोपान-परम्परा मिली। उसमें १६ सीढ़ियाँ थीं। सीढ़ियों के अन्त में एक और द्वार मिला। वह भी बन्द था। उसे तोड़ कर वे लोग जो भीतर गये तो वहाँ का दृश्य देख कर अवाक् रह गये। उन्हें वहाँ जवाहर जड़े हुए पलंग, सन्दूक, कुरसियाँ और चौकियाँ दिखाई दीं। उनमें अद्भुत कारीगरी थी। हाथीदाँत और सोने के काम के सिवा बहुमूल्य रत्न उन पर जड़े हुए थे। सन्दूकों के भीतर ज़री की शाही पोशाकें, सोने के खड़ाऊँ-जोड़े, सोने की छड़ियाँ, नाना प्रकार के रत्न और खाने'पीने की चीजें भी दिखाई दीं। एक पलंग के पास बादशाही सिंहासन भी मिला। उसकी सुन्दरता और बहुमूल्यता देख कर साहब लोगों के आश्चर्य की सीमा ही न रही। राजा और रानी के रङ्गीन चित्र और अद्भुत कारीगरी की दर्शक मूर्तियाँ भी उन्होंने देखीं। अनेक प्रकार के दृश्य भी वहाँ उन्हें चित्रित दिखाई दिये। बड़े ही सुन्दर रथ भी वहाँ उन्हें मिले। एक सन्दूक के भीतर पुराने कागज़ों के कई बंडल भी मिले। वे सब लिखे हुए हैं। पढ़े जाने पर उनसे इस क़बर का, और जिसकी यह क़बर है उसका भी, बहुत कुछ हाल मालूम होने की आशा है। जिस कमरे में यह सब सामान मिला है, उसी से मिला हुआ एक कमरा और भी है। उसके भीतर नीचे से लेकर ऊपर तक बहुमूल्य पलंगों, मेजों, चौकियों, कुरसियों, बक्सों आदि की टाल लगी है। वह सब सामान अभी वहीं पड़ा हुआ है; निकाला नहीं गया। इन सब चीज़ों में से अधिकांश अच्छी हालत में हैं। वे न टूटी हैं, न सड़ी हैं, न गली हैं।

किसी समय में ईजिप्ट में चोरों और डाकुओं ने बड़ा ऊधम मचाया था। वे ढूँढ ढूँढ कर इस प्रकार की गुफाओं और तहखानों को खोद कर उनके भीतर की रक्खी हुई चीजें निकाल लेते थे। इस तरह असंख्य अनमोल पदार्थ उन्होंने नष्ट कर दिये। जान पड़ता है, इस गुफा पर भी उनका हमला हुआ था। पर तत्कालीन शासक को इसकी ख़बर लग गई। उसने दरवाज़ों को फिर बन्द करा कर दुबारा मुहर करा दी। उनके खोले और फिर बन्द किये जाने के चिह्न मिले हैं। इसी से इस तरह का अनुमान किया गया है।

इस गुफा के भीतर यह जो अनमोल खजाना निकला है, वह यथा-समय वहाँ से उठ कर शायद उसी देश की शोभा बढ़ाने चला जायगा, जिस देश को लार्ड कार्नरवान और कार्टर साहब ने अपने जन्म से अलंकृत किया है।

[मार्च १९२३.

सर जॉन मार्शल की एक नई पुस्तक

उत्थान और पतन प्रकृति का अनिवार्य नियम है। उत्थान होने पर किसी दिन पतन भी होता है। जन्म होने पर मृत्यु अवश्यम्भावी है। पर हिन्दुओं का विश्वास है कि मृत्यु हो जाने पर मृत का पुनर्जन्म भी होता है। यदि यह ठीक हो—यदि प्रकृति मृतों का पुनर्जन्म भी करती हो—तो बहुत सम्भव है कि पतन होने पर सभी वस्तुओं का पुनरुत्थान भी होता हो, फिर चाहे चिरात् हो चाहे अचिरात्। हमारा देश, भारत, भी कभी ऊर्जितावस्था में था। इस समय तो उसकी पतितावस्था है। इसका प्रमाण यह है कि यहाँ निरक्षरता का आधिक्य है, निरक्षरता का दौर-दौरा है, अपौरुष और नैर्बल्य का आधिपत्य है, और जनन की अपेक्षा मरण ही की मात्रा अधिक है। इनके सिवा और भी कितनी ही बातें ऐसी हैं जो उसके अधःपात की परिचायक हैं। पर उनके उल्लेख की आवश्यकता नहीं। जिस देश की आमदनी का अधिकांश फ़ौज-फाटा रखने ही में ख़र्च हो जाय, शिक्षा-दान, व्यवसाय-वृद्धि, रोग-नाश और कृषि की उन्नति के लिए बहुत कम ख़र्च करने के लिए रुपया बचे, वह देश क्या समृद्ध या उन्नत कहा जा सकता है? नहीं, वह तो पतित या अनुन्नत ही माना जायगा।

पतितों को उत्थित करने की जो रामबाण औषधियाँ हैं, उनमें से पूर्वजों के कीर्ति-कलाप की रक्षा भी एक है, क्योंकि उसके स्मरण से देश-वासियों के हृदयों में फिर उठ बैठने की इच्छा उद्भूत हो सकती है। ये कीर्ति-कलाप पूर्व-पुरुषों के निर्म्मित ग्रन्थों, मन्दिरों, स्तूपों, मसजिदों आदि के दर्शन से जाग्रत रहते हैं। इसी से इनकी रक्षा की बड़ी ज़रूरत

रहती है। इस देश की गवर्नमेंट ने यह काम अपने एक महकमे के सिपुर्द कर रक्खा है। पर ख़र्च की कमी के कारण वह अपना काम चींटी की चाल से कर रहा है। फल यह हुआ है कि हमारे पूर्वजों की कीर्ति के अनेक चिह्न नष्ट हो गये और होते जा रहे हैं। यह महकमा बहुत कम इमारतों की रक्षा कर सकता है। अब हमारे दुर्भाग्य को देखिए। देश के बढ़े हुए ख़र्च को घटाने की युक्तियाँ बताने के लिए गवर्नमेंट ने, कुछ दिन हुए, कुछ जानकारों की एक कमिटी बना दी थी। लार्ड इनचेप उसके प्रधानाधिकारी थे। उन्होंने अनेक महकमों में जहाँ-तहाँ ख़र्च कम करने की सिफ़ारिश की है, वहाँ पुराण वस्तु-रक्षक (आर्कियोलाजिकल) महकमे में भी ख़र्च कम कर देने की तजवीज़ पेश की है। सरकार यदि इस तजवीज़ के अनुसार ख़र्च घटा दे तो हमारी बहुत बड़ी हानि हो; क्योंकि यों ही इस महकमे का काम, धन की कमी के कारण, बहुत ही स्वल्प परिमाण में होता है; यहाँ तक कि सर रतन ताता इत्यादि से उसे ख़ैरात लेनी पड़ती है। यदि उसमें भी कमी हो जायगी तो उसके काम की परिधि और भी संकुचित हो जायगी।

लार्ड कर्ज़न की बदौलत जब से इस महकमे का पुनर्जीवन या जीर्णोद्धार हुआ और सर जान मार्शल इसके प्रधानाधिकारी नियत हुए, तब से इसने बहुत कुछ काम कर दिखाया है। यह बात इस महकमे की रिपोर्टें पढ़ने से अच्छी तरह ज्ञात हो सकती है। सर जॉन ने और कामों के सिवा अनेक उपयोगी पुस्तकें भी लिख कर अथवा दूसरों से लिखा कर प्रकाशित कर दी हैं। कई अजायब-घरों में रक्खी हुई वस्तुओं की सूचियाँ और परिचय-पुस्तकें भी आप की कृपा से तैयार हो गई हैं। आपने अभी हाल में एक और भी बड़ी अच्छी पुस्तक प्रकाशित की है। वह अँगरेज़ी में है और सचित्र है। नाम है—Conservation Manual.

पुस्तक है तो छोटी ही, अर्थात् कोई सौ ही सफ़े की, पर है बड़े काम की। पुस्तक में दो भाग या प्रकरण हैं। पहले भाग में आपने प्राचीन

इमारतों की रक्षा के सम्बन्ध में, सरकारी आज्ञाओं तथा अन्य सिद्धान्तों के आधार पर मोटी बातें लिखी हैं। रक्षण-योग्य इमारत किसे कहते हैं; उसके विषय में गवर्नमेंट की नीति क्या है; किसी नई इमारत या वस्तु का पता लगने पर क्या करना चाहिए; धार्मिक मन्दिरों और स्तूपों आदि की रक्षा करने में तत्सम्बन्धी धर्म्म के अनुयायियों के साथ किस तरह का व्यवहार करना चाहिए—इस तरह की और भी अनेक बातों का उल्लेख आपने उसमें किया है। पुस्तक के दूसरे भाग में उन्होंने अपने अधीन कर्म्मचारियों को अनेक उपयोगी सूचनायें दी हैं। मरम्मत किस तरह करनी चाहिए; रङ्ग किस तरह बनाना चाहिए; पतितोन्मुख स्तम्भों को किस तरह यथा-स्थान खड़ा रखना चाहिए; प्राचीन चित्रों की कैसे रक्षा करनी चाहिए; चूना और सिमेंट इत्यादि बनाने में कौन कौन मसाला डालना चाहिए; दीवारों पर चित्रित चित्र यदि उखड़ रहे हों तो उन्हें किस तरह चिपकाना चाहिए इत्यादि सैकड़ों सूचनायें आप ने की हैं। मरम्मत करने के ढङ्ग का ठीक ठीक ज्ञान न होने से आज तक सैकड़ों अनमोल चित्र, मूर्त्तियाँ, तोरण, छज्जे आदि नष्ट हो गये। आशा है, आप की इस पुस्तक की सहायता से आप के महकमे के कर्म्मचारी अब अपने काम को पहले की अपेक्षा अधिक अच्छी तरह कर सकेंगे। डर इतना ही है कि गवर्नमेंट इस महकमे में भी तख़फीफ कर के कहीं इस के चलते हुए थोड़े से काम को और भी थोड़ा न कर दे।

[अक्तोबर १९२३.

पारसियों के विषय में एक नई खोज

किसी समय, कोई एक हज़ार वर्ष पूर्व, ईरान अर्थात् फ़ारिस के निवासी अग्निपूजक थे। सूर्य की भी उपासना वे लोग करते थे; उसके भी विधि-विधान में वे बहुत दक्ष थे। दैवात् ईरान पर मुसलमानों के हमले होने लगे। पशु-बल में वे लोग ईरानियों से बढ़े-चढ़े थे। फल यह हुआ कि ईरानियों को वे तलवार के ज़ोर से मुसलमान बनाने लगे। बहुत खून-खच्चर हुआ। अन्त को प्रायः समस्त ईरान हज़रत मुहम्मद के चलाये हुए धर्म्म का अनुयायी हो गया। तथापि कुछ ईरानियों ने अपने धर्म्म को अपने देश और अपने प्राणों से भी अधिक प्यारा समझा। अतएव वे वहाँ से भागे और एक जहाज़ पर सवार होकर कोई नया निवास-स्थल ढूँढ़ने के लिए निकल पड़े। उनका वह जहाज़, बम्बई के पास, संजान नामक बन्दरगाह में आ लगा। उस पर सवार ईरानी वहीं उतर पड़े। वहाँ के तत्कालीन हिन्दू अधीश्वर ने उन्हें प्रसन्नतापूर्वक शरण दी। वहीं वे बस गये और अपने इष्टदेव सूर्य तथा अग्नि की उपासना करते रहे। यही लोग भारतवर्ष के पारसियों के पूर्व-पुरुष थे। पारसियों और अन्य पुरातत्वज्ञों ने इस विषय में अब तक जो खोज की थी, उसके परिणाम का सार यही है।

परन्तु अब एक महाशय ने इस अनुमान या निष्कर्ष में मीन-मेख लगाई है। आप का नाम है राव बहादुर पी० बी० जोशी। आपका कथन है कि यहाँ ईरानियों का आवागमन बहुत पहले से होता आया है। हज़ार बारह सौ वर्ष पहले भारतवर्ष के निवासी ईरान जाते और वहाँ-वाले यहाँ आते थे। सैकड़ों पारसी इस देश में बस गये थे और यहाँ के

ब्राह्मणों की लड़कियों से विवाह करके वे भी ब्राह्मण बन गये थे। वे मग, शाकद्वीपीय और भोजक नाम से प्रसिद्ध थे। इस विषय में राव साहब ने एक लेख प्रकाशित किया है। वह रायल एशियाटिक सोसायटी की बम्बईवाली शाखा के जर्नल में, अभी कुछ ही समय पूर्व, निकला है। उसमें महाभारत और भविष्य-पुराण के ब्रह्म-खण्ड के आधार पर आपने अपने कथन को पुष्ट करने की चेष्टा की है। पुराने ताम्रपत्रों और शिला-लेखों आदि के भी प्रमाण आपने दिये हैं। आपका कहना है कि—

भविष्य-पुराण के अनुसार साम्ब नामक राजा को कुष्ट हो गया। वह नारद की शरण गया और कहा कि इस रोग को दूर करने का कोई उपाय बताइये। उन्होंने आज्ञा दी कि सूर्य की उपासना करो। तब साम्ब ने मूलस्थान या मित्रवन (वर्तमान मुल्तान) नामक नगर में सूर्य्य का एक भव्य भवन बनवाया। पर उस मन्दिर में स्थापित सूर्य्य—भगवान् के विग्रह की प्राण-प्रतिष्ठा कराने के लिए कोई भी ब्राह्मण पण्डित राज़ी न हुआ। उन्होंने कहा, यह काम हम लोगों से न हो सकेगा। सूर्य्य बड़ा उद्भट देवता है। उसका मन्दिर बनवाने और उसकी पूजा करनेवालों पर आपत्ति आये बिना नहीं रहती। तब साम्ब फिर महर्षि नारद के पास गया। वे बोले, कुछ हर्ज नहीं। तुम शाकद्वीप (ईरान) से पुजारी ब्राह्मण बुलाओ। वे लोग सूर्य्योपासना करना खूब जानते हैं। उन्होंने यह भी बतलाया कि शाकद्वीप कहाँ है, कितनी दूर है, किस राह से जाना होगा, वहाँ के निवासी कैसे हैं, इत्यादि। इस पौराणिक वर्णन से मालूम होता है कि नारद का मतलब ईरान के अग्निपूजकों ही से था।

ख़ैर, साम्ब के प्रयत्न से १८ मग ब्राह्मण शाकद्वीप से आये। उन्होंने मन्दिर की "प्रतिष्ठा" करा दी। सूर्य-देवता की कृपा से साम्ब का कुष्ट रोग जाता रहा। इस उपकार के बदले साम्ब ने उन पुजारियों को मुल्तान दे डाला। अतएव वे लोग वहीं रह गये। धीरे-धीरे उनके शादी—ब्याह का प्रश्न उठा। साम्ब ने उसे भी हल कर दिया। भोजवंशी भारतवा-

सियों ने उन्हें अपनी लड़कियाँ दे दीं। परन्तु भारतीय ब्राह्मणों ने कहा— न, हम इन्हें अपने समकक्ष कदापि न मानेंगे। ये विदेशी ब्राह्मण हमारी समता नहीं कर सकते। इस पर उन नये ब्राह्मणों के महत्त्व की सूचक बहुत सी कथाओं का प्रचार किया गया। वह इस तरह—भोजक ब्राह्मण के यहाँ भोजन करना नारद जी विशेष पुण्यजनक समझते हैं। भोजक ब्राह्मण की पूजा करना सूर्य्य की पूजा के सदृश फलदायक है। जिस घर में भोजक ने भोजन किया, उसमें मानों ब्रह्मा, महादेव और भगवान् भास्कर ने भोजन किया। ऐसी बातें सुनते सुनते भारतीय ब्राह्मणों की झिझक जाती रही। ईरानी ब्राह्मण भारतीयों में मिल गये और मग या भोजक ब्राह्मणों की आख्या से आख्यात हुए।

राव बहादुर ने इधर-उधर से प्रमाण उद्धृत करके यह भी दिखाया है कि ईसा की पाँचवीं और छठी शताब्दी में भारतवासियों ने मगों को ब्राह्मण मान लिया था और सूर्य्य देवता के मन्दिरों की पूजा और "प्रतिष्ठा" का सब से बड़ा अधिकारी उन्हीं को वे समझने लगे थे। इन ईरानियों के वंशज इस समय यहाँ कच्छ, सिन्ध, मारवाड़, काश्मीर और संयुक्त प्रान्त में पाये जाते हैं। वे भोजक, सेवक, मग और शाकद्वीपीय ब्राह्मण कहलाते हैं।

बम्बई के भुलेश्वर महल्ले में एक जगह सूरजवाड़ी है। वहाँ सूर्य्य नारायण का एक मन्दिर है। उसे, १८९९ ईसवी में, हर-जीवन वसनजी ने बनवाया था। उसकी "प्रतिष्ठा" एक मग ब्राह्मण ही ने कराई थी; क्योंकि यही लोग इस काम में सबसे अधिक प्रवीण हैं।

राव बहादुर के कहने का मतलब यह कि ईसा की तीसरी सदी ही से ईरान की मग जाति के लोग भारत आने लगे थे। सातवीं सदी में तो बहुत से भारतवासी भी ईरान पहुँच गये थे और वहाँ बस गये थे। इस दशा में यह कहना विश्वसनीय नहीं कि पारसियों के पूर्वज भारत से अनभिज्ञ थे। वे इस देश और इसके निवासियों से अच्छी तरह परिचित

थे। वे जानते थे कि भारत जाने से हमारा वहाँ आदर होगा; हम सताये न जायँगे; आनन्दपूर्वक हम वहाँ अपनी पूजा-अर्चा कर सकेंगे। यही समझ कर वे लोग जान-बूझ कर यहाँ भाग आये थे और संजान में आकर उतरे थे। यह कहना ठीक नहीं कि उन लोगों का जहाज़ भटक कर यहाँ समुद्र के किनारे लग गया था—हवा के झोंकों ने उसे वहाँ ला पटका था।

राव बहादुर जोशी की नई खोज का निष्कर्ष यही है।

[जून १९२४.

दक्षिणी भारत में पाये गये शिलालेख

पुरातत्त्व विभाग की स्थापना होने के भी बहुत पहले से इस देश में ताम्रपत्र और शिलालेख पाये जाते रहे हैं। एशियाटिक सोसायटी में ऐसे अनेक शिलालेख सञ्चित हैं जिनकी प्राप्ति हुए बहुत समय बीत गया। इस सोसायटी के भी अस्तित्व में आने के पूर्व कितने ही विदेशी पुरातत्त्वज्ञों ने ताम्रपत्रों और शिलालेखों का संग्रह किया था। खेद इतना ही है कि आज तक प्राप्त हुए ऐसे हज़ारों महत्त्वपूर्ण लेखों का चालान दूसरे देशों को हो गया। अतएव उनसे भारतवर्ष को सदा के लिए वञ्चित होना पड़ा। तथापि अब भी हज़ारों शिलालेख और ताम्रपत्र इस देश के भिन्न-भिन्न स्थानों और अजायब-घरों में सुरक्षित हैं। ताँबे के पत्रों और पत्थर की शिलाओं पर खुदे हुए ये लेख इतिहास की बहुत ही महत्त्वमयी सामग्री हैं। इन्हीं के आधार पर इस देश का सच्चा इतिहास, यदि कोई लिखने की चेष्टा करेगा तो, लिखा जा सकेगा। इन्हीं लेखों से प्राचीन भारत की धार्म्मिक, सामाजिक और राजनैतिक अवस्थाओं का सच्चा ज्ञान प्राप्त हो सकता है।

इन लेखों के संग्रह के विषय में पहले तो बड़ी ही कुव्यवस्था थी। पर कुछ काल से एतद्देशीय पुरातत्त्वज्ञ भी चेते हैं और सरकार के पुरातत्त्व विभाग ने भी इनके संरक्षण का उचित प्रबन्ध कर दिया है। अब यदि कोई नया शिलालेख प्राप्त होता है तो वह विशेषज्ञों द्वारा पढ़ा और प्रकाशित किया जाता है और उससे जिन नवीन बातों का पता लगता है, उनका भी उल्लेख करना पड़ता है। इस प्रकाशन-कार्य्य के लिए सर्व-साधारण की भी कुछ संस्थायें सामयिक पुस्तकें निकालती

हैं और सरकार का पुरातत्त्व विभाग भी निकालता है। हैदराबाद, बरोदा, ट्रावनकोर, माइसोर और ग्वालियर की रियासतें भी चुप नहीं। वे भी इन लेखों के संग्रह और प्रकाशन में सहायता दे रही हैं। गवर्नमेंट के प्रबन्ध से तो इस तरह की कई पुस्तकें निकलती हैं जिनमें ताम्रपत्रों और शिलालेखों का सम्पादन योग्यता-पूर्वक किया जाता है। ऐसी एक पुस्तक का नाम है—एपिग्राफिया इंडिका। उसमें समस्त भारत के महत्त्व-पूर्ण प्राचीन लेखों का प्रकाशन होता है। कर्नाटक और ब्रह्म देश में प्राप्त लेखों के प्रकाशन के लिए अलग अलग पुस्तकें हैं।

इस देश में सब से अधिक शिलालेख और ताम्रपत्र दक्षिण में पाये जाते हैं। कोई साल ऐसा नहीं जाता जिसमें दो चार सौ लेख न निकल पड़ते हों। उनके सम्बन्ध में हर साल एक रिपोर्ट प्रकाशित होती है। ऐसी एक रिपोर्ट की कापी, जो अभी हाल ही में निकली है, इस समय हमारे सामने है। उसका सम्बन्ध अप्रैल १९२२ से मार्च १९२३ तक के साल से है। उसमें १५ ताम्रपत्रों और ७६४ शिलालेखों की सूची है। इन सब की जाँच पिछले ही साल हुई है और सब के सब दक्षिणी भारत ही के भिन्न-भिन्न स्थानों में प्राप्त हुए हैं।

दक्षिणी भारत में हज़ारों वर्ष तक हिन्दू नरेशों का प्रभुत्व रहा है। हिन्दू धर्म्म के कट्टर अनुयायी भी वहाँ, और प्रान्तों की अपेक्षा, अधिक रहे हैं और अब भी हैं। इसी से वहाँ इस तरह के लेखों की अधिकता है। इन लेखों से दक्षिणी भारत की प्राचीन व्यवस्था—सामाजिक, धार्मिक और राजनैतिक—सभी का बहुत कुछ ज्ञान प्राप्त होता है। सैकड़ों लेख ऐसे हैं जिनमें देव-स्थानों की पूजा-अर्चा और प्रबन्ध के लिए भूमि और ग्राम दान देने का उल्लेख है। अनेक लेख पुजारियों, कर्म्मठ ब्राह्मणों और विद्वानों की जीविका के निर्वाह के लिए दिये गये धन और भूमि आदि के सम्बन्ध में हैं। कहीं किसी में किसी तालाब की मरम्मत का उल्लेख है, कहीं किसी में किसी मन्दिर की, कहीं किसी में किसी

घाट की। सैकड़ों लेख हिन्दू राजों की आज्ञा से उत्कीर्ण हुए हैं, सैकड़ों राज-पुरुषों की आज्ञा से और सैकड़ों ही धनी, मानी और धर्म्मनिष्ठ अन्य जनों की आज्ञा से। इन लेखों से यह भी सूचित होता है कि दक्षिण में पञ्चायतें भी थीं। वे देव-स्थानों, प्राचीन इमारतों और तालाबों आदि की रक्षा का प्रबन्ध करती थीं। यह काम वे चन्दे से भी करती थीं और राजा से प्राप्त हुए धन के साहाय्य से भी।

किसी समय दक्षिण में विद्वानों की जीविका के निर्वाह का बहुत कुछ भार राजों पर था। वे उनको आराम से रखने के लिए बड़े बड़े दान देते थे और रजिस्ट्री के तौर पर उनका उल्लेख ताम्रपत्रों और शिलालेखों पर करते थे। अनेक समर्थ जनों ने भी, जगह जगह पर, मठ स्थापित कर रक्खे थे, जिनमें भूले-भटके पान्थ आश्रय पाते थे और देश-देशान्तर से आये हुए विद्वान् ठहराये जाते थे। वहाँ सतत पुराण-पाठ भी हुआ करता था। ऐसे एक शिलालेख का परिचय हम नीचे कराते हैं।

ईसा की बारहवीं और तेरहवीं सदी में पाण्ड्य वंश के कई नरेश दक्षिण में बड़े प्रतापी हुए। उनकी राजधानी मथुरा या मदूरा थी। तेरहवीं सदी के आरम्भ में वहाँ मार वर्म्मा उर्फ त्रिभुवन चक्रवर्ती कुल-शेखर-पाण्ड्यदेव नामका राजा राज्य करता था। उसके महामात्य का या गुरु का नाम था—गुरुकुलोत्तराचार। वह परम धर्म्मात्मा और परम वैष्णव था। उसने एक विष्णु-मन्दिर अथवा उसके गर्भ-गृह की प्रतिष्ठा कराई थी और बहुत कुछ दान-पुण्य किया था। यह मन्दिर तिरुतंगाल नामक स्थान में है। वह ज़िला रामनद के सत्तूर तअल्लुके में है। इसी मन्दिर की एक दीवार में लगा हुआ, तामिल भाषा में, एक शिलालेख मिला है। उसमें लिखा है कि तिरुवरङ्गदेव और उसके भाई ने यहीं पर एक मठ बनवाया था। उसमें महाभारत, रामायण और पुराणादि के पारायण के लिए पण्डित रहते थे। उन्हीं के खर्च के लिए उसने कुछ भूमि दी थी। यह भूमि-दान महाभारत वृत्ति के नाम से, लेख में, अभिहित हुआ है।

इससे सूचित होता है कि उस मठ में सदा पुराण-पाठ होता था; और विष्णु भगवान् के दर्शनों के लिए जो यात्री दूर दूर तक से वहाँ आते थे, वे उस मठ में पुराण सुनते थे।

चोल और पाण्ड्य नरेशों के समय के ऐसे सैकड़ों शिलालेख मिले हैं जिनमें मठों की स्थापना का वर्णन है। पुराने ज़माने में ये मठ धर्म्म-प्रचार और धर्म्म-रक्षा के लिए बहुत ज़रूरी समझे जाते थे। दसवीं से लेकर बारहवीं सदी तक अनेक मठों की स्थापना वहाँ की गई थी। इन मठों के अध्यक्ष मन्दिरों की पूजा-अर्चा का भी प्रबन्ध करते थे। मठों में अनेक शास्त्रों के ज्ञाता रहते थे। सैकड़ों विद्यार्थियों को वे विद्यादान भी देते थे और पुराणों तथा शास्त्रों का पारायण भी करते थे। किसी किसी मठ में वेदाध्ययन और वेद-पाठ के लिए भी प्रबन्ध था। वृत्तियाँ नियत थीं; इससे अध्यापकों और छात्रों को आनन्द से विद्यादान और ज्ञानार्जन का सुभीता होता था। किसी से कुछ माँगना न पड़ता था।

जिन शिलालेखों की सूची पूर्व-निर्दिष्ट रिपोर्ट में है, उनमें से अधिकांश तामील भाषा और तामील ही लिपि में हैं। पर कितने ही संस्कृत में भी हैं। कुछ कनाड़ी, फ़ारसी और अँगरेज़ी में भी हैं।

[अक्टोबर १९२४.

पुस्तक-परिचय-खण्ड

धार्मिक विवाद

आर्य्य समाज के अनुयायियों, उपदेशकों और पण्डितों की बदौलत हिन्दी साहित्य की बड़ी वृद्धि हो रही है। पुस्तकों की संख्या बहुत बढ़ गई है और बढ़ती जा रही है। इन पुस्तकों का अधिकांश खण्डन-मण्डन ही से भरा रहता है। इन में पुस्तक-लेखकों के प्रतिपक्षियों पर आक्षेपों, आरोपों और कुटिल कटाक्षों की बड़ी ही भरमार रहती है। इस का फल यह हुआ है कि सनातन धर्म के अनुयायियों में भी ऐसे ही अनेक लेखक उत्पन्न हो गये हैं। वे भी ईंट का जवाब ईंट से, पत्थर का पत्थर से, कीचड़ का कीचड़ से देते हैं। यह नहीं कि इस तरह की पुस्तकें बिलकुल ही असार होती हैं; नहीं, उन में कुछ सार भी रहता है। पर वह ईंट, पत्थर और कीचड़ के भीतर छिपा रहता है। इस तरह के साहित्य की वृद्धि देख कर दुःख होता है। हमारी प्रार्थना है कि ऐसी पुस्तकों के लेखक अपनी पुस्तकें समालोचना के लिए सरस्वती को भेजने की कृपा न किया करें। क्योंकि ईश्वर साकार है या निराकार, वेद ईश्वरीय ग्रन्थ है या मानवीय, मूसा सच्चे पैगम्बर थे या ईसा, इत्यादि जटिल विषय सरस्वती के सेवक की समझ में नहीं आ सकते। उसकी समझ में यदि कुछ आता है तो केवल इतना ही कि—

"रुचीनां वैचित्र्यादृजुकुटिलनानापथजुषां
नृणामेको गम्यस्त्वमसि पयसामर्णव इव।"

जिन पुस्तकों में ईश्वर, धर्म, अवतार, देवता आदि गहन विषयों पर विचार किया गया हो, उनकी समालोचना इन विषयों के ज्ञाता ही कर सकते हैं, हम जैसे अज्ञ नहीं।

आर्य्य समाज की कृपा से सनातन-धर्म्मियों में भी अनेक उपदेशक उत्पन्न हो गये हैं। शास्त्रार्थ करना, लेक्चर देना और ज़रूरत पड़ने पर कीचड़ उछालना भी ये लोग खूब सीख गये हैं। कानपुर जिले में एक जगह अमरौधा है। वहाँ भी एक उपदेशक हैं। आप का नाम है-पण्डित कालूराम शास्त्री। आपने तीन पुस्तकें समालोचना के लिए भेजी हैं-(१) शाब्दिकावतार-मीमांसा, (२) शाब्दिकावतार, द्वितीय भाग, (३) तार्किक शरीर। पहली दोनों पुस्तकों में कुरान, बाइबिल, वेद, पुराण, उपनिषद् आदि से ईश्वर का अवतार लेना सिद्ध करने की चेष्टा की गई है। यहाँ तक कि राम, कृष्ण, दशरथ, मच्छ, कच्छ आदि के हवाले भी वेदों से ढूँढ निकाले गये हैं। तीसरी पुस्तक में तर्क से ईश्वर और ईश्वरावतार की सिद्धि शास्त्री जी ने कर दिखाई है। शङ्का-समाधान भी आपने किया है। "सिद्धान्ती" बन कर आपने "समाजी" की खूब ही ख़बर ली है। साथ ही स्वामी दयानन्द सरस्वती और पण्डित तुलसीराम आदि पर भी वाक्य-बाण बरसाये हैं। अपने ही हाथ से आपने अपने को "पण्डित" और "शास्त्री" लिखा है; और वेद, स्मृति, कुरान, बाइबिल, उपनिषद् आदि का ज्ञाता अपने को बताया है। "साइंस" के भी आप उत्कट ज्ञाता मालूम होते हैं; क्योंकि आपने लिखा है—"चन्द्रमा बिलकुल बूढ़ा हो गया है; वह ज़्यादा से ज़्यादा पाँच सौ वर्ष तक काम दे सकेगा।" आप की राय है—"चैतन्यता (!) से ईश्वर-सिद्धि पुष्ट है, अकाट्य है अतएव मान्य है"। ऐसे विद्वान् और ऐसे संस्कृतज्ञ के तर्कों और सिद्धान्तों पर हम जैसे अल्पज्ञ क्या कह सकते हैं!

जिहि मारुत गिरि मेरु उड़ाहीं।
कहहु तूल किहि लेखे माहीं॥

शास्त्री जी ने पहली पुस्तक के ८० पृष्ठ लिख कर, प्रस्तुत विषय का उपसंहार किये बिना ही, उसकी समाप्ति कर दी है; और टाइटिल पेज लगा कर उसकी अलग पुस्तक बना डाली है। दूसरी पुस्तक का आरम्भ

बिना कुछ कहे-सुने या भूमिका लिखे, फिर ८१ वें पृष्ठ से किया है और १५९ पृष्ठ पर विषय की समाप्ति की है। इसका कारण समझ में नहीं आया। आज-कल तो इस तरह पुस्तकें लिखी नहीं जातीं। वेदों के ज़माने में लिखी जाती रही हों तो मालूम नहीं।

शास्त्री कालूराम जी की तरह, ठट्ठा के रहनेवाले पण्डित गोकुलचन्द्र शर्म्मा भी—"आर्य्य-समाजियों के महामोह निवारणार्थ" ईश्वर, धर्म्म और शास्त्र-विचार में रत हैं। आप—"करांची-सनातनधर्म-मण्डल के संरक्षक" हैं। अपने प्रतिपक्षी समाजियों की तरह आप भी बड़े मधुर-भाषी हैं। आपने भी तीन पुस्तकें समालोचना के लिए भेजी हैं—(१) श्राद्ध-पितृमीमांसा, (२) वेद संज्ञाविचार, (३) आधुनिक महर्षि की पोल। परन्तु जैसा हम ऊपर लिख आये हैं, इन पुस्तकों की समालोचना करने की योग्यता हम में नहीं। जिन कौड़ियों वैदिक और लौकिक ग्रन्थों के अवतरण इन पुस्तकों में हैं, उन का मर्म समझने के लिए हमें उनका वर्षों अध्ययन और मनन करना चाहिए। अतएव उनकी समालोचना तो नहीं, उनके नामादि का निर्देश कर के उनका विज्ञापन हम अवश्य प्रकाशित किये देते हैं। आशा है, पण्डित गोकुलचन्द्र जी हमारी इतनी ही सेवा को बहुत समझेंगे और आगे से कोई ऐसी पुस्तक हमारे पास समालोचना के लिए न भेजेंगे। बड़ी कृपा हो यदि और महाशय भी, चाहे वे सनातन-धर्म्मी हों, चाहे आर्य्य—समाजी, चाहे जैनी, इस तरह की खण्डन-मण्डन और वाद-विवादपूर्ण पुस्तकें हमें न भेजें।

[जुलाई १९१३.

—

भाषा पद्य-व्याकरण

इसे—"पण्डित रामदत्त पाण्डेय आचार्य्य, हेड पण्डित, गवर्नमेंट हाई स्कूल, प्रयाग, ने रच कर प्रकाशित किया"—है। इसके "सर्वाधिकार रक्षित हैं"। किसी ने इसकी एक कापी हमारे पास "समालोचनार्थ" भेजी है। मालूम नहीं, भेजनेवाले ही महाशय इसके सर्वाधिकारी हैं अथवा और कोई। यदि और कोई हों तो समालोचना के लिए इस पुस्तक का उपयोग करने के लिए वे हमें क्षमा करें।

यह पुस्तक विचित्रताओं और विलक्षणताओं का अजायब-घर है। इसके नाम ही से विलक्षणताओं का आरम्भ होता है। एक समय था जब 'भाषा' शब्द वर्तमान 'हिन्दी' शब्द का बोधक था। पर यह शब्द अब इस अर्थ के बोधन में असमर्थ-प्राय है। तिस पर भी इस पुस्तक के नाम में यह शब्द उसी पुराने अर्थ में व्यवहृत हुआ है। क्योंकि 'भाषा' से यहाँ मतलब हिन्दी से है; यह हिन्दी ही का व्याकरण है। यह इसकी पहली विलक्षणता हुई। दूसरी विलक्षणता यह है कि इसके नाम से आपाततः यही सूचित होता है कि यह हिन्दी के पद्य का व्याकरण है—अर्थात् हिन्दी पद्य की जो भाषा है, उसी का यह व्याकरण है। पर बात कुछ और ही है। यह "भाषा के पद्य में व्याकरण है" अथवा "पद्य में भाषा का व्याकरण" है। अच्छा; जो यह पद्य में है तो इसमें गद्य न होना चाहिए। पर कहीं-कहीं गद्य भी है, विशेष करके पुस्तकान्त में। इसी से कहते हैं कि इस पुस्तक के नाम तक में विचित्रतायें भरी हुई हैं।

अब वह ज़माना है जब पद्य की पगडण्डी छोड़ कर लोग गद्य की

राह-राह में आ रहे हैं और शास्त्रों के मर्म्म सीधी-सादी इबारत में समझा कर विद्या और शिक्षा का प्रचार करना चाहते हैं। पर इस व्याकरण के कर्ता "आचार्य्य जी" को हज़ार वर्ष की पुरानी पगडण्डी ही पसन्द है। व्याकरण को भी पद्य में लिख कर वे उसे लड़कों से रटाना चाहते हैं। और पद्य भी कैसा, ज़रा देखिए तो।

"पाण्डेय कुल जन्म भयो प्रयागदत्त प्रधान।
पण्डित पुत्र ज्येष्ठ भयो रामदत्त विद्वान् ॥२॥
पदवी आचार्य पाई संस्कृत पढ़ी प्रधान।
सेवा करी सरकार की पण्डित भये प्रधान ॥३॥
पाठशाला प्रयाग में गवर्नमेंट विख्यात।
संस्कृत की शिक्षा करै पण्डितन में विख्यात ॥४॥
पद्य व्याकरण उन रचौ बालक हित गुणधाम।
सहित विशेष ग्रन्थ रचौ कमल हृदय गुण धाम ॥५॥
सज्जन विशेष जानि कर पइहैं तोष अगाध।
दुर्जन विषय न जानि कर हँसिहैं अज्ञ अगाध ॥६॥

हाँ, महाराज! आप विद्वान्, आप आचार्य्य, आप प्रधान पण्डित, आप विख्यात पण्डित और हम अगाध अज्ञ और दुर्जन, क्योंकि हमें आपका यह व्याकरण तोष-प्रद नहीं। सरकार की सेवा करते करते और प्रधानतया संस्कृत पढ़ते-पढ़ाते आपने अज्ञता और दुर्जनता की अच्छी पहचान बताई। आपकी संस्कृतज्ञ लेखनी सचमुच ही विलक्षणताओं की कामधेनु है। आपने कैसे पद्य में व्याकरण-विषय सिखाये हैं, सो भी देख लीजिए। "अनुवाद-विषय-पाठ" आप यों पढ़ाते हैं—

"प्रथम स्वभाषा वाक्य को श्याम पटल पर लिखौ।
बालक गण स्वकापी कर प्रतिलेख सबै लिखौ ॥ १ ॥
प्रथम कर्ता क्रिया कहै अन्य भाषा जानै।
प्रश्न द्वारा शब्द रचै तुल्य कारक जानै ॥ २ ॥

क्रिया पद स्थान देखि के क्रिया पदै प्रकाशै ।

कर्त्ता कर्म्म क्रिया जोड़ि लघु वाक्य प्रकाशै ॥ २ ॥

भगवान् पिङ्गलाचार्य ही आपके इस छन्द का नाम-धाम बतावें तो बता सकते हैं; और आपके इस समग्र पाठ का अर्थ भी शायद कोई आचार्य्य ही अच्छी तरह बता सकें। अज्ञों और दुर्जनों की क्या मजाल जो इस विषय में कुछ कहने का साहस करें !

आपने पुस्तकादि में जो एक छोटी सी भूमिका लिखी है, उसकी विलक्षणताओं का तो कहीं ठिकाना ही नहीं। उसका पहला ही वाक्य है—

"मैंने यह पुस्तक बड़े परिश्रम से बनाई है और आज तक ऐसी पुस्तक भारतवर्ष में किसी से नहीं लिखी गई।"

सचमुच ही न लिखी गई होगी। आपके इस कथन में ज़रा भी अत्युक्ति नहीं। भारतवर्ष ही में क्यों, शायद और भी किसी देश में ऐसे पद्य में ऐसा व्याकरण न लिखा गया होगा। संस्कृत के किसी पण्डित ने कहा है—

इन्द्रोऽपि लघुतां याति स्वयं प्रख्यापितैर्गुणैः ।

परन्तु वैयाकरण रामदत्त जी शायद इस क़ौल के क़ायल नहीं। सम्भव है, यह वाक्य किसी आचार्य्य का न हो। इधर पुस्तकारम्भ में भी अपनी तारीफ़ के ज़टल क़ाफ़िये, उधर पुस्तकान्त में भी। जिसके सिर सनक सवार हो जाती है, वही ऐसी ऐसी बातें लिख सकता है।

आचार्य्य जी ने अपने व्याकरण का आरम्भ इस प्रकार किया है—

श्री गुरुचरण सरोजरज निज मन मुकुर सुधारि ।

रचौं व्याकरण पद्य में जो दायक फल चारि ॥

सो अब धार्म्मिक हिन्दुओं को चतुर्वर्ग की प्राप्ति के लिए पूजा-पाठ, दान-पुण्य छोड़ कर केवल आपके व्याकरण का पारायण करना चाहिए। तुलसीदास पर आपने जो कृपा की है, उसके लिए हम गोसाईं जी की तरफ़ से कृतज्ञता प्रकट करते हैं।

पण्डित रामदत्त जी को हिन्दी व्याकरण का कितना ज्ञान है, इसके केवल दो ही तीन उदाहरण बस होंगे—

(१) धन-जन स्त्री मेरा क्यों न गया। पृष्ठ ११६

(२) मैं नहीं गया वा मुझसे नहीं गया जाता। पृष्ठ ११९

(३) परवत (?) से सोना चाँदी आदि धातु (?) निकलती वा निकाली जाती हैं। पृष्ठ ११९

सो अब सोना—चाँदी पहाड़ों से निकलने लगी। खनिज विद्या का यह नया तत्त्व आचार्य्य जी ने विलक्षण ही ढूँढ निकाला। आपका व्याकरण विलक्षणताओं का आकर ही ठहरा। आपकी पुस्तक की कड़ी समालोचना हमने इसलिए की है जिसमें आगे के लिए आप सावधान हो जायँ और कोई काम ऐसा न करें जो आचार्य्यत्व और हेड-पण्डितत्व के अनुरूप न हो।

[अगस्त १९१३.

मानव-सन्तति शास्त्र

नवजीवन-विद्या नामक एक पुस्तक की समालोचना हम कभी कर चुके हैं। उसका और इस पुस्तक का विषय प्रायः एक ही है। विद्या और शास्त्र समानार्थ-वाची शब्द हैं। इससे हम यह कह सकते हैं कि यह सन्तति शास्त्र पूर्वालोचित नव-जीवन-विद्या का बड़ा भाई है। बड़े आकार की यह कोई ढाई सौ पृष्ठों की पुस्तक है। इसका मूल्य एक रुपया है और "Copy Right Reserved" है। इसके लेखक हैं, कोटा-निवासी मुन्शी हीरालाल जालौरी। शायद वही इसे बेचते भी हैं।

मुन्शी जी ने बड़े परिश्रम से इस पुस्तक की रचना की है। उल्लिखित बातों के स्पष्टीकरण के लिए आपने अनेक चित्र भी इसमें दिये हैं। पर ट्राल, फाउलर, बालफर, सिक्र आदि की लिखी अँगरेज़ी भाषा की जिन पुस्तकों को मथ कर आपने यह सन्तति-शास्त्र रूपी नवनीत निकाला है, उनमें इस शास्त्र के कारणीभूत नर-नारी के कुछ विशेष अवयवों के भी चित्र हैं। उन्हें देने का आपने साहस नहीं किया। इससे आपके मानसिक भावों का कुछ कुछ पता लग जाता है। इसमें सन्देह नहीं कि क्या भाषा के लिहाज़ से, क्या विषय-विवेचन के लिहाज़ से, क्या छपाई के लिहाज से, इस विषय की जितनी पुस्तकें आज तक हिन्दी में हमारे देखने में आई हैं, उन सबसे यह अच्छी है। छठे प्रकरण में मुन्शी जी ने मनः शक्ति पर जो कुछ लिखा है, वह निर्दोष अतएव प्रशंसनीय है।

अँगरेजी भाषा में इस विषय की उल्लेख योग्य जितनी पुस्तकें हैं, वे सब प्रायः शरीर-शास्त्र और चिकित्सा-शास्त्र के ज्ञाता डाक्टरों की लिखी हुई हैं। वे इस विषय पर पुस्तक-रचना के अधिकारी भी हैं। पर इस

पुस्तक के कर्ता मुन्शी जी "नातजरबेकार अल्प-अनुभवी नवयुवक" हैं। यह बात उन्होंने पुस्तक की भूमिका में स्वयं ही क़बूल की है; और इस विषय में लोगों का सन्देह समूल उड़ा देने ही के लिए मानों, उन्होंने अपना चित्र भी दे दिया है, जो पुस्तकारम्भ ही में आपकी नई उम्र की गवाही दे रहा है। इस दशा में यह प्रश्न हो सकता है कि फिर वैद्य-विद्या और शरीर-शास्त्र से अनभिज्ञ एक नातजरबेकार नवयुवक को Sexual और Social Physiology के अंशभूत सन्तति-शास्त्र पर ग्रन्थ-रचना करने का क्या अधिकार? किस आन्तरिक कामना की प्रेरणा से नवयुवक मुन्शी जी ने यह पुस्तक लिखी है, यह तो वही जानें; हम सिर्फ़ इतना ही कह सकते हैं कि जितनी बिक्री इस पुस्तक की होगी, उतना इससे सर्व-साधारण को लाभ पहुँचने की सम्भावना नहीं। बहुत समय हुआ, बाँकेपुर के डाक्टर गङ्गादीन ने कुछ कुछ इसी विषय की एक पुस्तक अँगरेज़ी में प्रकाशित की थी। गवर्नमेंट ने उन पर मुक़दमा चलाया। नीचे की अदालत ने उन्हें दोषी भी ठहराया। पर हाई कोर्ट से वे बरी हो गये। तब से मानों इस तरह की पुस्तकें प्रकाशित होने का रास्ता साफ़ हो गया।

वात्स्यायन, कोक, जयदेव आदि भारतीय ग्रन्थकारों और ऊपर जिनका नाम दिया गया है, उन यूरोपीय, अमेरिकन डाक्टरों की लिखी हुई पुस्तकें पढ़ने और उनके सिद्धान्त समझ लेने ही से अच्छी सन्तति की उत्पत्ति नहीं हो सकती। हनीबाल और सीज़र, मेज़िनी और गैरीबाल्डी, प्रिंस बिस्मार्क और ग्लैडस्टन, नेल्सन और टोगो, शेक्सपियर और मिल्टन, रणजीतसिंह और प्रताप, कालिदास और भास्कर इसी शास्त्र के अध्ययन के फल न थे। इस समय भारत में अनेक विद्वान्, विज्ञानवेत्ता, वक्ता और राजनीतिज्ञ विद्यमान हैं। उनके जनक-जननी इस शास्त्र का अध्ययन करके ही ऐसे नररत्नों के उत्पादन में कृतकार्य्य नहीं हुए। किसी भी अच्छे विषय के शास्त्र का अध्ययन बुरा नहीं। ज्ञान-सम्पादन करना मनुष्य का कर्त्तव्य ही है। पर समय और आवश्यकता भी कोई चीज़ है।

बुद्धिमान् और विवेकशील जन उसका सदा ही ख़याल रखते हैं। जिस हिन्दी का साहित्य अत्यन्त ही दरिद्रावस्था में है, उसमें अन्य अधिक उपयोगी शास्त्रों की तरफ़ न झुक कर, सन्तान शास्त्र पर पुस्तकें लिखना, और फिर स्त्रियों तक से कहना कि इसे पढ़ कर अच्छी सन्तति उत्पन्न करो, कदापि समयानुकूल और विशेष आवश्यक बात नहीं। अतएव सन्तति-शास्त्र लिखने का परिश्रम उठाने के लिए मुन्शी हीरालाल जालौरी का अभिनन्दन करके हम उनसे प्रार्थना करते हैं कि दया करके अब किसी और शास्त्र पर पुस्तक-रचना करने की कृपा करें। क्योंकि आप—"शक्ति भर मातृभाषा की सेवा करने का विचार"—रखते हैं।

[सितम्बर १९१२.

अनुभवानन्द

आकार छोटा; पृष्ठ-संख्या १०८; छपाई साफ़-सुथरी; मूल्य आठ आने। सम्पादक श्रीयुत शीतलप्रसाद ब्रह्मचारी। जैन-मित्र नामक समाचार-पत्र में जैन धर्म विषयक छोटे छोटे अनेक लेख निकलते रहे हैं। उन्हीं लेखों का इसमें संग्रह है। लेखों के नाम हैं—अगम दुर्ग, दश लाक्षणिक धर्म्म, आगारी साधु, आत्मीक रामायण, सासादन गुणस्थानी की वन्दना, सूक्ष्म सांपराय की विजय, लेश्या मार्गणा में भवभ्रमण आदि। ऐसे लेखों की संख्या ५६ है। हमने इस संग्रह के कई लेख पढ़ कर देखे, पर उनका ठीक ठीक मतलब हमारी समझ में न आया। "एकान्त" में तो हमारा प्रायः सदा ही वास रहता है; परन्तु सम्पादक महाशय की सलाह के अनुसार "पुनः पुनः कई बार बाँचने" की हमें फ़ुरसत नहीं। इसका खेद है, और क्या कहें। "परम अनुभव रस का स्वाद" लेने के लोलुप चाहें तो भले ही बार बार इसका मनन करें।

इस पुस्तक की भूमिका में लिखा है—"मुक्ति का उपाय न प्राणायाम है और न हठ-योग। मुक्ति का सच्चा उपाय जिस तिस प्रकार राग-द्वेष को दूर कर वीतराग परिणति कर के शुभ नाम व शुभ स्थापना द्वारा निज आत्मा के गुणों का अनुभव करना है"। सो जो लोग आज तक दान-धर्म्म, पूजा-अर्चा, भाव-भक्ति, स्तुति-प्रार्थना, बहुविध उपासना, नाम-कीर्तन और योग-साधन आदि के द्वारा भी मुक्ति-प्राप्ति का सुख-स्वप्न देखते रहे हों अथवा उन्हें मोक्ष का सोपान समझते रहे हों, उन को अब सजग हो जाना चाहिए!

[नवम्बर १९१३.

एक अँगरेजी पुस्तक

The Positive Background of Hindu Sociology.

Book I.

जब किसी अन्य भाषा की पुस्तक समालोचना के लिए हमारे पास आती है, तब चित्त विचलित हो उठता है। दूसरी भाषाओं का हम पर क्या हक़? समालोचना के बहाने अन्य भाषाओं की पुस्तकों का विज्ञापन छापने का प्रयत्न कोई क्यों करे? सरस्वती का उद्देश्य हिन्दी साहित्य की सेवा और अभिवृद्धि है। इस कारण हिन्दी की अच्छी अच्छी पुस्तकों की समालोचना वह प्रसन्नतापूर्वक कर सकती है। इसी से सरस्वती में बँगला, मराठी, गुजराती और अँगरेजी आदि भाषाओं की पुस्तकों की आलोचना कराने की चेष्टा हमें सदा खटकती है। हाँ, यदि इन भाषाओं की पुस्तकों में कोई विशेषता हो—उनसे कोई विशेष उपकार होने की सम्भावना हो—तो उनकी भी आलोचना करने का कष्ट उठाना हमें मंजूर है। जिस अँगरेज़ी पुस्तक का नाम, ऊपर, सिरे पर, दिया गया है, वह ऐसी ही पुस्तक है। उसमें विशेषता है।

संस्कृत में शुक्रनीति नामक एक पुस्तक है। वह नीति-शास्त्र सम्बन्धी ग्रन्थ है। पर केवल नीति ही नहीं; धर्म, समाज, अर्थ-शास्त्र आदि की भी बातें उसमें हैं। इस पुस्तक की अब तक हम लोगों को ख़बर न थी। पहले-पहल डाक्टर ओपर्ट ने, मदरास की गवर्नमेंट के लिए, इसका सम्पादन किया। उसी गवर्नमेंट ने इसे, अपने खर्च से, १८८२ ईसवी में, प्रकाशित किया। तभी से भारतीय विद्वानों ने इसे पहचाना। इसका अँगरेज़ी अनुवाद अध्यापक विनयकुमार सरकार, एम० ए०, ने, अभी हाल ही में, किया है। इलाहाबाद के पाणिनि कार्य्यालय से यह अनुवाद

प्रकाशित हुआ है। इस अनुवाद से पूरा पूरा लाभ उठाने और इसका महत्व अच्छी तरह समझने के लिए सरकार महाशय को दो भागों में एक और भी पुस्तक लिखनी पड़ी। इस पुस्तक का नाम वही है जो ऊपर हेडिंग में दिया गया है। यह पहला भाग है। दूसरा भाग शायद अभी नहीं निकला। शुक्रनीति के अनुवाद का अवलोकन और अध्ययन करनेवालों के लिए यह द्विभागात्मक पुस्तक प्रस्तावना का काम देगी। इसी के प्रथम भाग की एक कापी हमारे पास आई है। एतदर्थ हम भेजनेवाले महाशय के कृतज्ञ हैं।

हम लोगों का ख़याल है कि हमारे पूर्वजों ने एक मात्र पारलौकिक अथवा आध्यात्मिक विषयों ही की ओर ध्यान दिया है। मोक्ष-मार्ग ही को सर्वोपरि समझ कर उन्होंने मोक्ष-प्राप्ति ही के साधनों का चिन्तन किया है। लौकिक विषयों को तुच्छ समझ कर उन पर ग्रन्थ-रचना करने और अपने लौकिक जीवन के सुख-साधनों के उपाय सोचने की उन्होंने चेष्टा ही नहीं की। शुक्र-नीति तथा तत्कालीन अन्यान्य ग्रन्थों-को विचार-पूर्वक पढ़ने से हमारी यह भावना निर्मूल सिद्ध हो जाती है। लौकिक विषयों पर भी प्राचीन विद्वानों ने अनन्त ग्रन्थों की सृष्टि की है। उनमें से अधिकांश यद्यपि नष्ट अथवा अप्राप्य हो गये हैं, तथापि अब भी ऐसे अनेक ग्रन्थ विद्यमान हैं जिनसे पूर्वोक्त भावना का समूल खण्डन होता है। अध्यापक सरकार ने इस बात को अपनी प्रस्तुत पुस्तक में अच्छी तरह दिखाया है।

अध्यापक महोदय ने अपनी पूर्वोक्त पुस्तक के इस प्रथम भाग में शुक्रनीति की सम-सामयिक राजनैतिक बातों की चर्चा नहीं की। उन पर वे इस पुस्तक के दूसरे भाग में विचार करेंगे। इस भाग में उन्होंने प्राचीन समाज-शास्त्र, जाति-शास्त्र, खनिज-विद्या, भूगोल-विद्या, वनस्पति-विद्या और कीट-पतङ्ग-विद्या आदि की विवेचना और आलोचना की है। महापण्डित डाक्टर ब्रजेन्द्रनाथ सील के लिखे हुए कई लेख, परिशिष्ट के

रूप में, पुस्तकान्त में छाप कर, सरकार महाशय ने यह दिखाया है कि प्राचीन आर्य्य और भी कई शास्त्रों में निष्णात थे। यहाँ तक कि वे ध्वनि-विद्या, गति-विद्या, जीवन-विद्या और शरीर-शास्त्र का भी अच्छा ज्ञान रखते थे। प्राचीन नाटकों, काव्यों, पुराणों, तंत्रों, इतिहासों तथा वास्तु-विद्या और शिल्प-शास्त्र से इस बात की पूरी पूरी परिपुष्टि होती है।

शुक्राचार्य्य ने जिस समय शुक्रनीति का सङ्कलन किया था, उस समय के भारत की राजनीति, अर्थनीति, समाज-शास्त्र और धर्म-शास्त्र का सजीव चित्र देखना हो तो शुक्रनीति का आकलन करना चाहिए। इन सभी विषयों का एकत्र विवरण अन्यत्र प्राप्य नहीं। इन्हीं विषयों की आलोचना सरकार महाशय ने अपनी इस पुस्तक में की है। इस आलोचना के लिए उन्हें भिन्न भिन्न भाषाओं के सैकड़ों ग्रन्थों का अवलोकन करना पड़ा है। उसके अवतरण भी उन्होंने यथा-स्थान दिये हैं और उनकी नामावली भी अपनी भूमिका के अन्त में प्रकाशित कर दी है। उनकी यह पुस्तक राजनैतिक विषय को छोड़ कर प्राचीन भारत के अन्य अनेक शास्त्रों की महत्वपूर्ण बातों की सारिणी है। ऐसी बहुमूल्य पुस्तक लिखने के लिए आपको अनेक साधुवाद। अँगरेजी भाषा जाननेवाले प्रत्येक भारतवासी को इसे देखना चाहिए। पुस्तक का आकार बड़ा, पृष्ठ-संख्या ४०० के लगभग और छपाई सुन्दर है।

इस पुस्तक में जगह जगह पर अनेकानेक संस्कृत ग्रन्थों के अंश उद्धृत हुए हैं। दुःख की बात है, उसका प्रूफ़ सावधानता-पूर्वक नहीं देखा गया। इससे बहुत अशुद्धियाँ रह गई हैं। भूमिका के पृष्ठ XIV पर "भृत्यामशेषामकरोद् विभूतिं" का—"भृतपात्र शेषा मकरेद विभूर्ति" छप गया है। पुस्तक में सङ्गीत-रत्नाकर के जो वाक्य उद्धृत हैं, उनमें भी अशुद्धियाँ हैं। संवादी को 'सम्वादी' लिखना तो बहुत ही खटकता है।

[जूलाई १९१४.

भारत-भारती का प्रकाशन

बाबू मैथिलीशरण गुप्त की भारत-भारती छप गई। इस नोट के निकलने के पहले ही वह शायद प्रकाशित हो जाय। इसके दो संस्करण निकलनेवाले हैं। एक राज-संस्करण, दूसरा साधारण संस्करण। पहला संस्करण ६० पौंड के मोटे चिकने आर्ट पेपर पर छपा है। उस पर कपड़े की सुवर्णवर्णाङ्कित जिल्द रहेगी। मूल्य होगा २) कापी। दूसरे संस्करण की कापियाँ मामूली मोटे कागज पर छपी हैं। उन पर साधारण जिल्द रहेगी। मूल्य १) कापी होगा। छपाई निर्णयसागर प्रेस की है। पुस्तक की पृष्ठ-संख्या २०० के लगभग है। यह पुस्तक बाबू रामकिशोर गुप्त, चिरगाँव, ज़िला झाँसी को लिखने से मिलेगी।

यह काव्य वर्तमान हिन्दी साहित्य में युगान्तर उत्पन्न करनेवाला है। वर्तमान और भावी कवियों के लिए यह आदर्श का काम देगा। जो कितने ही अंश सरस्वती में निकल चुके, उनसे इसके महत्व का अनुमान पाठकों ने पहले ही कर लिया होगा। यह सोते हुओं को जगानेवाला है; भूले हुओं को ठीक राह पर लानेवाला है; निरुद्योगियों को उद्योग-शील बनानेवाला है; आत्म-विस्मृतों को पूर्व-स्मृति दिलानेवाला है; निरुत्साहियों को उत्साहित करनेवाला है; उदासीनों के हृदयों में उत्ते-जना उत्पन्न करनेवाला है। यह स्वदेश पर प्रेम उत्पन्न कर सकता है; यह पूर्व-पुरुषों के विषय में भक्ति-भाव का उन्मेष कर सकता है; यह सुख, समृद्धि और कल्याण की प्राप्ति में हमारा सहायक हो सकता है। इसमें वह सञ्जीवनी शक्ति है जिसकी प्राप्ति हिन्दी के और किसी भी काव्य से नहीं हो सकती। इससे हम लोगों की मृतप्राय नसों में शक्ति

का सञ्चार हो सकता है—उनमें फिर सजीवता आ सकती है; क्योंकि हम क्या थे और अब क्या हैं, इसका मूर्तिमान् चित्र इसमें देखने को मिल सकता है। जिन्होंने मुसल्मानों को जगाने और उनका दिल दहलानेवाला हाली का लिखा हुआ, मुसद्दस नामक काव्य, उर्दू में देखा है, उन्हें उसका स्मरण दिला देने ही से इस काव्य की महत्ता उनकी समझ में आ जायगी; क्योंकि यह उसी के नमूने पर लिखा गया है। आशा है, हम लोग इससे अधिक नहीं तो उतना लाभ तो अवश्य ही उठावेंगे जितना कि मुसल्मानों ने उक्त मुसद्दस से उठाया है। आशा है, पाठक इसे लेकर एक बार इसे साद्यन्त पढ़ेंगे और पढ़ चुकने पर—

"हम कौन थे, क्या हो गये हैं, और क्या होंगे अभी।
मिलकर विचारेंगे हृदय से ये समस्यायें सभी॥"

आशा है, भारत-भारती के कर्त्ता के इस किञ्चित् परिवर्तित अनुरोध-वाक्य को मान लेने की कृपा पाठक अवश्य करेंगे।

[अगस्त १९१४.

भक्ति-रत्नावलि

श्रीमद्भागवत में ऐसे सैकड़ों श्लोक हैं जो भक्ति-रस से भरे हुए हैं। ऐसे श्लोक प्रायः हर स्कन्ध में हैं। सांसारिक क्लेशों से दुःखी होने पर हमें बहुधा इन श्लोकों की शरण लेनी पड़ती है। एकान्त में उनका बार बार पाठ करने से चित्त को बहुत शान्ति मिलती है। जिस रासपञ्चाध्यायी की कुछ लोग नाना प्रकार से निन्दा करते हैं, उसके अनेक अंशों का पाठ करते करते भावुक जनों की आँखों से अश्रु-धारा बहने लगती है। उनके कण्ठ का अवरोध हो जाता है। कभी कभी तो वे विकल और विह्वल तक हो जाते हैं—

कुर्वन्ति हि त्वयि रतिं कुशलाः स्व-आत्म-
न्नित्यप्रिये पतिसुतादिभिरार्तिदैः किम्॥
तन्नः प्रसीद परमेश्वर मास्म छिन्द्या
आशां भृतां त्वयि चिरादरविन्दनेत्र ॥३३॥
चित्तं सुखेन भवतापहृतं गृहेषु
यन्निर्विशत्युत करावपि गृह्यकृत्ये॥
पादौ पदं न चलतस्तव पादमूलाद्
यामः कथं व्रजमथो करवाम किंवा ॥३४॥

ऐसे अनेक श्लोकों पर हमने, अपनी पुस्तक में, निशान कर दिये हैं। इससे उन्हें ढूँढ़ना नहीं पड़ता। अनेक धन्यवाद हैं प्रयाग के पाणिनि कार्य्यालय को जिसने ये हमारे निशान किये हुए, तथा और भी अनेक, श्लोक पुस्तक के रूप में अलग ही हमारे लिए सुलभ कर दिये। इसी संग्रह का नाम भक्ति-रत्नावलि है। विष्णुपुरी नामक किसी संन्यासी के

द्वारा यह संग्रह किया गया है। इसमें १३ विरचन या अध्याय हैं। स्मरण, कीर्त्तन, पाद-सेवा आदि भक्ति के अङ्ग हैं। भागवत के भिन्न भिन्न स्थलों से इन्हीं अङ्गों के अनुरूप श्लोक चुन चुन कर इसके प्रत्येक विरचन में रक्खे गये हैं। उदाहरणार्थ, सातवें विरचन में पाद-सेवन का निरूपण है। उसमें भागवत के सातवें स्कन्ध के उन्नीसवें अध्याय का दसवाँ श्लोक रक्खा गया है। इस श्लोक में प्रह्लाद की उक्ति है। यह बात भी श्लोक के हवाले के आगे लिख दी गई है। श्लोक यह है—

विप्राद् द्विषड्गुणयुतादरविन्दनाभ-
पादारविन्दविमुखाच्छ्वपचं वरिष्ठम्।
मन्ये तदर्पितमनोवच नेहितार्थं
प्राणं पुनाति स कुलं नतु भूरिमानः॥

श्लोकों के नीचे संग्रहकार ही की लिखी हुई संस्कृत टीका भी है। पुस्तकान्त में श्लोकों का भावार्थ हिन्दी में भी दे दिया गया है और इस पुस्तक के तथा भक्ति मार्ग के सम्बन्ध में एक निबन्ध भी जोड़ दिया गया है। पुस्तक में बड़े आकार के कोई डेढ़ सौ पृष्ठ हैं और मूल्य भी डेढ़ ही रुपया है। अच्छी छपी है। काग़ज़ अच्छा और मोटा है।

पाणिनि कार्य्यालय की एक पुस्तक की समालोचना में अभी उस दिन हम इस बात की शिकायत कर चुके हैं कि उसके प्रूफ़-संशोधन में असावधानता हुई है। यही शिकायत हमारी इस पुस्तक के विषय में भी है। भागवत का एक श्लोक हमें इस तरह याद है—

अहो बकी यं स्तनकालकूटं जिघांसयापाययदप्यसाध्वी।
लेभे गतिं धात्र्युचितां ततोऽन्यं कं वा दयालुं शरणं व्रजेम॥

इस श्लोक में 'कं वा' पाठ है। परन्तु भक्ति-रत्नावलि में यह 'किंवा' हो गया है, यद्यपि टीका में 'कं वा' ही है। इसके सिवा छापने में पदों का छेद भी ठीक ठीक नहीं हुआ। बकी, यं, स्तनकालकूटं—ये तीनों पद अलग अलग हैं; पर छापने में वे सब एक ही में मिला दिये गये हैं।

मूल में 'असाध्वी' पद है। परन्तु टीका में—"बकी पूतना साध्वी दुष्ट-चित्ता'—पद इस प्रकार अलग अलग छापे गये हैं। 'पूतना' और 'साध्वी' के बीच में स्पेस छोड़ देने से 'असाध्वी' का 'साध्वी' हो गया। यह अनर्थ हुआ। इस पुस्तक का सम्पादन संस्कृत के एक पेंशन-याफ्ता प्रोफ़ेसर महाशय ने किया है। अशक्तता के कारण शायद प्रूफ़ देखने का परिश्रम उनसे अच्छी तरह नहीं हो सका।

[अगस्त १९१४.

जीवन-चरित्र

इस छोटी सी, २८ पृष्ठों की, पुस्तक में स्वामी दयानन्द सरस्वती के गुरु स्वामी विरजानन्द सरस्वती का चरित-वर्णन है। चरित क्या, स्वामी जी के सम्बन्ध की कुछ बातों का उल्लेख मात्र है। यह उल्लेख किस आधार पर किया गया है, यह पुस्तक में नहीं लिखा। मूल पुस्तक उर्दू में है। वह "धर्म्मवीर पं० लेखरामजी आर्य्य पथिक" की लिखी हुई है। उसी का यह हिन्दी रूपान्तर है। रूपान्तरकार हैं—मुंशी जगदम्बा-प्रसाद। प्रकाशक, पण्डित शंकरदत्त शर्म्मा (शर्म्मा मैशीन प्रिंटिङ्ग प्रेस, मुरादाबाद) से यह एक आने में मिलती है।

आज-कल के ऋषि और महर्षि कैसे होते हैं, यह जानने की इच्छा जिसे हो, उसे यह पुस्तक अवश्य पढ़ लेनी चाहिए। इसके कितने ही अंश पढ़ कर हमें खेद हुआ और क्रोध भी आ गया। सुनते हैं, अन्धे आदमी प्रायः निःशील होते हैं। परन्तु स्वामी विरजानन्द पण्डित थे। इससे उनके विषय में कही गई कितनी ही बातों पर आश्चर्य होता है। आश्चर्य क्या, उन पर विश्वास करने को जी नहीं चाहता। उदाहरण—

(१) "मनोरमा, शेखर, न्याय मुक्तावली, सारस्वत, चन्द्रिका, पञ्चदशी आदि नवीन बनावटी ज्योतियों के तुच्छ प्रकाश को अष्टाध्यायी आदि ऋषि-मुनि-कृत सूर्य्य ग्रन्थों के सामने (स्वामी विरजानन्द) बिल्कुल व्यर्थ समझने लगे।"

[पृष्ठ १६.

(२) "अष्टाध्यायी, महाभाष्य, व्याकरण के मुख्य ग्रन्थ हैं तथा कौमुदी, मनोरमा आदि ग्रन्थ मनुष्य-कृत और अशुद्ध हैं।

तथा न्याय मुक्तावली आदि और भागवतादि पुराण, रघुवंशादि काव्य, वेदान्त में पञ्चदशी आदि और नवीन सम्प्रदायी जितने ग्रन्थ हैं, सब अशुद्ध हैं।"

[पृष्ठ १८.

मालूम नहीं, इस चरित के लेखक लेखराम संस्कृत भाषा के कितने बड़े विद्वान् और व्याकरण, न्याय, वेदान्त, काव्य, पुराण आदि के कितने बड़े ज्ञाता थे। उनके पूर्वोक्त अवतरणों से तो सूचित होता है कि संस्कृत भाषा और संस्कृत शास्त्रों से उनका कुछ भी सम्पर्क न था; और रहा भी होगा तो बहुत कम। जो कुछ नवीन है सभी अशुद्ध है, यह कहाँ का न्याय है? पञ्चदशी अशुद्ध! न्याय-मुक्तावली अशुद्ध! रघुवंश अशुद्ध! अरे भाई, कभी पढ़ा भी इनको? यदि अशुद्ध है तो साद्यन्त सभी अशुद्ध है या इनके कुछ ही अंश अशुद्ध हैं? ज़बान में लगाम ही नहीं! यदि किसी ग्रन्थ का अशुद्ध होना "नवीन सम्प्रदायी" होने पर ही अवलम्बित हो तो स्वामी दयानन्द सरस्वती के बनाये ग्रन्थ भी अशुद्ध हैं, क्योंकि वे भी नये हैं और साम्प्रदायिक भाव से खाली नहीं। न्यायमुक्तावली और पञ्चदशी आदि तो बनावटी ज्योतियाँ हैं, और आपकी ऋग्वेदादि-भाष्य-भूमिका और सत्यार्थप्रकाश? वे तो शायद सृष्टि के आरम्भ में आप ही आप उत्पन्न हुए ज्वालामाली सूर्य्य हैं! स्वामी विरजानन्द ने इस तरह की बातें यदि कही भी हों, तो भी लेखक को समझ-बूझ कर शब्द-प्रयोग करना था। प्रतिष्ठित जनों के मुख से ऐसी बातें निकलना अच्छा नहीं होता। ऋषियों और मुनियों ही को शुद्धता का ठेका परमेश्वर के यहाँ से नहीं मिला। मनुष्य भी शुद्धाचारी और शुद्ध-लेखक हो सकते हैं। विक्षिप्त की तरह बर्राने से ऋषियों और महर्षियों का भी आदर नहीं होता और विचारपूर्वक बात कहने से मनुष्य भी श्रद्धाभाजन हो सकता है।

एक और अवतरण सुन लीजिए—

"दण्डी विरजानन्द ने यह निश्चय कर लिया था कि भागवतादि पुराणों और सिद्धान्त आदि अनार्ष ग्रन्थों ने संसार में अत्यन्त मूर्खता और स्वार्थपरता का राज्य फैला रक्खा है। इसी कारण वे इन भ्रष्ट ग्रन्थों के कर्त्ताओं की ओर से अपने विद्यार्थियों को अत्यन्त घृणा दिलाना चाहते थे। तथा च इस कार्य्य की पूर्ति के लिए उन्होंने एक जूता रख छोड़ा था और सिद्धान्त कौमुदी के कर्त्ता भट्टोजी दीक्षित की मूर्ति को वे सब विद्यार्थियों से जूते लगवाते थे"।

[पृष्ठ २०.

छिः छिः! कहाँ तो संन्यास-व्रत और कहाँ ऐसा जघन्य काम! जिस कौमुदी की बदौलत ही इस जूतेबाज़ स्वामी को अष्टाध्यायी पढ़ने की अक्ल आई, उसी के कर्त्ता का इतना अपमान! कृतघ्नता की हद हो गई! विवेक की इतिश्री हो गई! ऐसे ही ऐसे ऋषि-जनोचित कार्य्यों के उपलक्ष्य में आर्य्य समाज के अनुयायियों ने इस नेत्रहीन वैयाकरण को भी ऋषि की पदवी दे डाली है। सिद्धान्त कौमुदी का आदर करनेवालों को अब इस बात पर विचार करना चाहिए कि यदि कोई वैय्याकरण, हर रोज़, सुबह उठ कर, विरजानन्द की मूर्त्ति पर गिनकर पचास दफ़े उसी तरह के सम्मान-पुष्प चढ़ावे तो उसे भी ऋषि की पदवी मिलनी चाहिए या नहीं?

आर्य्य समाज के नायकों को मुनासिब है कि वे दूसरों का आदर करना सीखें और इस रूप में इस पुस्तक का प्रचार एक दम रोक दें। आर्य्य-समाजियों के गुरु के गुरु की इस लीला के विज्ञापन से हानि के सिवा लाभ नहीं। जिस "धर्म्मवीर" ने इस लीला की झाँकी दिखाई है, उसकी वीर और धार्म्मिक आत्मा को भगवान् सद्गति दे!

[सितम्बर १९१४.

अर्थ-शास्त्र

श्रीयुत प्रोफेसर बालकृष्ण जी, एम० ए० ने यह साढ़े पाँच सौ पृष्ठों की पुस्तक लिखकर बड़ा काम किया है। अर्थ-शास्त्र आपका विशेष प्रकार से अधीत विषय है। उसकी अध्यापना भी आप करते हैं। अतएव इस विषय पर पुस्तक-रचना के आप पूर्ण अधिकारी हैं। यह बात भी आपके, देश के और हिन्दी के गौरव की वर्धक है जो आपने इस पुस्तक की रचना हिन्दी में की। इस शास्त्र के सिद्धान्तादि के ज्ञान और प्रचार की, इस समय, इस देश में, बड़ी ही आवश्यकता है। अतएव ऐसी समयोपयोगी पुस्तक लिखने के लिए प्रोफ़ेसर महाशय को बहुत बहुत साधुवाद। यह पुस्तक इस शास्त्र का पहला ही भाग है। इसमें केवल धन की उत्पत्ति और वृद्धि का वर्णन है। अगले भागों में इस शास्त्र के अन्यान्य अंगों का वर्णन रहेगा। यद्यपि इस पुस्तक में इस शास्त्र के प्रारम्भिक ही अंश का विवेचन है, तथापि इसमें उस उतने अंश की आनुषङ्गिक अनेक आवश्यक बातों का उल्लेख हुआ है। अर्थ-शास्त्र की आवश्यकता, सम्पत्ति-निरूपण, सम्पत्ति के साधन, भारतीय कृषि, सरकारी बङ्क, कृषि में राजा का कर्त्तव्य, श्रम-विभाग, शिल्प की दशा, कम्पनियाँ आदि अनेक महत्त्वपूर्ण विषयों का वर्णन, अलग अलग अध्यायों में, करके बालकृष्ण जी ने हम लोगों के सम्पत्ति-शास्त्र सम्बन्धी ज्ञान की वृद्धि की है। आपने अनेक चित्र और नक़शे देकर ऐसी सैकड़ों बातों की ओर हमारा ध्यान खींचा है जिन पर अब तक बहुत ही कम लोगों ने विचार किया है। ऐसी अच्छी और समयोचित पुस्तक लेकर हमें उससे अवश्य लाभ

उठाना चाहिए। पुस्तक का आकार छोटा और मूल्य १॥) रुपया है। मिलने का पता—भारत-लिटरेचर कम्पनी, लाहौर।

पुस्तक-प्रणेता महाशय पञ्जाब के रहनेवाले मालूम होते हैं। क्योंकि आप की भाषा में उस तरफ की प्रान्तीयता बहुत अधिक पाई जाती है। उसमें और तरह की भी त्रुटियाँ हैं। परन्तु उससे विशेष हानि नहीं। भाषा-विषयक त्रुटियों से सम्पत्ति-शास्त्र सम्बन्धिनी ज्ञान-प्राप्ति में रत्ती भर भी बाधा नहीं आ सकती। हाँ, कुछ थोड़ी सी बाधा लेखक की प्राचीन-विषयक निःसीम भक्ति से अवश्य आ सकती है। आप आर्य्य समाज के नियमों के अनुयायी जान पड़ते हैं। आपके लेख में आर्य्य शब्द का प्रयोग, मौक़े बे मौक़े, सभी कहीं, अत्यधिक हुआ है। आपकी की हुई भारत की प्रशंसा सीमा से आगे बढ़ गई है। पुस्तक के पहले पृष्ठ पर लिखा है—"प्राचीन आर्य्यों ने सर्व प्रकार की विद्याओं में अद्भुत उन्नति प्राप्त की थी"। हमारा निवेदन है कि इस प्रकार की सीमा-रहित उक्तियाँ विद्वानों के मुख से न निकलनी चाहिएँ। सृष्टि अनन्त है; विद्यायें भी अनन्त हैं। उन सब विद्याओं का स्थूल ज्ञान प्राप्त कर लेना भी मनुष्य के लिए प्रायः असम्भव है। उन सब की अद्भुत उन्नति कर डालना तो बहुत दूर की बात है।

[सितम्बर १९१४.

वैदिक प्राणैषणा

आकार बड़ा; पृष्ठ-संख्या ५२०; मूल्य २ रुपया; लेखक, "श्रीमद्वैद्याचार्य्य पण्डित हेमनिधि शर्म्मा उपाध्याय, बुलन्दशहर; प्रकाशक, लेखक महाशय के पुत्र पण्डित सुधानिधि शर्म्मा उपाध्याय; प्रकाशक जी से प्राप्त। इस पुस्तक के नाम जैसा क्लिष्ट है, भाषा भी इसकी वैसी ही क्लिष्ट है; वह कहीं कहीं व्याकरण-विरुद्ध भी है। इसमें न मालूम क्या क्या लिखा गया है। इसका प्रधान उद्देश्य निरामिष भोजन की महत्ता दिखाना है। परन्तु जिन बातों का मूल विषय से बहुत ही कम या बिलकुल ही सम्बन्ध नहीं, वे भी इसमें सन्निविष्ट कर दी गई हैं। उदाहरणार्थ वाजीकरण-विधि, वैदिक गर्भाधान-विधि, मद्यपान-विचार, वाममार्ग का प्रचार आदि। इसके कुछ विषयों के नाम ये हैं—प्रमाण-विषय, शास्त्र-परीक्षा, कृति-विचार, हितार्थोपदेश, मांसाहार का इतिहास, भक्ष्याभक्ष्य-विचार, सोम-रसायन वर्णन, याज्ञिक विषय आदि। इन विषयों से सम्बन्ध रखनेवाले सैकड़ों अवतरण प्राचीन संस्कृत ग्रन्थों से दिये गये हैं। इस पुस्तक की सब से बड़ी विलक्षणता यह है कि श्रुतियों में, स्मृतियों में, गृह्य-सूत्रों में और वैद्यक ग्रन्थों आदि में जहाँ जहाँ मांस खाने या हिंसा करने का उल्लेख है, वहाँ वहाँ के वचनों का नया ही अर्थ वैद्याचार्य्य जी ने कर डाला है। मतलब यह कि यदि कहीं किसी को आपके मत के विरुद्ध कोई वचन मिले तो उसे समझना चाहिए कि या तो उसका वह अर्थ ही नहीं जो आज तक अधिकांश विद्वान् समझते आये हैं या वह वचन ही प्रक्षिप्त है! इस दुर्घट कार्य्य के उपलक्ष्य में आपको बधाई!

[मार्च १९१५.

खोज की रिपोर्ट

संयुक्त प्रान्त की गवर्नमेंट के दिये हुए रुपये की सहायता से इस प्रान्त में हिन्दी पुस्तकों की जो खोज होती है, उसकी रिपोर्ट की एक कापी गवर्नमेंट प्रेस, इलहाबाद से, हमें मिली है। यह १९०९, १० और ११ की रिपोर्ट है और तीन वर्ष बाद निकली है। इसके विभागों और पृष्ठ-संख्याओं का विवरण इस प्रकार है—

	पृष्ठ-संख्या
(१) भूमिका	२
(२) रिपोर्ट	२४
(३) ग्रन्थ-लेखकों का संक्षिप्त विवरण	४५८
(४) १८५० ईसवी के लेखकों के ग्रन्थादि का नाम-निर्देश	१८
(५) ग्रन्थकारों और उनके आश्रयदाताओं की नामावली	४
(६) अज्ञात लेखकों की पुस्तकों के नाम आदि	८
(७) लेखकों की सूची	४
(८) पुस्तकों की सूची	७
कुल पृष्ठ-संख्या	५२५

रिपोर्ट अँगरेजी में है। संक्षिप्त विवरण (३) में प्राप्त हुई पुस्तकों के आद्यन्त के नमूने मात्र हिन्दी में हैं।

जिन तीन वर्षों की यह रिपोर्ट है, उनमें इस प्रान्त के कई ज़िलों में खोज हुई। परन्तु जिनके नाम नीचे दिये जाते हैं, उन्हीं के पुस्तकालयों में विशेष करके खोज की गई—

(१) पण्डित रघुनाथराम शर्म्मा, बनारस।

(२) महाराजा बलरामपुर।

(३) पण्डित भानुप्रताप तिवारी, चुनार।

सब मिला कर ११८९ पुस्तकों की जाँच-पड़ताल हुई। उनमें से ३२३ पुस्तकें ऐसी निकलीं जिनकी नोटिसें पहले ही हो चुकी थीं। शेष ८६६ पुस्तकों की नोटिसें इस रिपोर्ट में की गई हैं। किसी पुस्तक का नाम, उसके लेखक का नाम, पुस्तक की पृष्ठ-संख्या, प्रत्येक पृष्ठ की पंक्ति-संख्या, उसकी स्थिति के स्थान का नाम आदि तथा उसके आद्यन्त के नमूने देना—यही नोटिस करना कहाता है। इस रिपोर्ट के तीसरे विभाग या अध्याय के ४५८ पृष्ठों में इसी तरह के नोटिस हैं। ८६६ पुस्तकों में से ७७४ पुस्तकों के लेखकों के नाम तो मालूम हुए; पर ९२ के नाम नहीं मालूम हुए। ७७४ पुस्तकों के ज्ञात-नाम लेखकों के समय का ब्योरा इस प्रकार है—

सदी	लेखकों की संख्या
१४	१
१५	७
१६	१६
१७	३५
१८	८८
१९	९५
२०	१७
जिनका समय ज्ञात नहीं	१९१
जोड़	४५०

जिन ८६६ पुस्तकों के नोटिस लिखे गये हैं, उनमें तीन वर्ष के (३६५×३) १०९५ दिनों से भाग देने पर प्रति दिन एक पुस्तक का भी नोटिस किया जाने का औसत नहीं पड़ता। नोटिस की गई पुस्तकों में अधिक संख्या, अर्थात् ३०१, धार्मिक पुस्तकों ही की है। फुटकर

विषयों की पुस्तकों की संख्या १५४ है। सब से पुरानी पुस्तक जो मिली, वह गोरखनाथ की बानी है। वह चौदहवीं सदी की है। पन्द्रहवीं सदी की ४९ पुस्तकें मिलीं और सोलहवीं की ४८। कबीरदास के कितने ही ग्रन्थ मिले। रैदास की भी बानी प्राप्त हुई। ये और कबीरदास पन्द्रहवीं सदी में विद्यमान थे। गुरु नानक की सुखमनी नामक एक पुस्तक भी हिन्दी में मिली। सूरदास की एक नई पुस्तक—सूर-सागर-सार भी खोज निकाली गई। इस प्रकार कितनी ही बहुत पुरानी पुस्तकों का पता चला। कम पुरानी पुस्तकें तो बहुत सी मिलीं। तथापि कोई ऐसी पुस्तक नहीं मिली जो विशेष महत्व की हो। प्रसिद्ध कवि मतिराम की सतसई अवश्य कुछ महत्व रखती है। रिपोर्ट में लिखा है कि वह बिहारी की सतसई के टक्कर की है। गुलिस्ताँ का अनुवाद—सुमनचन भी अच्छा मिला। हाँ, इस खोज से एक बात महत्व की अवश्य ज्ञात हुई। कुछ पुस्तकें बहुत पुराने गद्य में लिखी हुई मिलीं। स्वामी विट्ठल-नाथ की शृङ्गार-रस-मण्डन नामक पुस्तक ऐसी ही है। ये महाशय सोलह-वीं सदी में विद्यमान थे। इसी सदी के गङ्ग भाट की बनाई हुई—चन्द-छन्द बरनन की महिमा भी मिली। गङ्ग के गद्य का नमूना लीजिए—

"श्री दलपतिजी अकबर साहाजी आमकाश में तखत ऊपर विराजमान हो रहे है। और आमकास भरने लगा है, जिसमें तमाम उमराव आय आय कुंस (कुनस—कोर्निश) बजाय बजाय जुहार करके अपनी अपनी बैठक पर बैठ जाया करें, अपनी अपनी मिशल से। जिनकी बैठक नहीं सो रेसम के रसे में रेशम की लू में पकड़ पकड़ के बड़े ताबिन में रहे।"

पाठक देखेंगे कि यह भाषा बोल-चाल की भाषा है। पुरानी पुस्तकों की खोज से बड़ा लाभ हो सकता है। उससे साहित्य की वृद्धि और पुष्टि के सिवा अनेक ऐतिहासिक रहस्य भी जाने जा सकते हैं। अतएव यह खोज जारी रहे तो अच्छा। इस प्रान्त की गवर्नमेंट को ऐसे उपयोगी काम के लिए अवश्य सहायता देनी चाहिए।

ऐसी रिपोर्टों का सम्पादन बड़ी सावधानी से होना उचित है। पर इस रिपोर्ट के सम्पादन में विशेष सावधानी से काम नहीं किया गया। असावधानता के कुछ नमूने लीजिए—

(१) पृष्ठ ३२३ पर कवि का नाम दिया गया है—अनाथदास। पर पृष्ठ ४७६ में—अनाथराम—छपा है।

(२) सुखदेव मिश्र का वर्णन पृष्ठ ४१३, नोटिस नंबर ३०७, में है; पर लेखकों की सूची में "पृष्ठ" (Page) ३०७ का हवाला है। वहाँ पृष्ठ की जगह "नोटिस" होता तो हवाला ठीक हो जाता। फिर, पृष्ठ ४७९ में लिखा है कि सुखदेव मिश्र का हाल नोटिस नंबर ३७६ में है। पर इस नंबर का नोटिस पुस्तक में है ही नहीं।

सुखदेव मिश्र कम्पिला के नहीं, दौलतपुर, ज़िला रायबरेली के रहनेवाले थे। कम्पिला से आकर वे वहीं बस गये थे। उनके वंशज अब तक वहीं रहते हैं।

(३) तोपमणि कवि के विषय में रिपोर्ट के पृष्ठ १४ में लिखा है—

He did not live in Kampila ××× but in भृगमेरपुर, District Allahabad.

इलाहाबाद ज़िले में शृंगवेरपुर तो सुना गया है, भृगमेरपुर नहीं।

(४) पृष्ठ ४१४ में है—

"मेवांध लगो तमनि भयो सुदि महिपाल।"

यह एक दोहे का पूर्वार्द्ध है। इसमें ठीक ठीक पदच्छेद न करने से "बाँधल गोत" का, देखिए, कैसा अङ्ग-भङ्ग हुआ है। दोहे में छन्दोभङ्ग भी है; पर शायद प्राप्त पुस्तक में ऐसा ही पाठ हो। अतएव उसके लिए सम्पादक उत्तरदाता नहीं।

(५) पृष्ठ ३८ में उपवंशारि नामक पुस्तक के आरम्भ का जो संस्कृत श्लोक दिया गया है, वह महा अशुद्ध है। यदि प्राप्त पुस्तक में ऐसा ही पाठ है तो भी सम्पादक यदि ब्रैकेट के भीतर शुद्ध पाठ

लिख देते तो अच्छा होता । जो लोग संस्कृत पुस्तकों की खोज करते हैं, वे अपनी रिपोर्टों में बहुधा अशुद्ध के आगे शुद्ध पाठ भी लिख दिया करते हैं ।

[मार्च १९१७,

श्री महाराज विक्रमादित्य का जीवन-चरित

पञ्जाब में एक हिन्दू सभा है। वह कालेज के विद्यार्थियों में हिन्दी पढ़ने-लिखने का अनुराग उत्पन्न करना चाहती है। इस उद्देश्य की सिद्धि के लिए वह दो साल से विद्यार्थियों के लिए विषय चुन देती है और उन पर उनसे निबन्ध लिखाती है। १९१४ में नियत किया गया विषय था—विक्रमादित्य का जीवन-चरित। उस पर चार विद्यार्थियों ने निबन्ध लिखे। उनमें से दो के निबन्ध सभा ने पसन्द किये और दोनों को चालीस चालीस रुपया इनाम दिया। उन्हीं दो निबन्धों में से इस निबन्ध को सभा ने पुस्तकाकार प्रकाशित किया है और दो आने मूल्य रक्खा है। लाहौर के पते पर सभा के मन्त्री को लिखने से यह पुस्तक मिलती है। इस ३३ पृष्ठ-व्यापी निबन्ध के लेखक श्रीयुत लक्ष्मणस्वरूप बी० ए० हैं। आप लाहौर के ओरियंटल कालेज के विद्यार्थी हैं।

जिस विक्रमादित्य के अस्तित्व तक का स्वीकार अनेक विद्वान् नहीं करते और जिसके समय तथा संवत् के निरूपण के लिए वे ऐतिहासिक प्रमाणों का अभाव देखते हैं, उसी का "चरित्र" लिखाने की चेष्टा करना सभा का साहस ही समझना चाहिए। उसका अस्तित्व सप्रमाण सिद्ध करने और उसके समय का निरूपण भी करने की यदि वह चेष्टा करती तो उसकी चेष्टा युक्तिसङ्गत मानी जाती। विक्रमादित्य का चरित लिखाने की—सो भी विद्यार्थियों से—चेष्टा सर्वथा उपहसनीय है।

इस निबन्ध में लेखक महाशय ने अधिकतर अँगरेजी के ग्रन्थों के आधार पर विक्रमादित्य के अस्तित्व और समय का निरूपण किया है। संस्कृत के भी कई ग्रन्थों का आश्रय उन्होंने लिया है। निष्कर्ष आपने यह निकाला है कि विक्रमादित्य नाम का एक प्रतापी राजा, ईसवी सन् के

५७ वर्ष पहले, अवश्य हुआ है; और विक्रम-संवत् उसी का चलाया हुआ है। विक्रमादित्य के विषय में अनेक गवेषणापूर्ण लेख अब तक अँगरेजी में निकल चुके हैं। परन्तु उनमें से बहुत ही कम लेखों से लेखक ने लाभ उठाया है। तथापि विक्रमादित्य के अस्तित्व आदि के विषय में जो कुछ उन्होंने लिखा है, उसमें उन्होंने अपनी शक्ति के अनुसार खोज, विचार और युक्ति से काम लिया है। अतएव उनका यह प्रयत्न प्रशंसनीय है। परन्तु विक्रमादित्य के सैन्य, पराक्रम, देश-विजय, वंश, सभा आदि के विषय में जो कुछ उन्होंने लिखा है और जो अवतरण उन्होंने संस्कृत पुस्तकों से दिये हैं, उनको देखकर अफसोस होता है। जिसके समय और अस्तित्व तक का ऐतिहासिक प्रमाण नहीं मिलता, उसके वंश और सैन्य का वर्णन करना कहानी कहने के अतिरिक्त और कुछ नहीं। निवन्ध-लेखक ने सी० मेबल डफ की पुस्तक को कोई जगह प्रमाण माना है। उसी में लिखा है—

"Vijnanesvara, author of the Mitakshara, flourished at the court of the Western Chalukya Vikramaditya VI (A. D. 1076—1127)."

इन्हीं विज्ञानेश्वर ने अपनी मिताक्षरा टीका के अन्त में कल्याण के राजा छठे विक्रमादित्य की प्रशंसा में कुछ श्लोक लिखे हैं। इस विक्रमादित्य का समय १०७६–११२७ ईसवी है। पर निबन्ध-लेखक महाशय ने विज्ञानेश्वर की यह स्तुति-प्रशंसा ईसा के ५७ वर्ष पहले के विक्रमादित्य की मान कर उसकी नकल कर दी है। इसी तरह किसी अर्वाचीन कालिदास के रचे हुए ज्योतिर्विदाभरण ग्रन्थ से भी विक्रमादित्य के वर्णन से परिपूर्ण श्लोक उद्धृत किये हैं। भला जिस "नृपसखा किल कालिदासः" के समकालीन "वराह पूर्वाः" (वराह मिहिर आदि) पण्डित थे, वह प्राचीन विक्रमादित्य का सभा-पण्डित कैसे माना जा सकता है और उसका किया हुआ वर्णन उस विक्रमादित्य का द्योतक कैसे हो

सकता है ? आपकी देखी हुई श्रीमती डफ की पुस्तक के अनुसार भी वराह-मिहिर ईसा की छठी शताब्दी में विद्यमान थे। वे इस प्राचीन विक्रमादित्य के सभा-पण्डित कैसे ? ये बातें ऐसी हैं कि यदि ज़रा भी सावधानी और विवेक-दृष्टि से काम लिया जाता तो इनकी अप्रासङ्गिकता लेखक के ध्यान में आ जाती। ऐसी ही और भी कितनी ही बातें इस निबन्ध में हैं। सुनते हैं, पञ्जाब की हिन्दू सभा प्राचीन भारतवर्ष का एक इतिहास लिखानेवाली है। यदि उसकी भी यही दशा हुई तो सभा का प्रयत्न और खर्च सभी व्यर्थ हो जायगा। यह निबन्ध एक विद्यार्थी का लिखा हुआ है। अतएव इन दोषों के लिए लेखक को विशेष उपालम्भ नहीं दिया जा सकता। परन्तु सभा के मन्त्री आदि, जो बड़ी बड़ी उपाधि पाये हुए हैं और जो विद्वान् हैं, उपालम्भ के भाजन अवश्य हैं। उनका ध्यान इन त्रुटियों पर जाना चाहिए था और इस सम्बन्ध में उन्हें यथार्थ बात बता देनी थी।

इस निबन्ध की हिन्दी बिलकुल ही लचर है। संस्कृत शब्दों और अवतरणों की तो बड़ी ही दुर्दशा हुई है। छापेख़ाने के भूतों ने भी लेखक और संशोधक की सहायता इस सम्बन्ध में खूब की है। कनिष्क का 'कनिष्का', केरल का 'केरला', चोल का 'चोला' और म्लेच्छ का 'म्लेक्ष' हो गया है। यह शायद संस्कृत न जानने और अँगरेज़ी पुस्तकों से इन शब्दों की नकल करने का फल है। हार्नले का 'होरनाई' बहुत ही खटकता है। एक जगह लिखा है—

"वीहलर (बूलर या ह्वीलर = Wheeler) साहब गुप्त वंश के राजाओं के विषय में इस प्रकार लिखते हैं और उनकी योनि (!) यूनान देश को बतलाते हैं"। पृष्ठ ११.

इस पर टीका की आवश्यकता नहीं।

[अप्रैल १९१५.

भारतवर्ष का इतिहास

प्रयागप्रसाद त्रिपाठी, असिस्टेंट मास्टर, ज़िला स्कूल, आरा, ने इसकी रचना की है। यह मुसलमानों के शासन-समय का भारतवर्षीय इतिहास है। इसमें पहले मुसलमानों का संक्षिप्त वर्णन है। फिर सिन्ध पर अरबवालों के द्वारा किये गये आक्रमण का वर्णन है। तदनन्तर महमूद ग़ज़नवी से लेकर मुगलों के पतन तक का वर्णन, १६ अध्यायों में, है। इसकी भूमिका में लेखक ने लिखा है कि इसमें ऐसी नई नई बातें हैं जो आज तक के "किसी हिन्दी इतिहास में नहीं मिलतीं"। साथ ही आपने यह भी लिख दिया है कि—"इस ग्रन्थ का मसाला फारसी तथा अँगरेजी इतिहास-लेखकों से लिया गया है। × × × × मुझे लेनपूल तथा यलफिस्टोन (?) के इतिहासों से बड़ी सहायता मिली है।" जब स्वयं खोज न करके आपने फ़ारसी और अँगरेज़ी इतिहास-लेखकों ही से मसाला उधार लिया, तब आपकी पुस्तक में नई नई बातें और कहाँ से आ गईं? अपनी दो चार नई नई बातों का उल्लेख आपने क्यों न कर दिया? कर देने से आपकी बात की पुष्टि हो जाती। हमें तो आपकी पुस्तक में एल्फिन्स्टन ही की छाया अधिक देख पड़ती है। पर आपने उस बेचारे का नाम तक ठीक ठीक न लिखा। उसकी सामग्री से आपने लाभ उठाया है, यह आपके 'मेक्का' और 'मेदीना' आदि शब्द ही कह रहे हैं। आपने फ़ारसी के इतिहासों से भी सामग्री प्राप्त की है। परन्तु उनके नाम आपने नहीं दिये। फारसीदाँ तो पूर्वोक्त दोनों शब्दों का उच्चारण 'मेक्का' और 'मेदीना' नहीं करते। हाँ, एल्फिन्स्टन साहब तथा दूसरे अँगरेज़ इतिहास-लेखकों ने ज़रूर इनको 'Mecca' 'Medina'

लिखा है और आपने उनके उच्चारण की ठीक ठीक नकल हिन्दी में कर दी है। इतिहास में जिन बातों पर विचार करने की आवश्यकता होती है, उन पर आपने बहुत ही कम विचार किया है। कौन घटना किस कारण से हुई और समाज पर उसका क्या असर हुआ? हिन्दुओं और मुसलमानों की सामाजिक दशा में कौन कौन से परिवर्तन हुए और क्यों हुए? सुनीति, सदाचार, व्यापार, शिक्षा आदि से सम्बन्ध रखने-वाली बातों में कब कब, किस तरह के और क्यों हेर-फेर हुए? इन विषयों की यदि मार्मिक समालोचना इस पुस्तक में की जाती तो इसका 'इतिहास' नाम सार्थक हो जाता। हमें दुःख है, इस पुस्तक की भाषा भी अच्छी नहीं। उदाहरण—

"इन आक्रमणों को समाप्त करने के लिए शाइस्ताखाँ औरंगाबाद से प्रस्थान करके युद्ध-क्षेत्र से शिवाजी सेना को हटा दिया, तथा अपना प्रस्थान पूना को नियत किया जहाँ पर शिवाजी निवास करता था।" पृष्ठ ३०३.

इन त्रुटियों के होने पर भी इसमें गुण हैं। इसमें मुसलमानों के शासन-समय की मुख्य मुख्य घटनायें कुछ विस्तार के साथ लिखी गई हैं। भाषा भी इसकी विशेष जटिल नहीं है। इसकी सामग्री भी नामी नामी ग्रन्थकारों की पुस्तकों से ली गई है। अतएव अधिकांश में वह विश्वसनीय है।

[जून १९१५.

कुमारपाल-चरित

लेखक, मुनि श्री ललितविजय जी; प्रकाशक लल्लुभाई करमचन्द दलाल, अध्यात्म-ज्ञान-प्रसारक मण्डल, चम्पागली, बम्बई; आकार छोटा; पृष्ठ-संख्या २१२ + ५० + २४; मूल्य ६ आना; कपड़े की सुन्दर जिल्द; छपाई, सफ़ाई सब उत्तम।

बम्बई में जैन साहित्य के प्रचार के लिए अध्यात्म-ज्ञान-प्रसारक मण्डल नामक एक संस्था है। अब तक उसने श्रीमद्बुद्धिसागर-ग्रन्थ-माला के नाम से २८ ग्रन्थ प्रकाशित किये हैं। प्रस्तुत ग्रन्थ पूर्वोक्त ग्रन्थमाला की उन्तीसवीं पुस्तक है। पुस्तक हिन्दी में है। इसमें जैनों के प्रसिद्ध आचार्य हेमचन्द्र सूरि का संक्षिप्त और अनहिलपाटन के राजा कुमारपाल का कुछ विस्तृत चरित है। कुमारपाल बारहवीं शताब्दी में विद्यमान थे। पूर्वोक्त हेमचन्द्राचार्य्य के वे शिष्य थे। उनके मन्त्री का नाम उदयन था। उदयन के इच्छानुसार उदयन के लड़के ने जैनियों के सिद्धाचल और गिरनार नामक तीर्थ में कई करोड़ के व्यय से मन्दिर और पहाड़ पर चढ़ने की सीढ़ियाँ बनवाई थीं, जो अब तक मौजूद हैं।

संस्कृत में जिन-मण्डनगणि कृत "कुमारपाल प्रबन्ध" नाम का एक ग्रन्थ है। उसी के आधार पर लेखक ने वर्तमान पुस्तक लिखी है। पुस्तकारम्भ की भूमिका अनेक ज्ञातव्य विषयों से परिपूर्ण है।

जैन साहित्य में भारत के मध्य-कालीन इतिहास की बहुत कुछ सामग्री है। जैनों को उसका सदुपयोग करना चाहिए। इससे अनेक दुर्लभ बातों का पता लग सकता है। कुमारपाल के विषय में संस्कृत, प्राकृत और गुजराती में अनेक पुस्तकें हैं। प्रस्तुत पुस्तक के सदृश, उनके

आधार पर भी पुस्तकें निकलनी चाहिएँ । इस पुस्तक की भाषा कुछ गुजरातीपन लिए हुए है, पर समझ में अच्छी तरह आती है। हिन्दी-भाषा-भाषी जैनों के लिए ही यह लिखी गई है। लेखक महाशय का यह कार्य्य प्रशंसनीय है ।

[जून १९१५.

महामण्डल-माहात्म्य

यह पुस्तक अँगरेज़ी में है। नाम है—The Early History of Sri Bharat Dharma Mahamandal. पृष्ठ-संख्या इसकी डेढ़ सौ के ऊपर है। मूल्य पुस्तक पर लिखा नहीं। इसके लेखक कोई के० पी० चैटर्जी (K. P. Chatterjee) साहब हैं। आपने पुस्तक-रचना भी अँगरेज़ी ही में की है और नाम भी अपना अँगरेज़ी ही ढंग से लिखा है। आप कौन हैं, यह मालूम नहीं। हाँ, पुस्तक से इतना पता अवश्य चलता है कि आपको स्वामी ज्ञानानन्द जी की चरण-सेवा का सौभाग्य प्राप्त हुआ है—I have been privileged to find a place at Sri Swamiji's feet.

भारत-धर्म्म-महामण्डल धार्म्मिक परिषद् है। सनातन धर्म की रक्षा और विस्तार ही के लिए उसका जन्म हुआ है। ऐसी संस्था से प्रकाशित पुस्तकें अँगरेज़ी में क्यों निकलें? हिन्दी या किसी अन्य देश-भाषा में क्यों नहीं? सनातन धर्म्म का अँगरेज़ी भाषा से कुछ अविच्छिन्न सम्बन्ध तो है नहीं। फिर इस विदेशी भाषा का उपयोग क्यों? इसके प्रयोग का कारण शायद यह हो कि देशी भाषायें प्रान्तिक हैं। भारत के सभी प्रान्तों के लोग किसी एक देशी भाषा को अच्छी तरह नहीं समझ सकते। पर, अँगरेज़ी भाषा भारत में विशेष व्यापक है। सभी प्रान्तों के शिक्षित मनुष्य प्रायः उसे पढ़, लिख और समझ सकते हैं। अतएव पुस्तक में जिन बातों का वर्णन है, उन्हें सभी प्रान्तों के शिक्षित जनों के कान तक पहुँचा देने ही के इरादे से शायद उसमें अँगरेज़ी भाषा का प्रयोग हुआ है। अच्छा, पुस्तक में वर्णन किन बातों का है? वर्णना है विशेष करके स्वामी जी की महिमा, प्रभुता, साधुता, विद्वत्ता, धर्म्म-निष्ठा, परोपकृति आदि

की। इसके सिवा स्वामी जी पर समय समय पर, जो दोषारोपण हुए हैं, उनके कार्य्य-कलापों की जो कटाक्षपूर्ण समालोचनायें हुई हैं, और उन पर, अथवा यह कहना चाहिए कि मण्डल पर जो मुकद्दमे चलाये गये हैं, उनकी भी यत्र-तत्र वर्णना है। साथ ही इन आक्षेपादिकों की असारता और स्वामी जी की निर्दोषता का उद्घोष भी है। इन बातों की घोषणा की ध्वनि दूर तक पहुँचाने में राज-भाषा अवश्य ही अधिक कारगर होगी। पुस्तक में जो बातें हैं, वे चैटर्जी महाशय की निज की सम्पत्ति नहीं। स्वामी जी ही ने ये सब बातें उनसे कहीं हैं। "I have preferred to piece together the notes of what fell from his (Swami ji's) own lips, in regard to his ideas and doings." और शायद स्वामी जी ही ने चैटर्जी महाशय को मण्डल-सम्बन्धी काग़ज़-पत्र, "सरकुलर", प्रस्ताव और प्रदत्त पदवियों की तालिकायें आदि देने की कृपा की है।

चैटर्जी महाशय ने स्वामी जी के कथन को लेखबद्ध मात्र कर दिया है और प्राप्त काग़ज़-पत्रों को यथा-स्थान रख भर दिया है। अतएव इस पुस्तक में लिखी गई बातें स्वामीजी ही की "अपनी बीती" कहानी है। इस कहानी को मण्डल के संरक्षकों और प्रतिनिधियों को स्वामीजी ने अपने आन्तरिक आशीर्वाद के साथ ("With blessings from my heart") स्वयं ही समर्पण भी किया है। इस विषय का एक समर्पण-पत्र पुस्तकारम्भ में लगा दिया गया है। मानों यह सब पर्य्याप्त नहीं था, इसी से पुस्तक-लेखक ने अपनी दस पृष्ठ-व्यापिनी भूमिका में भी स्वामीजी का गुणानुवाद गाया है और उनकी प्रतिकूलता करनेवालों को सदुपदेश देने का कष्ट उठाया है। अतएव यह मण्डल का इतिहास (History) नहीं। यह मण्डल का माहात्म्य मात्र है। और, मण्डल का माहात्म्य-वर्णन, स्वामीजी ही का माहात्म्य-वर्णन है, क्योंकि पुस्तक-प्रणेता के भी कथनानुसार स्वामीजी ही मण्डल के ब्रह्मा और विष्णु हैं।

भक्त का अपने भक्ति-भाजन की स्तुति-प्रार्थना करना सर्वथा स्वाभाविक है। यह उसका धर्म्म ही है। अतएव इस सम्बन्ध में पुस्तक-लेखक उपालम्भ के पात्र नहीं। उपालम्भ के पात्र हैं स्वयं स्वामी ज्ञानानन्दजी। यदि वे चैटर्जी महाशय के कथनानुसार सच्चे साधु और सच्चे महात्मा हैं, तो उन्हें निन्दा और स्तुति को तुल्य समझना चाहिए। दूसरे क्या कहते हैं, इसकी कुछ भी परवा न करके उन्हें अपने कर्तव्य और अपने धर्म्म का पालन करना चाहिए। अपनी प्रबन्ध-कुशलता, साधुता, महत्ता, धर्म्मनिष्ठा और कार्य्य-मालिका के वर्णनों से पूर्ण पुस्तकें प्रकाशित करके मण्डल का रुपया न बरबाद करना चाहिए। प्रकृत साधु तो निन्दा से अपना उपकार और प्रशंसा से अपकार समझते हैं। प्रशंसा को तो वे उद्वेगजनक समझते हैं। इस दशा में स्वामी जी को ऐसी पुस्तकों के प्रकाशन से दूर रहना चाहिए था। प्रकाशित कराकर उन्हें अपनी ओर से मण्डल के रक्षकों और प्रतिनिधियों को अर्पण करने का तो विचार भी न करना चाहिए था। पर उन्होंने यह सब कर दिखाया।

इस पुस्तक के अन्त में आमदनी और खर्च के जो चिट्ठे छपे हैं, उनसे सूचित है कि काशी के इस धर्म्म--महा--मण्डल को हर साल बहुत सा रुपया मिलता है। इसकी सालाना आमदनी कोई ५० हज़ार है। इस इतने रुपये से धर्म्म-सम्बन्धी बहुत कुछ काम हो सकता है। पर, जहाँ तक हम जानते हैं, इस मण्डल ने आमदनी के अनुरूप काम नहीं कर दिखाया। जोशी मठ का जीर्णोद्धार करना, लाज़रस का छापाखाना ले लेना, मण्डल के लिए आलीशान इमारत बना देना, पदवियों को घास--फूस की तरह बाँटना, दस-पाँच ग्रन्थ छपा देना और दो चार उपदेशक पैदा कर देना यथेष्ट धर्म्म-प्रचार नहीं। और बातों को जाने दीजिए, इस मण्डल की मासिक पत्रिका तक तो समय पर नहीं निकलती। सम्भव है, मण्डल ने और कोई बड़े बड़े काम किये हों, पर हमें उनका ज्ञान नहीं। भविष्यत् की आशाओं की गणना कार्य्य में नहीं की जा सकती। स्वामीजी को

चाहिए कि मण्डल की आमदनी को ऐसे कामों में लगावें जिनसे मण्डल के उद्देश्यों की विशेष सिद्धि हो। काम ऐसे हों जिनसे लोगों का प्रकृत उपकार हो और जो उनकी नज़र में आवें। जिन बातों को लोग अनुचित समझते हैं, उनसे बचें। त्यागी साधु न चेले रक्खें, न महलों में रहें और न ठाठ--बाट पसन्द करें। विरक्त साधुओं को चेलों और चेलियों से क्या काम? साधु--जन तो स्त्री--सन्निकर्ष का सदा ही त्याग करते हैं। इस त्याग का स्वीकार करके भी वे समदर्शी हो सकते हैं।

समाचार--पत्रों में महा--मण्डल के प्रतिकूल आज तक हम अनेक लेख देख चुके हैं। पर हमने इस सम्बन्ध में कभी कुछ नहीं लिखा। यह हमारा काम भी नहीं। यदि प्रस्तुत पुस्तक समालोचना के लिए (For "favour of review") हमारे पास न आती तो हम आज भी कुछ न लिखते। अतएव, यह नोट लिखने में हमने पुस्तक भेजनेवाले महाशय की आज्ञा का पालन मात्र किया है। एतदर्थ पुस्तक-प्रणेता, पुस्तक-प्रेषक और स्वामीजी महाराज हमें क्षमा करें।

नो मत्सरान्न च मनागपि दर्पभावान्,
नो दोषमात्र परिदर्शन नैपुणाद्वा।
त्वत्प्रार्थनाप्रणयभङ्गभियैव किन्तु,
श्रीमन् मया स्वमतितः किल किञ्चिदुक्तम्॥

[सितम्बर १९१५.

श्रीसत्यार्थ विवेक

इस पुस्तक की रचना श्री स्वामी दयानन्द जी ने की है। इसे प्रकाशित किया है—"श्रीभारत-धर्म्म-महामण्डल के प्रधान कार्य्यालय के शास्त्र-प्रकाश विभाग"—ने। इसका आकार बड़ा, पृष्ठ-संख्या सात सौ के ऊपर और मूल्य १॥) है। जिल्द बँधी हुई है। छपाई नवलकिशोर प्रेस की है और साधारण है। कागज़ भी साधारण है। बनारस में भारतधर्म्म-महामण्डल का निज का छापाख़ाना है। मालूम नहीं, फिर क्यों यह पुस्तक अन्य छापेख़ाने में छपाई गई और मण्डल का रुपया मण्डल ही में न खर्च कर अन्यत्र ख़र्च किया गया। इसके टाइटिल पेज पर लिखा है कि इसका एक "राज-संस्करण" भी है, जिसका मूल्य ४) है। यह संस्करण शायद "स्वाधीन नरपतियों" और महामण्डल के नामी नामी पृष्ठ-पोषकों के लिए है। हिन्दी के टुट-पुँजिये समाचार-पत्रों और पत्रिकाओं के लिए सस्ते, डेढ़ रुपयेवाले, संस्करण ही की कापी, उनकी स्थिति के अनुकूल, समझी गई है; काम चाहे उनके समालोचना-रूप विज्ञापन से सौ रुपये का भले ही निकल जाय! महामण्डल में महती उदारता होनी चाहिए। पर उसकी छोटी छोटी बातें भी बहुधा खटकने-वाली होती हैं। पुस्तक भेजनेवाले महाशय ने पुस्तक के साथ एक लम्बा चौड़ा विज्ञापन भेजा है और अपने पत्र में हमारा ध्यान उसकी ओर दिलाया है। यह हमारे "सुभीते" के लिए है—शायद इसलिए कि हमें पुस्तक देखने का कष्ट न उठाना पड़े; विज्ञापन में की गई प्रशंसा की नकल हम कर दें और "सर्व-साधारण इसे (पुस्तक को) ख़रीद कर सकें"। सर्व-साधारण को लाभ हो जाय, महामण्डल को लाभ हो जाय, पर समा-

लोचक पत्र या पत्रिका को लाभ न होने पावे ! विज्ञापन न छपाया जाय; विज्ञापन का काम समालोचना से निकल जाय; पर खर्च हो सिर्फ डेढ़ रुपये मूल्य की एक कापी !!! अस्तु ।

पुस्तकारम्भ में धर्म्मप्राण श्री बाबू शारदाचारण मित्र का लिखा हुआ चार पृष्ठों का एक लेख, अँगरेज़ी में, है । उसमें धर्म्म की, महामण्डल के सर्वस्व श्रीस्वामी ज्ञानानन्द जी की और प्रस्तुत पुस्तक की प्रशंसा है । उसके आगे लेखक महाशय की भूमिका है । भूमिका में लिखा है कि इस पुस्तक के दो खण्ड अभी और प्रकाशित होंगे । समालोच्य पुस्तक उसका पहला खण्ड है । इस खण्ड में तीन समुल्लास हैं । उनमें जिन विषयों का विवेचन है, उनकी तालिका नीचे दी जाती है—

१—(क) धर्म्म
(ख) दान-धर्म्म
(ग) तपो-धर्म्म
(घ) कर्म्म-यज्ञ
(ङ) उपासना-यज्ञ
(च) ज्ञान-यज्ञ
(छ) महा-यज्ञ

२—(क) वेद
(ख) वेदाङ्ग
(ग) उपाङ्ग अर्थात् दर्शन-शास्त्र
(घ) स्मृति-शास्त्र
(ङ) पुराण-शास्त्र
(च) तन्त्र-शास्त्र
(छ) उपवेद
(ज) ऋषि

३—(क) साधारण धर्म्म और विशेष धर्म्म
(ख) वर्ण-धर्म्म
(ग) आश्रम-धर्म्म
(घ) पुरुष धर्म्म से नारी धर्म की विशेपता

इस प्रकार यह पुस्तक तीन समुल्लासों और १९ अध्यायों में विभक्त है । इसमें जिन बातों का वर्णन है, वे सभी सनातन धर्म्मावलम्बियों के जानने योग्य हैं । जिन ग्रन्थों के आधार पर ये लिखी गई हैं, वे सभी को सुलभ नहीं । सुलभ भी हों तो उनका तत्त्व समझना केवल कुछ ही लोगों

के वश की बात है। अतएव इस पुस्तक के लाभदायक होने में सन्देह नहीं। इसकी रचना में रचनाकार ने अपनी बुद्धि और अपने निज के विचारों से भी काम लिया है। इस कारण पुस्तक की उपादेयता और भी बढ़ गई है। जो बातें साधारण आदमियों की समझ में अच्छी तरह नहीं आ सकतीं, वे पुस्तक-प्रणेता के विवेचन से खूब स्पष्ट हो गई हैं। जगह जगह संस्कृत ग्रन्थों के प्रमाण भी उद्धृत कर दिये गये हैं, इससे लेखक महाशय का कथन परिपुष्ट हो गया है। यह बात सनातन-धर्म्मावलम्बी सरल-हृदय सज्जनों की श्रद्धा का कारण भी हो सकती है। पुस्तक की भाषा न बहुत सरल और न बहुत क्लिष्ट है।

समष्टि रूप से यह पुस्तक अच्छी है। जिन लोगों के लिए इसकी रचना हुई है, उनके काम की बहुत बातें इसमें हैं। जो नहीं हैं, वे अगले खण्डों में बहुत करके आ जायँगी। भिन्न भिन्न ग्रन्थों से सनातन धर्म्म की बिखरी हुई बातों का सङ्कलन करके और उन्हें अच्छे ढंग से पुस्तकाकार लिखकर स्वामीजी ने बड़ा काम किया है। अतएव सनातन धर्म्म के अनुयायियों के आप अवश्य ही कृतज्ञता-भाजन हैं। हमारी मन्द बुद्धि में धर्म्म की भित्ति श्रद्धा है। सभी धर्म-ग्रन्थों में विज्ञान ढूँढ़ना सरासर भूल है। वैज्ञानिक धर्म्म का आविष्कार देव-समाज के अग्निहोत्री जी को ही मुबारक हो। श्रद्धा और विश्वास की दृष्टि से तो धर्म्म के सभी अङ्ग और सभी सिद्धान्त मान्य हो सकते हैं। पर इस बीसवीं शताब्दी में सभी श्रद्धालु नहीं। अधिकांश शिक्षित मनुष्य बुद्धि और विवेक को ताक पर नहीं रख सकते। इन लोगों से स्वामी दयानन्दजी का यह कहना कि—

"पुराण वेद के व्याख्यान-ग्रन्थ हैं। अतः सर्वथा वेदानुकूल हैं"—

इन्हें कहाँ तक मान्य होगा, हम नहीं कह सकते।

स्वामीजी ने ऐसी ऐसी सैकड़ों बातें इस पुस्तक में कही हैं। वे तर्क और विचार के आगे नहीं ठहर सकतीं। खेद है, हमें उनमें से

दस पाँच का भी उल्लेख करने के लिए अवकाश नहीं। सब से अधिक आश्चर्य तो हमें स्वामीजी के उस विवेचन से हुआ जिसमें आपने वेदों के आविर्भाव और उनकी अपौरुपेयता पर विचार किया है। सुनते हैं, स्वामीजी अच्छे वक्ता हैं। पर इस सम्बन्ध में आपकी निर्बल उक्तियाँ पढ़कर विश्वास नहीं होता कि वे श्रोताओं को प्रमाण-पुष्ट उक्तियों के द्वारा हँसाते, रुलाते या उन्हें क़ायल करते होंगे। हृदय में भावावेश उत्पन्न करके लोगों को प्रसन्न करना और उन्हें अपनी अभीष्ट दिशा की ओर झुका ले जाना एक बात है; और गोखले की तरह न काटी जाने योग्य युक्तियों और प्रमाणों के द्वारा उन्हें अपने पक्ष का पोषक बना लेना दूसरी बात है। आपके कथन में, कई जगह, इस दूसरी बात की हमें कमी मिली।

"न हि सत्यात्परो धर्म्मः"

के भरोसे ही हमने अपने मन की यह सच बात लिखने का साहस किया है। आशा है, इस स्पष्टोक्ति के लिए, स्वामी दयानन्दजी हमें क्षमा करेंगे।

[अक्टोबर १९१५.

भाषा हरिवंश पुराण

यह बहुत बड़ा ग्रन्थ है। बड़े आकार में छपा है। सुन्दर जिल्द बँधी हुई है। अच्छे काग़ज़ पर अच्छे टाइप में छपा है। पृष्ठ-संख्या ६०० के ऊपर और मूल्य ६ रुपया है।

यह वह हरिवंश-पुराण नहीं जो व्यास-कृत माना जाता है और जो महाभारत के परिशिष्ट का काम देता है। यह जैनों का हरिवंश पुराण है। इसके कर्त्ता का नाम है—जिन सेनाचार्य्य। शकाब्द ७०५ में इसकी समाप्ति हुई थी। इसकी मूल श्लोक-संख्या १२ हजार है। यह ६६ सर्गों में विभक्त है। अतएव यह बड़े बड़े कोई तीन महाकाव्यों के बराबर है। प्रस्तुत पुस्तक इसी हरिवंश-पुराण का हिन्दी अनुवाद है। अनुवाद में मूल श्लोकों की संख्या-सूचक अङ्क दे दिये गये हैं। अतएव यदि कोई अनुवाद का मिलान मूल से करना चाहे तो सहज ही कर सकता है। इस अनुवाद की सृष्टि श्रीयुत पण्डित गजाधरलाल जी न्यायतीर्थ ने की है। प्रकाशन इसका भारतीय जैन-सिद्धान्त-प्रकाशिनी संस्था के महामन्त्री श्रीयुत पन्नालाल बाकलीवाल ने किया है। उन्हींसे यह पुराण मिल सकता है। पता—९, विश्वकोश लेन, बाग बाज़ार, कलकत्ता।

ग्रन्थारम्भ में इस पुराण के रचयिता का जो संक्षिप्त चरित और उनके समय का जो निर्णय है, उससे सूचित होता है कि वे बड़े विद्वान्, महाकवि और जैन धर्म के प्रतिष्ठित आचार्य्य थे। उनके इस पुराण का अनुवाद यत्र तत्र जो हमने पढ़ा तो हमारी भी यही धारणा हुई कि जिन सेनाचार्य्य उत्तम कवि थे, इसमें सन्देह नहीं। अनुवाद पढ़ने से भी

उनकी कवित्व शक्ति का अच्छा परिचय मिलता है। मूल पुराण पढ़ने से पण्डितों और सहृदयों को और भी आनन्द मिलने की सम्भावना है।

व्यास-कृत हरिवंश पुराण में और इसमें बहुत पार्थक्य है। इसमें जगह जगह पर जैन धर्म्म के सिद्धान्त निहित हैं। पुराण-कथन के बहाने जिन सेनाचार्य्य ने इसमें अपने धर्म्म की ध्वजा खूब ही उड़ाई है। उनका मतलब यही रहा होगा कि पौराणिक कथायें सुनने में लोगों का जी बहुत लगता है। अतएव इसी बहाने लोग अपने धर्म्म के तत्त्व समझें। यह प्रणाली बुरी नहीं। आज-कल भी तो कथा-कहानियों के बहाने सदाचार और धर्म्म की शिक्षा देने की चाल है।

पुराण-पाठ को कुछ लोग कुदृष्टि से देखते हैं। वे पुराणों को गप्पाष्टक समझते हैं। ऐसा ही सही। पर पढ़ने से क्या हानि? ये पुराण अलिफ़लैला और आल्हा से भी तो गये गुज़रे नहीं। हम तो समझते हैं कि यदि ये पुराण न होते तो भारतीयों का भारतीयत्व ही बहुत कुछ नष्ट हो जाता। इन्हीं की कृपा से ययाति, पुरुरवा, बलि, वैवस्वत मनु आदि की याद हमें आ जाती है—अपने पूर्व-पुरुषों के नाम-ग्रहण करने का अवसर हमें प्राप्त हो जाता है। जिनको अपने पूर्व-पुरुषों के वंशज होने का गर्व नहीं, वे चाहे पुराणों का आदर भले ही न करें; औरों को तो अवश्य ही करना चाहिए। आप इन्हें इतिहास न समझिए, और ही कुछ समझिए। पर इस बात को न भूलिए कि इन्हीं पुराणों ने हमारे प्राक्कालीन पूर्वजों की कीर्त्ति न सही, नाम को तो अवश्य ही रक्षित रक्खा है।

इस पुराण में जैनों के बाईसवें तीर्थङ्कर नेमिनाथ का बहुत कुछ चरित है। पर साथ ही हरि (अर्थात् कृष्ण) के यादव वंश का भी वर्णन है। प्रधान वर्ण्य विषय यही है। इसी से इसका भी नाम हरिवंश ही रक्खा गया है। इस ग्रन्थ में आठ अधिकार हैं; यथा—लोकों के आकार, राजवंशों की उत्पत्ति, हरिवंश की उत्पत्ति, वासुदेव का चरित, नेमिनाथ

का चरित, द्वारका का निर्माण, नारायण प्रतिनारायण का युद्ध और नेमि-नाथ का निर्वाण। कहीं कहीं की कथा बहुत ही कुतूहल-वर्धक है। शान्त, शृङ्गार, वीर, करुण और अद्भुत रस से परिप्लुत वर्णन जगह जगह पर हैं। धन्य है इसके प्रणेता आचार्य्य को जिसने अपनी प्रतिभा, कवित्व शक्ति और पौराणिक तथा धार्मिक ज्ञान के बल पर इतना बड़ा ग्रन्थ रच डाला। सो भी प्रायः कवित्व-पूर्ण पद्य में।

इस अनुवाद की हिन्दी यदि कुछ अधिक सरल और मुहावरेदार होती तो बहुत अच्छा होता। तथापि किसी किसी स्थल को छोड़ कर, अन्यत्र अनुवादक का आशय समझने में व्याघात नहीं होता।

[फरवरी १९१७.

रामायण-सुन्दरकाण्डस्य मानस-भाष्यनाम टीका

इसका आकार बड़ा, पृष्ठ-संख्या १७६, छपाई और काग़ज़ बहुत साधारण, पर मूल्य सवा रुपया है। यह "श्रीवन्दन पाठक जी के गद्दी पर वर्त्तमान श्री ६ व्यास छोटे लालजी की कृपा सहायता से काशी-निवासी श्री बाबू हनुमानदास-वकील-रचित"—है। यह इसकी हिन्दी का नमूना है। इसके टाइटिल पेज की यह पहली विशेषता है। दूसरी विशेषता है इसका संस्कृत-नाम। पुस्तक हिन्दी में, पर नाम संस्कृत में! तीसरी विशेषता है नीचे का अँगरेजी वाक्य—

"Registered under sections 18 and 19 of Act XXV of 1867."

कापी-राइट-सम्बन्धी नया क़ानून बने बहुत दिन हुए। पुस्तक अभी गत वर्ष (संवत् १९७३ में) छपी है। रचनाकार हैं वकील। परन्तु, फिर भी, उन्होंने इसकी रजिस्ट्री कराने की आवश्यकता समझी और करा भी दी। किस तरह करा दी, यह वही बता सकते हैं। पण्डित वन्दन पाठक काशी में नामी रामायणी हो गये हैं। उनकी पुस्तक मानस-शङ्कावली की बड़ी महिमा है। उन्हीं के गद्दीधर व्यास छोटेलालजी की कृपा और सहायता से यह टीका तैयार हुई है। इसका एक नमूना सुनिए। तुलसीदास की एक चौपाई है—

सीता तै (तैं ?) मम कृत अपमाना।
कटिहौं तव सिर कठिन कृपाना॥

इसकी टीका इस प्रकार की गई है—

"हे सीता तैंने मेरा निरादर किया। अतः तेरे सिर को इस कठोर तलवार से काटूँगा।"

यह ठीक। पर इसी के आगे इसका भाव इस प्रकार बताया गया है—

"भाव—मेरा जो अपमान हुआ है, उसकी दवा यह है कि मैं अपने सिर को हे सीता, तेरे आगे काट डालूँ।"

दुहाई तुलसीदास की! यह आपकी चौपाई का भाव नहीं। यह तो आपके भावार्थ का वैपरीत्य है! बाज आया हिन्दी साहित्य और रामायण-प्रेमी जन-समुदाय ऐसे भाव-निदर्शन से! जिसे इस तरह के भावार्णव में निमज्जन करना हो, वह खुशी से इस टीका को खरीद सकता है। मिलने का पता—श्रीपण्डित मुरलीधर पाण्डे, अगस्त-कुण्डा बनारस।

[मार्च १९१७.

प्रसूति-शास्त्र, प्रथम भाग

इस पुस्तक को देख कर पुराना दुःख नया हो गया। राजा और प्रजा का सम्बन्ध पिता-पुत्र का जैसा है। पिता का कर्त्तव्य है कि वह अपनी सन्तति के भरण-पोषण ही का नहीं, किन्तु उसकी शिक्षा और आरोग्य-रक्षा का भी प्रबन्ध करे। राजा का भी यही कर्त्तव्य है। इसलिए गवर्नमेंट ने स्कूल, कालेज, मदरसे और शफ़ाख़ाने खोल रक्खे हैं। नीरोग रहने ही से मनुष्य शिक्षा-प्राप्ति कर सकता है। पर शिक्षा-प्राप्ति का जितना सुभीता गवर्नमेंट कर सकी है, आरोग्य-रक्षा का उतना नहीं। प्रत्येक ज़िले के सदर मुक़ाम में अब तक एक ही शफ़ाख़ाना है। कहीं कहीं, बड़े बड़े कसबों में भी, छोटे छोटे सरकारी दवाखाने हैं। पर इतने दवाखाने पर्य्याप्त नहीं। उधर गवर्नमेंट आयुर्वेद की चिकित्सा को उत्तेजना नहीं देती। उसके विषय में उसकी राय अच्छी नहीं। वह उसे वैज्ञानिकी भित्ति पर स्थित नहीं समझती। पर अधिकांश प्रजा को लाभ उसी से पहुँचता है, डाक्टरी चिकित्सा से नहीं। डाक्टरी में खर्च अधिक पड़ता है। फिर इस चिकित्सा से शहरों और बड़े बड़े कसबों ही के निवासी लाभ उठा सकते हैं, देहाती नहीं। तथापि गवर्नमेंट को कर के रूप में जो करोड़ों रुपया मिलता है, उसका अधिकांश इन्हीं अपढ़ और अकिञ्चन देहातियों की बदौलत मिलता है। इस दशा में यही लोग औरों की अपेक्षा आरोग्य-रक्षा के अधिक मुस्तहक़ हैं। अस्तु! खजाने में रुपये की कमी के कारण जब तक गवर्नमेंट सारी प्रजा के रोग-निवारण का प्रबन्ध नहीं कर सकती, तब तक प्रजा ही को यह

काम क्यों न करना चाहिए? परन्तु दुःख की बात है, डाक्टरी चिकित्सा ने हमारा प्रेम आयुर्वेद पर कम कर दिया है। इस भूल का परिमार्जन हो जाना बहुत आवश्यक है। जो लोग डाक्टरी की शिक्षा पाये हुए हैं और जो हमारे आयुर्वेद के भी ज्ञाता हैं, वे यदि चाहें तो आयुर्वेद की महिमा का पुनरुज्जीवन कर सकते हैं। डाक्टर यदि आयुर्वेद की उपयोगिता सबको बताने की चेष्टा करें तो अधिक वैद्य तैयार हों और लोगों की श्रद्धा वैद्यक पर बढ़ जाय। फल यह हो कि संख्या भी बढ़े और लोग डाक्टरी इलाज के लिए लालायित न होकर अपने घर की दवाओं से लाभ उठावें।

डाक्टर प्रसादीलाल झा, एल० एम० एस०, सुयोग्य डाक्टर भी हैं और आयुर्वेद-ग्रन्थों के ज्ञाता भी हैं। हिन्दी में कई उपयोगिनी पुस्तकें भी आप लिख चुके हैं। "आघातों की प्रारम्भिक चिकित्सा" नाम की पुस्तक, जो बहुत समय से प्रचलित है, आप ही की लिखी हुई है। उसके सिवा प्लेग, हैजा, जूड़ी-बुखार और गर्भ-रक्षा पर भी आपने छोटी छोटी पुस्तकें, हिन्दी में लिखी हैं। ये सभी पुस्तकें सर्व-साधारण के बड़े काम की हैं। आपने एक और पुस्तक प्रकाशित की है। यह उन सबसे अच्छी है। इसमें क्या है, यह बात इसका नाम—प्रसूति-शास्त्र—खुद ही बता रहा है। इसे पढ़ने पर हम लोगों की श्रद्धा आयुर्वेद पर यदि बढ़ेगी नहीं, तो थोड़ी-बहुत उत्पन्न अवश्य हो जायगी। क्योंकि इसमें डाक्टर साहब ने आयुर्वेद के प्राचीन ग्रन्थों से जगह जगह पर वचन उद्धृत करके उनके सिद्धान्तों की एक-वाक्यता सिद्ध की है। इस शास्त्र के सम्बन्ध में डाक्टरी चिकित्सा में कुछ बातें ऐसी हैं जो हमारे यहाँ नहीं। पर आश्चर्य की बात तो यह है कि कुछ ऐसी भी हैं जो इस बढ़े हुए विज्ञान के ज़माने में भी डाक्टरी चिकित्सा में नहीं। बिना सूक्ष्म-दर्शक या और किसी यन्त्र के हमारे प्राचीन आचार्यों ने गर्भ की प्रारम्भिक दशा के रूप-रङ्ग और आकार-प्रकार का ज्ञान प्राप्त कर लिया था। यह ज्ञान किसी अंश तक आज-कल के शरीर-शास्त्रियों और डाक्टरों को नहीं प्राप्त हुआ।

इस पुस्तक की पृष्ठ-संख्या डेढ़ सौ के ऊपर है। बड़े सुन्दर और चिकने काग़ज़ पर, अच्छे टाइप में, छपी है। अनेक चित्रों से अलंकृत है। सभी आवश्यक विषय चित्र देकर समझाये गये हैं। चित्राधिक्य ही के कारण पुस्तक की क़ीमत ढाई रुपये रखनी पड़ी है। आरम्भ में पाँच पृष्ठों की एक भूमिका, अँगरेजी में है। जो वैद्य अच्छे संस्कृतज्ञ नहीं, अतएव जो चरक, सुश्रुत आदि ग्रन्थों से लाभ नहीं उठा सकते, वे इस पुस्तक की बदौलत आयुर्वेद के प्रसूति-विषयक लुप्तप्राय सिद्धान्तों से अवश्य ही परिचित हो जायँगे। अँगरेज़ी पढ़े हुए शिक्षित मनुष्य और डाक्टर भी यदि कृपापूर्वक इस पर एक नज़र डालेंगे तो उन्हें भी आयुर्वेद की थोड़ी-बहुत महत्ता और उपयोगिता ज्ञात हो जायगी। आज-कल देहात के प्रसूति-सम्बन्धी काम अपढ़ और उजड्ड दाइयाँ ही करती हैं। इस कारण प्रसूता पर कभी कभी घोर आपत्तियाँ आ जाती हैं। बच्चे की मृत्यु हो जाती है और यदा कदा माता को भी अपने प्राण खोने पड़ते हैं। इस दृष्टि से यह पुस्तक पढ़ी-लिखी स्त्रियों और साधारण गृहस्थों के लिए अनमोल है। इस शास्त्र से सम्बन्ध रखनेवाली मोटी मोटी बातें मालूम कर लेने पर प्राणनाशक भूलें होने का डर कम हो सकता है। इसमें प्रसूति-विषयक आवश्यक अवयवों के वर्णन और उसके कार्य्य-निरूपण के सिवा चिकित्सा का भी उल्लेख है। चिकित्सा यद्यपि डाक्टरी सिद्धान्तों का अनुसरण करती है, तथापि यथासम्भव कहीं कहीं पर देशी दवायें भी लिख दी गई हैं। लेखक ने डाक्टरी के वैज्ञानिक शब्दों के पर्य्यायवाची संस्कृत शब्दों की खोज और रचना में बड़ी योग्यता दिखाई है। जो भाव अँगरेज़ी या लैटिन के शब्द से सूचित होता है, वही संस्कृत के शब्द से भी सूचित होता है। आपने पाद-टीकाओं में कितने ही संस्कृत ग्रन्थों के वचन उद्धृत करके यह दिखाया है कि कौन सा पर्य्यायवाची संस्कृत शब्द किस ग्रन्थ में मिलता है। आयुर्वेद-ग्रन्थों में कुछ अवयवों के नाम ऐसे पाये जाते हैं जिनके स्थान का निश्चय नहीं। प्राचीन

आचार्य्यों में उस विषय में मत-भेद है। डाक्टर साहेब ने इस पुस्तक में उनका स्थान भी स्थिर करने की चेष्टा की है। यह भी इस पुस्तक की एक विशेषता है। डाक्टर लोग प्रायः समझते हैं कि आयुर्वेद में प्रसूति-शास्त्र है ही नहीं। पर यह पुस्तक पढ़ने पर उनका वह भ्रम दूर हो जायगा। आयुर्वैद्यक में इस विषय का भी अच्छा विवेचन है।

यह इस पुस्तक का पहला ही भाग है। सम्भव है, इसके अगले भाग भी शीघ्र ही निकलें। मिलने का पता (१) पण्डित श्री हरदेव-नारायण झा, अहियापुर, इलाहाबाद और (२) मैनेजर, नारायण मेडिकल हाल, माल, कानपुर।

[मई १९१७.

भोज-व्याकरणम्

विक्रम संवत् १६५८ में देहली प्रान्त में, जैन-धर्म्म के आचार्य्य श्री कल्याणसागर सूरि धर्म्मोपदेश करते थे। कच्छ देश में कोई धर्म्माचार्य नहीं, यह सुन कर वे उस देश को गये। वहाँ, उस समय, भुज-नगर में भारमल्ल नामक राजा राज्य करता था। उसके लड़के का नाम था भोज या भोजमल्ल। उधर कल्याणसागर सूरि के पट्टशिष्य उपाध्याय विनय-सागर थे। जब भोज राजा हुआ, तब उसने विनयसागर से प्रार्थना की कि आप एक ऐसा व्याकरण बना दीजिए जिसे लोग आसानी से याद कर लें और व्याकरणज्ञ हो जायँ। राजा की इस आज्ञा या प्रार्थना को मान कर उपाध्याय जी ने जिस व्याकरण की रचना की, वही यह भोज-व्याकरण है। इसे शाह उमरसी रायसी की विधवा, सेठानी जेठबाई, ने अपने खर्च से, निर्णय-सागर प्रेस में, छपा कर प्रकाशित किया है। डाक खर्च भेजने से पुस्तक मुफ्त मिलती है। मँगाने का पता—उमरसी रायसी का बखार, भात बाजार, माँडवी, बंबई, पोस्ट बक्स ३।

पुस्तक पत्रानुमा छपी है। पत्रों की संख्या ७६ है। टाइप है तो देवनागरी, पर विशेष प्रकार का है—उस प्रकार का जिसमें कभी कभी जैनियों के धर्म्म-ग्रन्थ छपते हैं। पुस्तक साद्यन्त संस्कृत पद्य में है। वह तीन वृत्तियों या अध्यायों में विभक्त है। विशेष कर अनुष्टुप् छन्द में लिखी गई है। परन्तु बीच बीच में आर्य्या, इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा और शार्दूल-विक्रीड़ित आदि वृत्तों का भी प्रयोग किया गया है। इसका कर्त्ता बड़ा वैयाकरण था और साथ ही कवि भी था। उसने सारे पाणिनीय व्याकरण का मुख्यांश, थोड़े ही में, बड़ी योग्यता से व्यक्त किया है।

सूत्रों को रटने की अपेक्षा इस पुस्तक के पद्य अपेक्षा-कृत सरलता-पूर्वक कण्ठ किये जा सकते हैं। नीचे जो पद्य-टीकायें दी गई हैं, उनसे इसकी उपयोगिता और भी बढ़ गई है। इसके पद्यों का एक नमूना नीचे दिया जाता है। इष्णु-प्रत्यय के उदाहरण—

अलङ्करिष्णुश्च निराकरिष्णुर्ग्रसिष्णुरेवं प्रजानिष्णुरेव
अपत्रपिष्णुः पुनरुत्पचिष्णुर्वर्मिष्णुवर्द्धिष्णुचरिष्णवश्च।
तथोत्पतिष्णुः पुनरुत्पदिष्णुर्भविष्णुरोचिष्णु सहिष्णवश्च
भ्राजिष्णुरेवं पुनरुन्मदिष्णुरन्यंलोपताश्चैव चकारयिष्णुः॥

सारी पुस्तक भोजभूप को सम्बोधन करके लिखी गई है। पुस्तकान्त में पुस्तक-कर्त्ता ने लिखा है—

श्री धर्म्ममूर्तिपदमानसराजहंसः
कल्याणसागरगुरुर्जयताद्धरायाम्।
शिष्यः समग्रनृपचित्तविनोदकारी
यस्यास्ति सद्विनयसागरनामधेयः॥
श्रीभारमल्लतनयो भुवि भोजराजो
राज्यं प्रशास्ति रिपुवर्जितमिन्द्रवद्यः।
तस्याज्ञया विनयसागरपाठकेन
संगुम्फिताऽत्र रुचिराशु तृतीयवृत्तिः॥

अपने को समग्र-नृपचित्तविनोदकारी लिखना विनयसागर के लिए कोई दोष की बात नहीं। यदि आप चित्तविनोदकारी न होते तो भोज-राज की कृपा आप पर कैसे होती। अपनी पुस्तक या वृत्ति को रुचिरा कहना भी विशेष आक्षेप योग्य नहीं, क्योंकि वह अधिकांश सचमुच ही वैसी है।

[जून १९२२.

शान्ति-निकेतन-माला

कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर, बोलपुरवाले, अपने शान्ति-निकेतन में ईश्वर की स्तुति और प्रार्थना भी, समय समय पर, किया करते हैं और अनतिविस्तृत उपदेश भी दिया करते हैं। उनके उन उपदेश-कुसुमों के मधुप, "पुणे सिटी" के ४८३, "शनवार पेठ" में, कोई सरस्वती-तनय निवास करते हैं। मालूम नहीं आपका असली नाम यही है, अथवा यह कोई बनावटी नाम है। मराठी भाषा का रूप देकर इन उपदेशों का प्रचार करने के लिए आपने भी एक कचहरी खोल दी है। उसका नाम है—"शान्तिनिकेतन कचेरी"—जैसे बोलपुर के शान्तिनिकेतन का दफ्तर उठकर पूना चला गया हो। खैर। सरस्वती-तनय जी ने अपनी माला के दो भाग समालोचनार्थ भेजे हैं और लिखा है कि जो "अभिप्राय" देना, "उत्तेजन-पर" देना और "विस्तृत" भी देना। यही नहीं, उस अभिप्राय को "स्मरणपूर्वक" उनके पास भेज भी देना। अभी आपकी आज्ञायें खतम नहीं हुई। आपका यह भी हुक्म है कि आपके पास हिन्दी की नामी पत्रिकायें जाती हैं। इससे सरस्वती को भी माला के बदले में भेजा करना। आपकी एक आज्ञा रही गई। वह यह है कि अभिप्राय अगले ही अङ्क में प्रकाशित करना और प्रकाशक का नाम तथा पता देना न भूल जाना। नहीं, साहब, क्या ऐसा भी कभी हो सकता है? भला नाम और पता भूल जायगा तो माला बिकेगी कैसे? यह तो हुई आपकी आदेश-परम्परा। अब आपकी उदारता की कथा सुनिए। आपने अपनी माला की पुस्तकें दो तरह की तैयार कराई हैं। एक पर कपड़े की जिल्द है, दूसरी पर सिर्फ मोटा कागज़ है। पहली का मूल्य १।) है; दूसरी का केवल १) है।

काम तो आप सरस्वती से इतना लेना चाहते हैं; पर १।) वाली कापियाँ दे डालने तक की उदारता आप में नहीं। इसमें भी आपने आठ आने की किफायत कर ही डाली।

आपकी माला का आकार बहुत मोटा है। कागज़ बहुत पतला और टाइप भी बहुत छोटा है। पृष्ठ-संख्या हर भाग की डेढ़ पौने दो सौ के लग-भग है। मूल्य अलबत्ते आपने खूब कस कर रक्खा है। दोनों भागों में रवि बाबू का एक एक चित्र है। दूसरे भाग में उनके स्कूल के छात्रों के ग्रूप के भी दो चित्र हैं। पहले भाग में रवि बाबू के संक्षिप्त चरित के बाद उनके ३१ उपदेशों का मराठी-भाषान्तर है। दूसरे भाग में स्वराज्य और रवीन्द्रनाथ तथा विश्वभारती-संस्था नामक दो लेखों के अनन्तर ६६ उपदेशों का संग्रह है। सर्वान्त में कुछ भक्तों की संक्षिप्त उक्तियाँ भी हैं। उपदेशों के संग्रह में रवि बाबू के भावों का ठीक ठीक अनुवाद हुआ है या नहीं, यह बात मराठी और बँगला भाषा का यथेष्ट ज्ञान रखने और दोनों का मुक़ाबला करनेवाले ही बता सकते हैं। हम तो केवल इतना ही कह सकते है कि साधारणतया उपदेश सभी दिव्य हैं।

[जनवरी १९२४.

वैदिक कोष

लाहौर में, दयानन्द एँग्लो-वर्नाक्यूलर नाम का एक कालेज है। उससे सम्बन्ध रखनेवाला एक अनुसन्धान-विभाग है। उसके पुस्तकाध्यक्ष महाशय हंसराज ने एक वैदिक कोष का संग्रह किया है और उसे वे खण्डशः प्रकाशित कर रहे हैं। प्रस्तुत पुस्तक उसी कोष के पहले भाग का पहला अंक है। इसकी पृष्ठ-संख्या १००, आकार बड़ा, टाइप और कागज अच्छा और मूल्य १॥) है। इस कोष में आज तक प्रकाशित हुए ब्राह्मण-ग्रन्थों के वैदिक शब्दों का संग्रह, उनके अर्थ और निर्वचन, वैदिक देवताओं के विशेष कर्म तथा यज्ञ-विषयक विशेष वक्तव्य आदि दिये जायँगे। संग्रहकार का कहना है कि इस कोष के प्रकाशित हो जाने पर स्वामी दयानन्द की उस पद्धति का ज्ञान प्राप्त हो सकेगा जिसका अवलम्बन करके उन्होंने वेदों पर भाष्य-रचना की है। सो यह कोष स्वामी जी के वेदार्थ यत्न का परिपोषक होगा। यह बड़ी बात होगी। इससे बहुत करके सायण और महीधर के भाष्यों के पक्षपातियों की आँखें खुल जायँगी। क्यों ? यही मतलब है न ? पर इस पहले अङ्क को देखने से तो जान पड़ता है कि और कुछ हो, चाहे न हो, सभी पद्धतियों के अनुयायियों का कुछ न कुछ काम इससे जरूर निकलेगा, क्योंकि कौन वैदिक शब्द कहाँ, किस अर्थ में प्रयुक्त है, इसके प्रमाण इसमें दिये गये हैं। उदाहरणार्थ अग्नि शब्द को लीजिए। उसके सैकड़ों प्रयोग इसमें हैं। यथा—

(१) अग्ने पृथिवीपते

(२) ब्रह्माग्निः

(३) पर्जन्यो वाग्निः

(४) पुरुषोऽग्निः

(५) अग्निर्वैदेवानां यष्टा

(६) अग्निर्वै गायत्री

(७) अग्निरेव ब्रह्म

(८) अग्निमतिथिं जनानाम्

अतएव प्रसङ्ग देखने ही से ज्ञात हो जायगा कि किस शब्द का कौन सा अर्थ कहाँ पर अपेक्षित है ।

[अप्रैल १९२४.

ऋग्वेद पर व्याख्यान

लाहौर के दयानन्द कालेज से एक संस्कृत-ग्रन्थमाला निकलती है। पूर्व-निर्दिष्ट वैदिक कोष और वाल्मीकीय रामायण उसी के दो पुष्प हैं। यह व्याख्यान भी उसी माला का नम्बर २ फूल है। इसकी पृष्ठ-संख्या १००, मूल्य ११) और आकार मँझोला है। ऊपर कपड़े की पतली जिल्द है। कागज़ अच्छा, पर टाइप बहुत साधारण है। यह व्याख्यान संस्कृताध्यापक पण्डित भगवद्दत्त, बी० ए० की कृति है। कालेज के अनुसन्धान विभाग के अध्यक्ष को लिखने से मिलती है। यह पुस्तक या व्याख्यान सदोष हिन्दी भाषा में है। इसमें इस बात का विचार किया गया है कि ऋग्वेद कोई शाखा है या नहीं और वेद की रचना किसने की है। निष्कर्ष यह निकाला गया है कि ऋग्वेद शाखा नहीं, और वेद किसी मनुष्य की कृति नहीं। वेद "मानव रचना से परे" है। ऋषियों में प्रविष्ट हुई किसी और ही की वाणी ने उसकी रचना की है। "उस वाणी में होनेवाले वेद मनुष्य-रचित कैसे हो सकते हैं?" मतलब यह कि जैसे व्याख्याता जी 'भगवद्दत्त' हैं, वैसे ही वेद भी भगवद्दत्त हैं। व्याख्याता महोदय ने एक-मात्र दयानन्द सरस्वती को वेदों के सच्चे अर्थ का ज्ञाता बताया है। औरों की आपने बुरी तरह खबर ली है। पश्चिमी देशों ही के वेदज्ञों की अल्पज्ञता और भ्रम का निदर्शन आपने नहीं किया, सायण तक को आपने वेदार्थ-ज्ञान में बिलकुल ही कोरा बताया है। शायद बिना ऐसी लताड़ के स्वामीजी महाराज की और आप की वेदज्ञता साबित हो न होती। खैर, अभागी भारत के सौभाग्य से एक सच्चे वेदज्ञ का अवतार तो हो गया। आर्य्य समाज को बधाई!

[अप्रैल १९२४.

हिन्दी लोकोक्ति-कोष

यह बड़े आकार की पुस्तक है और अच्छी छपी है। ऊपर बड़ी सुन्दर, सुवर्ण वर्णाङ्कित, जिल्द है। पृष्ठ-संख्या पौने चार सौ के लगभग और मूल्य चार रुपये हैं। इसका सङ्कलन बाबू विश्वम्भरनाथ खत्री ने किया है। आपका पता है—९९, हरिसन रोड (बड़ा बाज़ार), कलकत्ता। आपसे ही इसकी कापियाँ मिल सकती हैं।

लोकोक्ति से मतलब कहावतों से है। कहावतें भाषा के प्राण हैं। उनमें जाति-विशेष के रीति-रिवाज, इतिहास, धर्म्म आदि के तत्त्व बड़ी खूबी से निहित रहते हैं। कुछ लोकोक्तियाँ इतिहास से, कुछ धर्म्म से, कुछ रीति-रस्मों से, कुछ वाणिज्य-व्यवसाय से, कुछ भिन्न भिन्न प्रकार की घटनाओं आदि से सम्बन्ध रखती हैं। उनका उपयोग शिक्षित और अशिक्षित, स्त्री और पुरुष, लेखक और वक्ता सभी, समय पर, करते हैं। उनके प्रयोग से प्रयोजक का आशय स्पष्ट हो जाता है और बहुधा उसका भाव इस तरह व्यक्त हो जाता है जैसे आइने में देखनेवाले का मुँह। कहावतों में एक अपूर्व रस रहता है। वे भी एक विशेष प्रकार के कवित्व से भरी रहती हैं! और यदि किसी उक्ति में कवित्व है तो उससे सरस-हृदयों को आनन्द की प्राप्ति अवश्य ही होती है। इसमें सन्देह नहीं कि जिसने पहले-पहल जिस कहावत की सृष्टि की होगी, उसके हृदय में कवित्व का बीज अवश्य रहा होगा। कहावतें भाषा या साहित्य के अलङ्कार हैं। उनसे मनोरञ्जन होता है, कही हुई बात विशद हो जाती है, उपदेश मिलता है और कभी कभी ऐतिहासिक बातों का ज्ञान भी प्राप्त होता है। संसार में शायद ऐसी एक भी उन्नत भाषा न होगी जिसमें उस भाषा की कहावतों के एक नहीं अनेक संग्रह न हों।

खेद है, हिन्दी में इस तरह का एक भी अच्छा संग्रह अब तक न था। दो-चार छोटी छोटी पुस्तकें इस विषय की अवश्य प्रकाशित हुई हैं, पर उनकी गणना कोश में नहीं। हाँ, फालन साहब ने हिन्दुस्तानी कहावतों का एक कोश अवश्य बनाया है और अपनी एक डिक्शनरी में भी उन्होंने इस देश की कुछ कहावतों का समावेश किया है; पर उनकी रचना है अँगरेजी में, हिन्दी में नहीं। इसके सिवा, कोई चालीस वर्ष पूर्व, राय बरेली के कमिश्नर कार्नेगी साहब ने भी यहाँ की लोकोक्तियों का एक संग्रह, अँग्रेज़ी में, प्रकाशित किया था। पर वह अब प्रायः अप्राप्य है। कितने परिताप की बात है कि ६००० मील दूर से आये हुए अँगरेज़ तो हमारी कहावतों का संग्रह करें और हम लोग उस ओर ध्यान तक न दें।

हिन्दी भाषा की इस त्रुटि की पूर्ति अब बाबू विश्वम्भरनाथ ने बहुत कुछ कर दी है। उन्होंने अपने इस कोश में हजारों लोकोक्तियों का संग्रह प्रकाशित किया है। उनमें आपने संस्कृत, फ़ारसी, मारवाड़ी और पंजाबी कहावतों का भी सन्निवेश किया है। आपने ग्राम्य और नागरिक, दोनों प्रकार की कहावतें इस कोश में रक्खी हैं। अनेक कहावतों का आधार कुछ विशेष प्रकार की घटनायें हैं। उन घटनाओं का उल्लेख भी आपने कर दिया है। बीच बीच में कहावतों से सम्बन्ध रखनेवाली कहानियाँ भी, छोटे टाइप में, देकर आपने अपने इस कोश का महत्व बढ़ाया है। सारांश यह कि सङ्कलनकार ने अपनी पुस्तक को विशेष उपादेय बनाने में यथाशक्ति कोई कसर नहीं की। इस विषय की यह पहली ही पुस्तक है। हिन्दी के प्रेमियों को इसका आदर करना चाहिए। पुस्तकालयों और स्कूल-कालेजों के संग्रहालयों में भी इसकी एक एक कापी रक्खी जाने की आवश्यकता है।

इस कोश के रचयिता महाशय से हमारी एक प्रार्थना है। वह यह कि आपका यह लोकोक्ति-कोश अभी असम्पूर्ण या अधूरा है। आपने ऐसी सैकड़ों कहावतें छोड़ दी हैं जो देहात में सुनी जाती हैं। यथा—

(१) पिन्नी किस पकवान में ?
साढू किस मेहमान में ?

(२) भोजन कुभोजन उपासे भला, तिरिया कुपाती कुँवारे भला।

(३) राई सी बिटिया भाँटा सी आँख।

(४) समाचार मँडये के पाये,
जब लहकौरी भाँटा आये।

ग्रामीण होकर भी इनमें ग्राम्य-भाव या अश्लीलता नहीं। जब आपने भोजपुरी और पूर्वी कहावतों का स्वीकार किया ही है, तब सभी का क्यों न करना चाहिए ? परन्तु शायद साधन के अभाव में आपको इस तरह की और कहावतें मिली ही नहीं।

आपने कुछ संस्कृत लोकोक्तियों को भी अपने कोश में आश्रय दिया है। पर उनकी संख्या बहुत ही थोड़ी है; उनका देना न देने के बराबर है। संस्कृत में सैकड़ों लोकोक्तियाँ बड़े ही महत्त्व—बड़े ही मार्के—की हैं। उन्हें बहुत ढूँढ़ने की भी ज़रूरत नहीं। कई पुस्तकें ऐसी विद्यमान हैं जिनमें वे पहले ही से एकत्र की जा चुकी हैं। कुछ लोकोक्तियाँ, उदाहरणार्थ, नीचे दी जाती हैं—

(१) विक्रीते करिणि किमङ्कुशे विवादः

(२) विषादप्यमृतं ग्राह्यम्

(३) विषस्य विषमौषधम्

(४) सर्वे गुणाः काञ्चनमाश्रयन्ति

(५) सर्वारम्भास्तन्तुलाः प्रस्थमूलाः

पुस्तक के अगले संस्करण में यदि सङ्कलनकार परिश्रम-पूर्वक संस्कृत और हिन्दी की और भी मुख्य मुख्य लोकोक्तियों का संग्रह कर दें तो आपका यह कोश बहुत अधिक उपयोगी हो जाय।

[अगस्त १९२५.

बार्हस्पत्य अर्थ-शास्त्र

इधर दस-पाँच साल से अर्थ-शास्त्र विषयक पुस्तकों की धूम सी मच रही है। कई अच्छी अच्छी पुस्तकें भी निकली हैं। पर लचर पुस्तकें भी कम नहीं निकलीं। कुछ तो ऐसी भी निकली हैं जिनके कितने ही अंश थोड़े ही समय के अनन्तर पुराने हो जायँगे। त्रुटियाँ भी उनमें कम नहीं। ख़ैर, जहाँ इस विषय की पुस्तकों का प्रायः सर्वथा अभाव था, वहाँ कुछ का निकलना भी ग़नीमत है। आशा है, जैसे जैसे इस विषय के ज्ञान की वृद्धि होती जायगी, वैसे ही वैसे इन पुस्तकों की सदोषता भी दूर होती जायगी। यह तो अर्थ-शास्त्र विषयक नई पुस्तकों की बात हुई।

इस शास्त्र से सम्बन्ध रखनेवाली पुस्तकें संस्कृत में भी हैं, यह बात पहले किसी को मालूम न थी। और मालूम भी रही होगी तो दो ही चार पुरातत्व के प्रेमियों को। भला हो, श्याम शास्त्री का जिन्होंने पहले-पहल कौटिल्य के अर्थ-शास्त्र का पता लगाया और टीका-टिप्पणी सहित उसका प्रकाशन भी किया। उन्होंने इस प्राचीन शास्त्र का अँगरेज़ी अनुवाद भी प्रकाशित करके अर्थ-शास्त्र के प्रेमियों का बहुत उपकार किया। यह ग्रन्थ कौटिल्यापर-नामधेय चाणक्य की कृति है। ग्रन्थ बड़ा है और क्लिष्ट है। अनेक पारिभाषिक शब्दों के आ जाने और भाषा पुरानी संस्कृत होने के कारण वह और भी दुरूह हो गया है। तथापि अनेक विद्वानों ने इस ग्रन्थ के अनुवाद, सार और समालोचनायें लिखकर इसका परिशीलन बहुत कुछ बोधगम्य कर दिया है। बँगला, मराठी, तामील और अँगरेजी ही में नहीं, हिन्दी में भी इस ग्रन्थ के विषय में बहुत कुछ लिखा जा चुका है। इस सब सामग्री की सहायता से कौटिल्य के अर्थ-शास्त्र का

मतलब प्राचीन संस्कृत न जाननेवालों को भी सुलभ हो गया है। ग्रन्थ है भी बड़े महत्व का। उसके पाठ से चन्द्रगुप्त के समय की राज्य-व्यवस्था का बहुत कुछ ज्ञान प्राप्त हो सकता है। चाणक्य मगध-नरेश चन्द्रगुप्त के प्रधान मन्त्री थे। अतएव अपने ग्रन्थ में उन्होंने जो कुछ लिखा है, वह अपनी जानकारी से भी लिखा है। केवल पूर्वाचार्य्यों के वचनों ही का पिष्ट-पेषण नहीं किया।

मगधेश्वर चन्द्रगुप्त का समय ईसा के ३१६-२९२ वर्ष पूर्व है। चाणक्य उनके मन्त्री थे। अतएव उनका भी यही समय समझना चाहिए और उनके अर्थ-शास्त्र का भी यही। इस शास्त्र के प्रथमाचार्य्य बृहस्पति नाम के कोई पण्डित या ऋषि माने जाते हैं। कौटिल्य के अर्थ-शास्त्र में उनका उल्लेख है। अतएव वे चाणक्य के पूर्ववर्त्ती हुए। जबसे कौटिल्य के अर्थ-शास्त्र का प्रकाशन हुआ, तब से बृहस्पति के अर्थ-शास्त्र की खोज भी लोग करने लगे। उनके तथा और लोगों के भी सौभाग्य से उसका अथवा उसके कुछ सूत्रों का पता लग भी गया। कहाँ लगा? योरप में। वे सूत्र फ्रेंच भाषा की एक सामयिक पत्रिका में, टामस साहब के अँगरेजी अनुवाद सहित, प्रकाशित भी हुए। उनकी नक़ल, १९२० ईसवी में, इस देश की वैदिक मैगज़ीन में छपी। उसी के आधार पर अब एक पुस्तक लाहौर के पंजाब संस्कृत पुस्तकालय के अध्यक्ष ने छाप कर प्रकाशित की है। इस पुस्तक के सम्पादक लाला कन्नोमल, एम० ए० हैं। आपने मूल सूत्र भी दिये हैं और उनका अनुवाद भी हिन्दी में दिया है। साथ ही टीका-टिप्पणियों से भी पुस्तक का महत्व बढ़ाया है। यहाँ तक कि एक लम्बा उपोद्घात और कई परिशिष्ट जोड़ कर पुस्तक की उपयोगिता का और भी संवर्धन कर दिया है। पुस्तक की पृष्ठ-संख्या कोई सवा सौ के लग-भग है। ऊपर साधारण सी जिल्द है। छपाई भी बहुत ही साधारण है। दाम पुस्तक पर लिखा नहीं। प्रकाशक ही से मिल सकती है। इन सूत्रों में राजनीति, अर्थ-शास्त्र और धर्म्म-विधान के वर्णन के साथ ही साथ

जैनों, बौद्धों, शाक्तों, शैवों और वैष्णवों के धर्म्म-सिद्धान्तों का भी उल्लेख है। यहाँ तक कि उनकी निन्दा भी है। अतएव यह स्पष्ट है कि यदि ये सारे के सारे ही सूत्र प्रक्षिप्त या जाली नहीं, तो इनका कुछ अंश वैसा ज़रूर है। भगवान् गौतम बुद्ध का समय ईसा के ५६०-४८० वर्ष पूर्व माना जाता है। बौद्ध धर्म्म उन्हीं का चलाया हुआ है। उसका व्यापक प्रचार अशोक के समय में, अर्थात् ईसा के २७२-२३२ वर्ष पूर्व हुआ। आचार्य्य कौटिल्य इसके कोई १०० वर्ष पहले ही हो चुके थे। और उनके अर्थ-शास्त्र में बार्हस्पत्य सूत्रों का उल्लेख है। अतएव यदि ये सूत्र असली होते तो इनमें बौद्धों अथवा बौद्ध धर्म्म का उल्लेख कदापि न होता। पर इनमें तो शैवों और शाक्तों तक की बातें हैं। फिर भला इन्हें आद्याचार्य्य बृहस्पति की रचना कोई कैसे मान सकता है! उनके समय में तो आर्य्यों के वैदिक धर्म्म का दौर-दौरा रहा होगा, शिव और शक्ति के उपासकों का नहीं। अस्तु। टामस साहब ने इन सूत्रों का समय ईसा की बारहवीं सदी बताया है। पर लाला कन्नोमल साहब उसे ठीक नहीं समझते। इस पर हमारी प्रार्थना है कि टामस साहब का अनुमान चाहे ठीक न हो, पर इसमें सन्देह नहीं कि इस पुस्तक के अनेक सूत्र बहुत कम विश्वसनीय हैं।

उपोद्घात के लेखक ने अनेक ऐसे सूत्रों की सूची दी है जिनका अर्थ उनकी समझ में नहीं आया। उनका शायद यह ख़याल है कि सूत्रों की संस्कृत पुरानी है। इससे वह आधुनिक संस्कृत से नहीं मिलती। इसी से उनका मतलब कहीं कहीं ध्यान में नहीं आता। पर इसका क्या प्रमाण कि क्लिष्टता का कारण प्राचीनता ही है? सम्भव है, जिस मूल पुस्तक से ये सूत्र नकल किये गये हैं, वह अशुद्ध हो। अथवा रोमन अक्षरों में छपे हुए सूत्रों का उद्धार देवनागरी लिपि में करते समय उद्धारक ही ने भूलें की हों। ये सब बातें सन्दिग्ध हैं। निश्चयात्मकता से इस विषय में कुछ भी नहीं कहा जा सकता।

सूत्रों का अर्थ हिन्दी में जो दिया गया है, उसमें भी त्रुटियाँ रह गई हैं। पहले अध्याय का चौथा सूत्र है—

धर्म्ममपि लोकविक्रुष्टं न कुर्यात्

इसका अर्थ लिखा गया है—लोक-विरुद्ध धर्म्म न करे।

इस अर्थ में मूल के "अपि" का अर्थ छूट गया है। टिप्पणी भी इसके ऊपर कुछ नहीं। क्या इसे कुछ विस्तार के साथ समझाने की ज़रूरत न थी? बहुत सी बातें ऐसी हैं जो शास्त्र में धर्म्म मानी गई हैं। पर यदि वही बातें अपने समय के लोगों के आचार, व्यवहार और विचार के विरुद्ध हों तो उन्हें न करने से धर्म्म की हानि नहीं होती। इस तरह की यदि कोई टिप्पणी दे दी जाती तो सूत्र का भावार्थ अच्छी तरह समझ में आ जाता। सूत्र यों ही छोटा है। उसका अनुवाद या भावार्थ यदि उससे भी छोटा कर दिया जाय तो अर्थावगति में कुछ अधिक सुभीता नहीं हो सकता।

हमारी क्षुद्र बुद्धि में इन सूत्रों का एक और संस्करण निकालने की ज़रूरत है। जो विद्वान् वर्तमान और प्राचीन संस्कृत के ज्ञाता हैं, कौटिल्य के अर्थ-शास्त्र का जिन्होंने अच्छा अध्ययन किया है, पुरातत्त्वज्ञ होने के साथ ही साथ जो गुण-दोष-विवेचन की अच्छी शक्ति रखते हैं, तथा समालोचना के तत्वों को ध्यान में रखते हुए जो नवीनता और प्राचीनता के द्योतक वचनों को अलग कर सकते हैं, वही इस काम को योग्यतापूर्वक कर सकेंगे।

तथापि प्रस्तुत पुस्तक का प्रकाशन भी व्यर्थ नहीं। ध्यानपूर्वक पढ़ने से इससे भी पुराने ज़माने की राजनीति आदि से सम्बन्ध रखनेवाली बहुत सी बातें मालूम हो सकती हैं। पुस्तकान्त में जो परिशिष्ट हैं, वे भी बड़े काम के हैं। उनमें अर्थ-शास्त्र से सम्बन्ध रखनेवाले अनेक विषयों का अच्छा समावेश है।

[अगस्त १९२४.

अभिधानप्पदीपिका

यह पुस्तक पाली भाषा की है। अच्छे कागज पर अच्छे टाइप में छपी है। पृष्ठ-संख्या ३५० के लगभग है। मूल्य ५) रुपये। इसका प्रकाशन अहमदाबाद के गुजरात-विद्यापीठ ने किया है। उसी के महामात्र को लिखने से मिल सकती है। प्राचीन विषयों की खोज के लिए अहमदाबाद में एक "गुजरात पुरातत्व-मन्दिर" है। उसी की ग्रन्थावली का यह नवाँ ग्रन्थ है।

प्राचीन भारत के सम्बन्ध में हम लोगों को बहुत ही कम ज्ञान है। पहले तो हम बिल्कुल ही अन्धकार में थे। हम यह भी न जानते थे कि हमारे दिग्विजयी चन्द्रगुप्त और समुद्रगुप्त आदि नरेश कब हुए थे, कहाँ हुए थे और कैसे थे। भला हो विदेशी विद्वानों का जिन्हों ने इस सम्बन्ध में हमें मार्ग दिखाया और हमारे लिए बहुत कुछ सामग्री भी प्रस्तुत कर दी। यद्यपि अब अनेक भारतीय विद्वान् प्राचीन बातों की खोज करने और इस विषय की पुस्तकें लिखने लगे हैं, तथापि उन की संख्या अभी बहुत ही कम है। पाली और प्राकृत भाषाओं के प्राचीन साहित्य में भारत के पुरातन धर्म्म, समाज, राजनीति आदि से सम्बन्ध रखनेवाली अनन्त सामग्री मौजूद है। पर इन भाषाओं से अनभिज्ञ होने के कारण हम लोग उस से यथेष्ट लाभ नहीं उठा सकते। सिंहल में बौद्ध धर्म्म सम्बन्धी सैकड़ों प्राचीन ग्रन्थ पाली भाषा में विद्यमान हैं। पर वे साधारण जनों के लिये, ग्रीक या हेब्रू भाषा के ग्रन्थों के सदृश, अज्ञेय ही रहे हैं। हम नहीं जानते कि उन में क्या लिखा है। अशोक के अभिलेख इसी पाली भाषा में हैं। यदि कुछ विदेशी विद्वान् उनका अर्थोद्घाटन न करते तो हमें इस बात का पता ही न लगता कि वे क्या चीज़ हैं और उन में क्या लिखा है। किसी भी भाषा के ज्ञान-सम्पादन

के लिए उस के कोष और व्याकरण की सहायता सर्वतोधिक आवश्यक होती है। यही समझ कर अहमदाबाद के गुजरात-विद्यापीठ ने प्रस्तुत पुस्तक का प्रकाशन किया है। पाली पाठावली नाम की एक पाठ्य पुस्तक यह पहले ही निकाल चुका है। इस विद्यापीठ में पाली भाषा पढ़ाने का भी प्रबन्ध है। इसी से वह पाली की शिक्षा सुगम करने के लिए प्रयत्नशील है।

अभिधानप्पदीपिका (अभिधान-प्रदीपिका) पाली भाषा का कोष है। यह वैसा ही कोष है जैसा कि संस्कृत का अमरकोष और धनपाल-कृत प्राकृत भाषा का पाइयलच्छी (प्राकृत-लक्ष्मी) कोष। इसका ढंग भी अमरकोष ही के सदृश है। सारा कोष काण्डों में विभक्त है। रचना अनुष्टुप् श्लोकों में है। प्रत्येक वस्तु जितने नामों से, पाली साहित्य में, अभिहित हुई है, उतने नाम सब एक ही जगह लिख दिये गये हैं। उदाहरणार्थ भगवान बुद्ध के ३२ नाम प्रसिद्ध हैं। उन सब का उल्लेख ग्रन्थारम्भ के ३½ श्लोकों में कर दिया गया है। यह कोष सिंहल के मोग्गल्लान थेर की रचना है। इस के आगे, संस्कृत के एकाक्षर-कोष के आधार पर, पाली भाषा का भी एक एकाक्षर-कोष जोड़ दिया गया है। यह कोष किसी सद्धम्मकित्ति (सद्धर्मकीर्त्ति) नामक महाथेर की कृति है। कौन विभक्ति कितने अर्थों में प्रयुक्त होती है, इस बात का द्योतक भी एक प्रकरण इस पुस्तक में है। इस के सिवा जितने नाम या शब्द इस कोष में आये हैं, उनकी अकारादि-क्रम से सूची, पदच्छेद-सूची, अनेकार्थ शब्द-सूची और अव्यय-उपसर्ग-निपातादि सूची भी देकर कोष की उपयोगिता बढ़ा दी गई है।

पुस्तक के सम्पादक मुनि जिनविजय जी ने बड़े परिश्रम से इस कोष को सर्वाङ्ग-सुन्दर बना दिया है। पाली भाषा सीखने की इच्छा रखनेवालों को इस से बहुत सुभीता हो सकता है।

[अक्तोबर १९२४.

अर्द्ध-मागधी-कोष

जैनों के जितने धार्म्मिक ग्रन्थ हैं, वे प्रायः सभी प्राकृत भाषा में हैं। उस भाषा का नाम है अर्द्ध-मागधी। मागधी वह पुरानी भाषा है जो किसी समय मगध देश में बोली जाती थी। उसमें और अर्द्ध-मागधी में अन्तर तो है, पर बहुत अधिक नहीं। अर्द्ध-मागधी प्राकृत में उस समय के कुछ ऐसे प्रान्तिक शब्द भी आ गये हैं जो मगध देश में तो प्रचलित न थे, पर उसके आस-पास के प्रान्तों या जिलों में अवश्य प्रचलित थे। और चूँकि जैन धर्म्म के प्रथम प्रवर्तक महावीर स्वामी ने मगध के निकटवर्ती अन्य स्थानों में भी उपदेश दिया था, इसी लिए वहाँ की भाषा या बोली की पुट भी उनकी मागधी प्राकृत में आ गई है। उसमें और ठेठ मगध की मागधी भाषा में अन्तर देख कर ही पुराने पण्डितों ने उसका नाम अर्द्ध-मागधी रख दिया था। वही अब तक चला आता है।

भाषायें परिवर्तन-शील हैं—एक नहीं, सभी। सौ पचास वर्ष के भीतर ही उन में कुछ परिवर्तन हो जाता है। हज़ार पाँच सौ वर्ष की पुरानी भाषा तो मुश्किल से पहचानी जाती है। अतएव दो ढाई हज़ार वर्ष की पुरानी, महावीर स्वामी के समय की भाषा, आज-कल की भाषा से बहुत दूर जा पड़ी है। विशेषज्ञ भी बिना वर्षों परिश्रम किये उसे अच्छी तरह नहीं समझ सकते, साधारण जनों की तो कथा ही क्या। और जैनों के आगम आदि सब ठहरे इसी भाषा में।

इस कठिनाई को दूर करने के लिए आज तक कितने ही प्राकृत-व्याकरण और कितने ही छोटे-मोटे कोष बन चुके हैं। पर उन से काम होता न देख इन्दौर (राजवाड़ा) चौक के श्रीयुत केसरीचन्द भण्डारी ने जैनों के प्राचीन धर्म्म-ग्रन्थों से अर्द्ध-मागधी भाषा के सूत्रों का सङ्कलन

आरम्भ कर दिया। इस तरह उन्होंने बहुत सा शब्द-संग्रह एकत्र कर लिया। इस बीच में उन्होंने सुना कि प्राकृत भाषाओं के प्रकृष्ट पण्डित, इटली-निवासी, डाक्टर सुआली (Dr. Suali) एक बहुत बड़ा प्राकृत कोष बनाने की तैयारी में हैं। यह बात १९१२ ईसवी की है। अतएव भण्डारी जी ने अपना शब्द-संग्रह उन्हीं को भेज दिया कि वही इसे भी अपने कोष में शामिल कर दें। पर इतने में योरपीय युद्ध छिड़ गया। इस कारण डाक्टर साहब के काम में विघ्न उपस्थित हो गया। वह काम रुक गया। तब निरुपाय हो कर उन्होंने वह संग्रह भण्डारी महाशय को लौटा दिया।

तब यह ठहरी कि अब यहीं एक अर्द्ध-मागधी कोष तैयार करने की चेष्टा की जाय। श्वेताम्बर स्थानकवासी जैन कान्फरेन्स को इसकी खबर दी गई तो उसने कहा, बहुत अच्छा, कोष बने; कान्फरेन्स उसका प्रकाशन करने को तैयार है।

इस प्रकार सब तैयारी हो चुकने पर जैन मुनि श्रीरत्नचन्द्र जी को इस कोष के सम्पादन का भार समर्पण किया गया और आपने इसे स्वीकार भी कर लिया। उन्होंने भण्डारी जी के शब्द-संग्रह से लाभ उठाते हुए चालीस-पचास जैनागमादि छान कर कोई ५० हज़ार शब्दों की तालिका तैयार कर दी। इन सब शब्दों का समूह एक बहुत बड़े कोष की कई जिल्दों में प्रकाशित होनेवाला है। प्रस्तुत पुस्तक उसी का पहला भाग है। इसमें केवल वही शब्द आ सके हैं जिनके आरम्भ में अ-कार है। इसी से इस अर्द्ध-मागधी कोष की प्रचण्डता का अनुमान पाठक कर सकते हैं।

पुस्तक का आकार बड़ा है। ऊपर जिल्द है। काग़ज़ अच्छा है। टाइप तो बहुत ही उपयुक्त और स्पष्ट है। हर पृष्ठ में दो कालम (स्तम्भ) हैं। पृष्ठ-संख्या ६०० के लगभग है। मूल्य पुस्तक पर लिखा नहीं। कई चित्र भी इसमें हैं।

इस अर्द्ध-मागधी कोष की रचना बड़ी योग्यता और बड़े परिश्रम से की गई है। पहले तो इसमें मोटे देवनागरी टाइप में अर्द्ध-मागधी के शब्द दिये गये हैं। फिर उनका संस्कृत रूप, फिर गुजराती ही टाइप में उनका गुजराती अर्थ, तदनन्तर अँगरेज़ी और सर्व्वान्त में हिन्दी अर्थ भी दे दिया गया है। हिन्दी अर्थ भी देवनागरी टाइप ही में लिखा गया है। इसके सिवा जो शब्द जिस अर्थ में जिस प्राचीन ग्रन्थ में आया है, उसका हवाला और कहीं कहीं उसके अवतरण भी दिये गये हैं। अतएव यह बात सहज ही में अनुमान की जा सकती है कि कितने उद्योग और कितने अध्यवसाय से इसका सम्पादन हुआ है। गुजराती अर्थ तो सम्पादक महाशय ने स्वयं लिखा है। अँगरेजी अर्थ-दाता हैं इन्दौर के श्रीयुक्त प्रीतमलाल एन० कच्छी, बी० ए०। हिन्दी अर्थ लिखनेवाले कौन महाशय हैं, इसका उल्लेख, पुस्तक में, कहीं हमें नहीं मिला।

पुस्तक के आरम्भ में ओरियंटल कालेज, लाहौर, के प्रधानाध्यक्ष ऊलनर साहब का लिखा हुआ, बहुत सी ज्ञातव्य बातों से पूर्ण एक उपोद्घात है। उसके आगे अर्द्ध-मागधी भाषा के व्याकरण की प्रधान प्रधान विशेषताओं का ज्ञापक एक लम्बा निबन्ध है। उसे इस भाषा का संक्षिप्त व्याकरण ही कहना चाहिए। इस निबन्ध के लेखक श्रीयुत बनारसीदास जी जैन, एम० ए० हैं। कोषारम्भ के पहले अनुवादक, प्रकाशक और सम्पादक आदि के वक्तव्य भी हैं।

इसमें सन्देह नहीं कि मूल मागधी भाषा में जैनों के धर्म्म-ग्रन्थ पढ़ कर उन्हें समझने की इच्छा रखनेवालों तथा इस भाषा का अध्ययन कर के तुलनामूलक भाषा-शास्त्र का ज्ञान सम्पादन करनेवालों के लिए यह कोष बड़े काम का है। देखिए, इसके अगले भाग कब निकलते हैं। काम बड़े ख़र्च और बड़े परिश्रम का है।

[आक्टोबर १९२४

खोज की तीसरी त्रैवार्षिक रिपोर्ट

काशी की नागरी-प्रचारिणी सभा बहुत वर्षों से हिन्दी पुस्तकों की खोज कर रही है। उसके उद्योग से आज तक सैकड़ों हज़ारों हस्त-लिखित पुस्तकों का परिचय प्राप्त हो चुका है। यह खोज संयुक्त-प्रान्त की गवर्नमेंट की सहायता से होती है। इसके लिए वह हर साल ५००) देती रही है। खोज के विषय में पहले हर साल एक रिपोर्ट प्रकाशित होती थी। अब कुछ समय से तीन साल की रिपोर्ट एक ही साथ निकलती है। प्रस्तुत रिपोर्ट यद्यपि १९१२, १३ और १४ ईसवी की है, पर कुछ कारणों से खोज का काम प्रायः २ वर्ष बन्द रखना पड़ा था। अतएव इस रिपोर्ट को ५ वर्ष (१९१२ से १९१६ तक) की रिपोर्ट समझना चाहिए। खुशी की बात है, गवर्नमेंट ने अब अपनी सहायता ५००) से १०००) साल कर दी है। अतएव आशा है, यह काम अब कुछ अधिक झपाटे से होगा।

रिपोर्ट में जिन पुस्तकों का परिचय दिया जाता है, उनकी खोज करते हैं सभा के कर्म्मचारी। वही प्रत्येक पुस्तक पर नोट लिखते हैं कि वह कहाँ है, उसका विषय क्या है, उसके कर्त्ता का नाम क्या है, इत्यादि। वही पुस्तक के आद्यन्त के कुछ अंश की नक़ल भी कर लाते हैं। यह सब सामग्री खोज के सुपरिंटेण्डेंट साहबान के सामने रक्खी जाती है। तब वे उसके आधार पर अपनी रिपोर्ट लिखते हैं। उस रिपोर्ट में वे अपनी सम्मति के अनुसार यह भी प्रकट करते हैं कि परिचय दिये गये ग्रन्थों में से कौन कौन ग्रन्थ महत्त्व के हैं। इसके सिवा उनका कर्तव्य यह भी है कि उन ग्रन्थों के सम्बन्ध में और भी ज्ञातव्य बातों की ओर वे सर्व-

साधारण का ध्यान आकृष्ट करें। जिस खोज की यह रिपोर्ट है, उसके सुपरिंटेंडेंट थे श्रीयुत पण्डित श्यामबिहारी मिश्र, एम० ए०। पर काम था बहुत बड़ा; अकेले आप से न हो सकता था। इस कारण आपके छोटे भाई श्रीयुत शुकदेवबिहारी मिश्र, बी० ए०, आपके सहायक हो गये थे। अर्थात् वे खोज के असिस्टेंट सुपरिंटेंडेंट थे। इन दो दो सुपरिंटेंडेंटों ने मिलकर जो रिपोर्ट लिखी है, उसकी पृष्ठ-संख्या केवल ७ है। हाँ, आरम्भ में एक पृष्ठ की एक प्रस्तावना भी आप लोगों की लिखी हुई है। हमारा ख़याल तो यह है कि जो लोग जी लगा कर काम करें, जिनमें ऐसी रिपोर्टें लिखने की विशेष क्षमता हो और जिनके पास ऐसा काम करने के लिए समय भी काफ़ी हो, उन्हीं को सुपरिंटेंडेंट नियत करना चाहिए।

जिन वर्षों की यह रिपोर्ट है, उनमें ४८२ हस्तलिखित पुस्तकों की जाँच की गई। उनमें ३७० पुस्तकों के कर्ताओं का पता लगा। उनकी संख्या २१८ निकली। बाक़ी पुस्तकें किनकी लिखी हुई हैं, इसका पता न चला। जिन लेखकों का पता चला है, उनमें से २ पन्द्रहवीं सदी के, १८ सोलहवीं के और ४५ सत्रहवीं के हैं। बाक़ी के उसके बाद के हैं; अर्थात् वे बहुत पुराने नहीं। सब से अधिक पुस्तकें राधाकृष्ण की लीलाओं के वर्णन की हैं। उनकी संख्या ९८ है। उसके बाद नम्बर आता है कथादिक का, जिनकी संख्या ५५ है। नायिका भेद की २८ और अलंकार तथा छन्दः शास्त्र की १६ पुस्तकें हैं। मतलब यह कि कोई पुस्तक विशेष महत्त्व की नहीं।

हाँ, एक है। वह है सूरसागर। सूरसागर की प्रचलित पुस्तकों से वह बहुत बड़ा है। उसकी श्लोक-संख्या २५,५०० बताई गई है। प्रचलित पुस्तकों में यह संख्या ४००० से अधिक नहीं। पर यह पुस्तक सुपरिंटेंडेंट साहबान को देखने और जाँच करने को नहीं मिली। अतएव अभी यह निश्चयपूर्वक नहीं कहा जा सकता कि यह खोज कितने महत्त्व की है।

यह रिपोर्ट अँगरेज़ी भाषा में है। पुस्तकों का परिचय भी उसी भाषा में है; पर उनके आदि, मध्य और अन्त के अंश देवनागरी टाइप में ज्यों के त्यों नकल कर दिये गये हैं।

प्रूफ़ पढ़ने और पुस्तकों के नम्बरों के हवाले जाँचने में असावधानी हुई है। सूरसागर का नम्बर ८५ है, पर रिपोर्ट में लिखा है कि परिशिष्ट नम्बर १ का नोट नम्बर १८६।

पुस्तकों की खोज का काम बड़े महत्त्व का है। उसे जारी रखने के लिए नागरी-प्रचारिणी सभा हिन्दी-हितैषी मात्र के धन्यवाद की पात्र है। यदि हिन्दी-भाषा-भाषी दस पाँच श्री-सम्पन्न सज्जन भी उसकी सहायता करते तो यह काम और भी सुचारु रूप से होता और शीघ्रता से भी होता।

[नवम्बर १९२४.

जेसलमीर भाण्डागारीय ग्रन्थानां सूची

भारतवर्ष की भूमि को विदेशवासी हज़ारों वर्ष पूर्व ही रत्नगर्भा समझते थे। वास्को डे गामा का पदस्पर्श इस भूमि पर होने के बहुत पहले ही से इस देश के व्यापारी मिस्र, ईरान और यूनान जाते थे। वहाँ उनके व्यापार की वस्तुयें देख कर उन देशों के निवासी आश्चर्य करते थे। उनका ख़याल था और वह बहुत ठीक भी था कि भारतवर्ष के सदृश धनवान् देश पृथ्वी की पीठ पर दूसरा नहीं। परन्तु भारत धन ही से धनी न था, वह पुस्तक-रत्नों से भी धनवान् था। उसके ये दोनों धन, अभाग्यवश, धीरे धीरे लोप होने लगे और आज तक बहुत कुछ लुप्त भी हो गये। अँगरेज़ों का राज्यारम्भ होने के पहले ही से यहाँ के ग्रन्थरत्न योरप जाने लगे थे और सैकड़ों दुर्लभ ग्रन्थ फ्रांस, पोर्चुगल, इँगलैंड और इटली पहुँच गये थे। उसके बाद तो उनके प्रयाण की गति बहुत ही तेज़ हो गई। तिब्बत, नेपाल और भूटान तक में रक्षित ग्रन्थों का बहुत बड़ा अंश पश्चिमी देशों को चला गया। ग्रन्थों की राशियों की राशियाँ आततायियों ने पहले ही फूँक तापी थीं। जो रह गये थे, उनमें से कुछ को काल खा गया, कुछ विदेश चले गये, अवशिष्ट यों ही कुछ यहाँ रह गये। वे भी धीरे धीरे खिसकते ही जा रहे हैं।

इतने पर भी इस देश में, अब भी कितने ही ग्रन्थ-संग्रह इधर उधर छिपे पड़े हैं। खेद है, उनकी भी रक्षा का यथेष्ट प्रबन्ध नहीं। और तरह नहीं तो समय के आक्रमण ही से वे भी नष्ट होते जा रहे हैं और बड़ी कठिनता से विद्वानों को उनके दर्शन प्राप्त होते हैं।

राजपूताने के मरुस्थल में एक जगह जेसलमीर है। वह एक दुर्गम

स्थान है। वहाँ तक लोगों की पहुँच बहुत कम होती है। वहाँ जैनों के चार पुस्तक-भाण्डार हैं। एक बहुत बड़ा है, तीन छोटे छोटे हैं। उनकी ख़बर पाकर १८२९ ईसवी में कर्नल टाड ने पहले-पहल उनका ज़िक्र अपनी एक पुस्तक में किया। उसके बहुत वर्षों बाद डाक्टर बूलर और जैकोबी ने उनकी जाँच की और विद्वानों का ध्यान उनकी ओर आकृष्ट किया। कोई २० वर्ष हुए, अध्यापक श्रीधर रामकृष्ण भण्डारकर भी वहाँ पहुँचे और इन पुस्तकागारों की पुस्तकों का निरीक्षण करके उन पर एक रिपोर्ट प्रकाशित की। तब कहीं इन भाण्डारों के पुस्तक-संग्रह का महत्त्व लोगों के ध्यान में आया।

महाराजा गायकवाड़ ने बड़ौदे में एक पुरातत्व-विभाग खोल रक्खा है। उसी के अधिकारियों की देख-रेख में वहाँ एक बहुत बड़ा पुस्तकालय भी है। इन अधिकारियों में से कुछ लोग प्राचीन पुस्तकों की खोज, सम्पादन और प्रकाशन भी करते हैं। आज तक उन्होंने कोई २५ दुष्प्राप्य ग्रन्थ छाप कर प्रकाशित कर दिये हैं। इन्हीं में से एक महाशय चीमनलाल दलाल नाम के थे। उन्हें पुस्तकों की खोज का काम सौंपा गया था। बड़ौदा, पट्टन, काम्बे, अहमदाबाद और छानी इत्यादि शहरों में जैनों के जो भाण्डागार हैं, उनकी छान-बीन करके वे जेसलमीर भी पहुँचे। वहाँ बहुत समय तक वे रहे और सभी पुस्तकागारों की पुस्तकें देखकर उनपर नोट्स लिखे। उनका इरादा एक बहुत अच्छी रिपोर्ट और सूची तैयार करके जेसलमीर के संग्रह के ग्रन्थरत्नों का प्रकाश ग्रन्थ-प्रेमियों तक पहुँचाने का था। पर इसके पहले ही वे परलोकगामी हो गये। अतएव वही काम अब उनकी एकत्र की हुई सामग्री तथा अन्यान्य साधनों की सहायता से श्रीयुत लालचन्द्र भगवानदास गाँधी ने किया है। आप बड़ौदे की सेंट्रल-लाइब्रेरी में जैन साहित्य के पण्डित-पद पर अधिष्ठित हैं।

प्रस्तुत पुस्तक उन्हीं गाँधी जी की सम्पादित सूची है। इस का आकार बड़ा और मूल्य २॥) है। बड़ौदे की सेंट्रल-लाइब्रेरी के मैनेजर को

लिखने से मिल सकती है। पुस्तक में जेसलमीर के चारों भाण्डागारों की पुस्तकों की सूची अलग अलग दी गई है। वह देव-नागरी लिपि और संस्कृत भाषा में भी है और अँगरेज़ी में भी। पुस्तकें सभी हस्तलिखित हैं। इनका अधिक अंश ताड़पत्रों पर और न्यून अंश पुराने काग़ज़ पर लिखा हुआ है। कितनी ही पुस्तकें एक हजार वर्ष तक की पुरानी हैं। जेसलमीर नगर विक्रम-संवत् १२१५ में बसाया गया था। अतएव कुछ पुस्तकें उसके भी पहले की हुई। वे अन्यान्य स्थानों से लाकर वहाँ इसलिए रक्खी गई थीं कि दुर्गम जगह में होने के कारण जेसलमीर में उनके लुटे, फूँके और बरबाद किये जाने की कम सम्भावना थी। सब से बड़े भाण्डार की संस्थापना जिन भद्रसूरि नाम के एक जैन विद्वान् के प्रयत्न और प्रेरणा से हुई थी। खेद है, इन भाण्डागारों की पुस्तकों की दशा अच्छी नहीं। यदि इनकी रक्षा का उचित प्रबन्ध न किया गया तो इनके भी नष्ट हो जाने की सम्भावना है।

सूची में ग्रन्थों के नाम, उनके प्रणेताओं के नाम, लिपि-काल, विषय इत्यादि के सिवा और भी अनेक बातें लिखी गई हैं। ग्रन्थ जैनों के भी बनाये हुए हैं, जैनेतरों के भी। पर पहले ही प्रकार के ग्रन्थों की अधिकता है। ग्रन्थ हैं भी अनेक विषयों के। संस्कृत तथा प्राकृत में जैन-सिद्धान्त, बौद्ध-न्याय, व्याकरण, काव्य, कोश, नाटक आदि के अतिरिक्त कुछ पुस्तकें हिन्दी और गुजराती भाषा की भी हैं। सूची-पत्र के सम्पादक गाँधी जी ने सूची के अन्त में उन सब शिला-लेखों की भी नकल दे दी है जो जैसलमीर के जैन मन्दिरादि में पाये जाते हैं। इसके सिवा आपने इस सूची में उल्लिखित ग्रन्थों, ग्रन्थकारों, जैनाचार्यों और अन्यान्य विशिष्ट नामों की भी सूची, वर्णक्रमानुसार देकर पुस्तक को विशेष उपयोगी बना दिया है।

[दिसम्बर १९२४.

विधवा-विवाह-मीमांसा

भारतवासियों में पण्डित ईश्वरचन्द्र विद्यासागर का हृदय विधवाओं के दुःखानल से सब से पहले दग्ध हुआ। उनकी माता ने भी विधवाओं की यातनायें देख कर उनके दुःख का कुछ इलाज करने की प्रेरणा पुत्र को की। पण्डितजी अनेक शास्त्रों के ज्ञाता थे; संस्कृत भाषा में उनकी अबाध गति थी; पश्चिम के सभ्य देशों की संस्कृति का भी बहुत कुछ असर उन पर पड़ चुका था। उन्होंने सोचा, धर्म्मान्ध हिन्दू जाति तर्क और सदसद्विवेचना से काम लेनेवाली नहीं। उसकी अक्ल ठिकाने लाने के लिए उसके सामने धर्म्म-शास्त्र की आज्ञा रखनी पड़ेगी। कलकत्ते के संस्कृत कालेज के वे प्रधानाध्यक्ष थे। बस, वे कालेज के पुस्तकालय की पुस्तकों की छान-बीन करने लगे। धर्म्मशास्त्र से सम्बन्ध रखनेवाली सभी पुस्तकें उन्होंने पढ़ डालीं। जब पाराशरस्मृति के पन्नों को उलटते-उलटते उन्हें यह श्लोक मिला—

नष्टे मृते प्रव्रजिते क्लीबे च पतिते पतौ।
पञ्चस्वापत्सु नारीणां पतिरन्यो विधीयते॥

तब खुशी से उनका मानस-मयूर नृत्य करने लगा। वे चिल्ला उठे—"पाइया छि, पाइया छि।"

इसके अनन्तर विधवा-विवाह पर, उन्होंने, बँगला में एक बड़ा सुन्दर ग्रन्थ लिखा। उसमें उन्होंने वङ्ग देश की विधवाओं की करुण कहानी का ऐसा अच्छा चित्र खींचा जिसे देख कर पाषाण-हृदय मनुष्य का हृदय भी द्रवित हुए बिना नहीं रह सकता। साथ ही उन्होंने युक्ति और तर्क से विधवाओं के पुनरुद्वाह की आवश्यकता बताई और ऐसा

करने के लिए शास्त्रीय प्रमाण भी दिये। उन्होंने अपने अन्य कई मित्रों के सहयोग से ऐसा प्रबन्ध किया कि विधवा-विवाह क़ानूनन् जायज़ मान लिया गया।

तब से समय ने और भी अधिक उन्नति की है। बहुत सी विधवा-विवाह-विषयक सभायें खुल गई हैं। कोई प्रान्त ऐसा नहीं जहाँ अब विधवा-विवाह न होते हों। कट्टर कान्यकुब्ज ब्राह्मणों तक में अब इस प्रथा ने प्रवेश कर लिया है।

धर्म्म-शास्त्रों में यदि विधवा-विवाह की आज्ञा न हो तो भी क्या ऐसा विवाह होना ही न चाहिये? इन शास्त्रों को बने हजारों वर्ष हो गये। वे अपने समय के समाज की अवस्था के अनुकूल थे। उस समय ऐसे ही नियमों की ज़रूरत रही होगी। सती की प्रथा उस समय जायज़ थी। अब बाढ़ (बिहार) में कुछ लोग इसलिए सेशन सिपुर्द किये गये हैं, क्योंकि उन्होंने एक स्त्री को सती होने में मदद दी थी। शास्त्र में शूद्रों के लिए वेद पढ़ने की मुमानियत है। पर इस समय गो-मांस-भक्षी जन वेदाध्ययन करते और वेदों के संस्करण निकालते हैं। जैसे आवश्यकतानुसार कानूनों में रद्दो-बदल हुआ करता है, वैसे ही पुरा-काल में धर्म्म-शास्त्रों में भी रद्दो-बदल होता था। भिन्न भिन्न स्मृतियाँ इस बात का प्रबल प्रमाण हैं। पर वह प्रणाली सैकड़ों साल से बन्द है। अतएव उन पुराने शास्त्रों के सभी नियम इस समय पालन नहीं किये जा सकते। उनमें तरमीम की जरूरत है। अतएव शास्त्रों में यदि विधवा-विवाह का निषेध भी हो तो भी समय कहता है कि अब वह प्रतिबन्ध दूर हो जाना चाहिए; क्योंकि समाज की भलाई इसी में है।

ईश्वरचन्द्र विद्यासागर की बँगला पुस्तक देखने के बाद, विधवा-विवाह-मण्डन विषयक जो पुस्तक इस समय हमारे सामने है, वह हिन्दी में है। उसका नाम ऊपर दिया जा चुका है। उसके लेखक कोई गंगा-प्रसाद उपाध्याय, एम० ए० नाम के सज्जन हैं। यह पुस्तक भी बड़ी

योग्यता से लिखी गई है। इसमें लौकिक और शास्त्रीय दोनों दृष्टियों से गृहीत विषय का विचार योग्यतापूर्वक किया गया है। विधवा-विवाह से सम्बन्ध रखनेवाली सभी बातों का विचार लेखक ने तेरह चौदह प्रकरणों में किया है। उसके होने से जो लाभ और न होने से जो हानियाँ हो रही हैं, उनका वर्णन उन्होंने बड़ी ही सजीव भाषा में किया है। विपक्षियों की दलीलों का जो खण्डन उन्होंने किया है, वह सर्वथा तर्क-सम्मत और बुद्धि-ग्राह्य है। आपने अनेक संस्कृत ग्रन्थों से जो अवतरण दिये हैं, उनसे सूचित होता है कि आप अच्छे संस्कृतज्ञ हैं। अतएव दो तीन जगहों पर पाराशर-स्मृति के पूर्वोद्धृत श्लोक में "प्रव्रजिते" के स्थान में "परिव्रजते" देख कर दुःख हुआ। विधवा-विवाह के विपक्षी इस श्लोक के "पत्यौ" पद का अर्थ करते हैं 'अपत्यौ'। इसका अच्छा मुँहतोड़ उत्तर उपाध्यायजी ने दिया है। लेखक को मालूम ही होगा कि इसी तरह की खींच-तान सभी सम्प्रदायवाले किया करते हैं। उपाध्यायजी आर्य-समाजी मालूम होते हैं। स्वामी दयानन्द जी ने लिखा है कि ईश्वर की प्रतिमा नहीं हो सकती। प्रमाण में आपने यह वैदिक वाक्य-खण्ड भी दिया है—

"न तस्य प्रतिमा अस्ति"

अर्थात् उसकी प्रतिमा नहीं है। स्वामी जी को अप्रतिभ करने के लिए उनके विपक्षियों ने इसका अन्वय इस प्रकार करके इससे और ही अर्थ लगाया—

नतस्य (नम्रीभूतस्य) वामनावतारस्य (भगवतः) प्रतिमा अस्ति।

अर्थात् छोटे हो जानेवाले वामन भगवान् की प्रतिमा होती है।

सनातन धर्मावलम्बी ही ऐसा नहीं करते; किसी किसी की राय में, स्वामी दयानन्दजी ने भी कई जगह ऐसा ही किया है। एक उदाहरण—

"दशास्यां पुत्रानाधेहि पतिमेकादशं कृधि"

कोई किसी से कह रहा है कि तू इस विवाहिता स्त्री में दस पुत्र

उत्पन्न कर जिससे उन्हें मिला कर पति ग्यारहवाँ हो जाय। इसी के आधार पर सुनते हैं, स्वामी जी ने सत्यार्थ-प्रकाश में लिख दिया कि स्त्री को ११ तक पति करने का अधिकार है। पर ठीक क्या है, यह बात बिना स्वामीजी का मूल लेख देखे नहीं कहा जा सकता। अस्तु—

"अलं अप्रासङ्गिकावतारणया।"

इस पुस्तक के अन्त में विधवाओं के सम्बन्ध में कुछ कवितायें भी हैं। आरम्भ में रामरखसिंह सहगल महाशय की लिखी एक लम्बी प्रस्तावना है, जो सदोष हिन्दी भाषा-लेखन का अच्छा नमूना है। पुस्तक अच्छे कागज़ पर, अच्छे टाइप में, छपी है। पृष्ठ-संख्या ३०० के ऊपर है। पुस्तक पर सुन्दर जिल्द है। मूल्य ३) है।

[जून १९२८.

चरित्र-चर्चा-खण्ड

राजा सर शौरीन्द्रमोहन ठाकुर, सी० आई० ई०

दुःख का विषय है, भारतवर्ष की संगीत-विद्या का सबसे बड़ा आचार्य संसार से उठ गया। कलकत्ते के लोकप्रसिद्ध सङ्गीत-विद्या-विशारद राजा शौरीन्द्रमोहन ठाकुर ने, ७४ वर्ष की उम्र में, ५ जून को, परलोक के लिए प्रस्थान कर दिया। राजा साहब सङ्गीत-विद्या में तो अद्वितीय थे ही, आप नाट्यकार, लेखक, रत्नपरीक्षक और विज्ञानवेत्ता भी थे। आप के पिता का नाम हरकुमार ठाकुर था। सर यतीन्द्रमोहन ठाकुर आपके भाई थे। आपके ज्येष्ठ पुत्र महाराज सर प्रद्योतकुमार ठाकुर भी नामी आदमी हैं। चौदह ही वर्ष की उम्र में सर शौरीन्द्रमोहन ने, बँगला में, भूगोल-विषयक एक पुस्तक लिख डाली। संस्कृत में भी आपने अच्छी योग्यता प्राप्त कर ली। अनेक काव्यों और नाटकों का आपने अवलोकन किया। अल्प वय ही में आपने कालिदास के मालविकाग्निमित्र नाटक का बँगला अनुवाद प्रकाशित किया। सङ्गीत-विद्या पर आपका प्रेम इतना बढ़ा कि, इँगलैंड, जर्मनी, काश्मीर और नेपाल तक से सङ्गीत-शास्त्र के हस्तलिखित दुर्लभ संस्कृत ग्रन्थ मँगाकर देखे। उनका खूब अध्ययन किया। फिर अपनी बुद्धि से रागों और रागिनियों को अङ्कन द्वारा लिखने की प्रणाली आपने निकाली। पीछे से तो और भी कई सङ्गीत-विशारदों ने अपने ढंग की सङ्गीत-लिपियों की उद्भावना की। पर सबसे पहले राजा साहब ही का ध्यान इस तरफ़ गया था। जर्मनी के रहनेवाले एक संगीतज्ञ से आपने यूरप की सङ्गीत-कला भी सीखी और उसमें भी विज्ञता प्राप्त कर ली। सैकड़ों प्रकार के बाजे आपने एकत्र किये। सङ्गीत-कला के दो स्कूल आपने अपने ही ख़र्च से कलकत्ते में खोले और उन्हें अपने ही खर्च से चलाया भी। १८७५ ईसवी में, प्रिन्स आव् वेल्स की हैसियत से, परलोक-वासी महाराज सप्तम एडवर्ड इस देश में आये। वे आपके वाद्य-

यन्त्रों का संग्रह देखकर बहुत ही प्रसन्न हुए। उनके स्वागत में जो गान गाया और बजाया गया, उसकी बंगला भाषा में रचना और वाद्य-क्रिया का क्रम राजा साहब ही की बुद्धि का विकास था। भारतीय गवर्नमेंट की आज्ञा से आपने एक नये बाजे का आविष्कार किया और उसे लन्दन की एक प्रदर्शनी में भेजा। यह प्रदर्शिनी १८८६ ईसवी में हुई थी। संगीत-विद्या में आपकी पारदर्शिता से प्रसन्न होकर आक्सफर्ड के विश्वविद्यालय ने आपको सङ्गीताचार्य्य (डाक्टर आव् म्यूज़िक) की पदवी दी। गवर्नमेंट ने आपको, १८८० ई० में, सी० आई० ई० बनाया और महारानी विक्टोरिया ने, १८७४ ईसवी में, आप को के-टी० की माननीय पदवी से सम्मानित किया। क्रिश्चियन लोगों के धर्माचार्य्य पोप तक ने आपको बुलाकर एक उच्च पदवी देने की इच्छा प्रकट की। पर वहाँ जाना आपने धर्म-विरुद्ध समझा; अतएव न गये। आप कलकत्ता विश्वविद्यालय के "फेलो" थे। दीवानी कचहरियों में बुलाये जाने से मुस्तसना थे। शस्त्र-धारी रक्षक रखने की आपको आज्ञा थी। लाइसंस लेने से दो तोपें भी आप रख सकते थे। गवर्नमेंट हाउस में आप बे-रोक टोक जा सकते थे।

जो बाजे बजाकर राजा साहब ने महाराज सप्तम एडवर्ड का स्वागत किया था, उन्हें आपने कलकत्ते के विक्टोरिया मेमोरियल हाल नामक संग्रहालय को दे डालने की उदारता दिखाई। वे वहाँ रक्खे हुए हैं। वे निःसन्देह दर्शनीय हैं।

राजा साहब की गुणावली का कहाँ तक वर्णन किया जाय। पशु-पक्षियों की विद्या में भी आप प्रवीण थे। रत्न-परीक्षा आप बहुत अच्छी करते थे। धातुओं की विद्या में भी आपको दखल था। आपके जैसे गुणी की मृत्यु से भारत की जो हानि हुई है, उसकी पूर्ति होने की बहुत कम आशा है।

राजा शौरीन्द्रमोहन के एक सितार ने, उनकी पूर्वेच्छा के अनुसार, चिता पर उनका सहगमन किया।

[जूलाई १९१४.

पण्डित बालकृष्ण भट्ट

भट्टजी, तुम्हारे शरीर-त्याग का समाचार सुनकर बड़ी व्यथा हुई। उस व्यथा की इयत्ता हम किस प्रकार बतावें। हमारा कण्ठ रुँधा हुआ है, हमारे नेत्र साश्रु हैं, हमारा शरीर अवसन्न है। इलाहाबाद में तुम्हारे, वहाँ जाने पर, यह जन तुम्हारे दर्शनों से बहुधा वञ्चित नहीं हुआ। अपने आने की सूचना भी, वह, प्रायः दो दिन पहले ही, तुम्हें देता रहा है। इसलिए कि तुम मकान ही पर मिलो और तुम्हारा गिलौरीदान भी भरा हुआ मिले। तुम्हारी इच्छा न रहते भी तुम्हारे पान हम तुम्हारे पानदान से निकाल निकाल कर खा गये। कितनी ही दफ़े मिठाई और फल तुमसे बलवत् मँगवा कर हमने खाये। और भी न मालूम कितनी तकलीफ़ें तुम्हें दीं। तुम्हें चिढ़ाने में, तुम्हें खिझाने में, तुम्हारे मुख से निकले हुए निर्भर्त्सना—वाक्य सुनने में सुख था। इसी से तुमको हम दिक करते थे; "बाला चिरं चुम्बिता" की याद दिलाकर तुम्हारी कटूक्तियाँ सुनते थे; तरह तरह की वक्रोक्तियाँ कह कर तुम्हारे क्षणिक नहीं, कृतक कोप, की वृद्धि करते थे। इससे अपूर्व मनोरञ्जन होता था—एक अनिर्वचनीय सुखानुभव होता था। तुम में हमारी भक्ति थी। इससे तुम हमारी यह सारी धृष्टता क्षमा करते थे; हम पर कृपा रखते थे; हम से स्नेह रखते थे। यही कारण है जो आज हम तुम्हारे लिये "त्वङ्कार" का प्रयोग कर रहे हैं। इस त्वङ्कार के रस से तुम खूब अभिज्ञ थे। इससे आज हमने "आप" का बहिष्कार कर दिया है। भट्टजी, अब वे सरस कथायें और पुराने कवियों की वे हृदय-रञ्जिनी उक्तियाँ कहाँ सुनने को मिलेंगी! तुम तो चल दिये।

संस्कृत के सुपण्डित—कायस्थ-पाठशाला से संस्कृत के प्रोफ़ेसर–होकर भी तुमने हिन्दी को आश्रय दिया। अँगरेजी से अभिज्ञ होने पर भी तुमने हिन्दी का अनादर नहीं किया। हिन्दीप्रदीप को निकाल कर, बहुत कुछ कष्ट उठाने पर भी, तुमने उसे बन्द नहीं किया। तीस बत्तीस वर्ष तक उसे निकालते ही चले गये। इससे बढ़ कर मातृभाषा-प्रेम और क्या हो सकता है।

प्रोफ़ेसरी से पृथक् होने पर भी तुमने हिन्दी की सेवा नहीं छोड़ी। पङ्गु हो जाने पर भी तुम उसी में निरत रहे। यहाँ तक कि नेत्रों के धोखा देने पर भी तुम उस व्रत के व्रती बने ही रहे। भट्टजी, तुम्हारी कौन कौन बात याद करें! तुम्हारे जीवन की अन्यान्य घटनाओं का उल्लेख और लोग करें। हमारे लिए तो यह अवसर इतना ही कहने का है। अब हम तुम्हारी आत्मा का प्रतिबिम्ब जनार्दन में देखना चाहते हैं। अखिलेश्वर इस आशा को फलवती करे।

[अगस्त १९१४.

जोज़ेफ़ चेम्बरलेन

इँगलैंड के बड़े प्रसिद्ध राजनीतिज्ञ जोज़ेफ़ चेम्बरलेन, ७८ वर्ष की उम्र में, गत जूलाई महीने में, इस संसार से कूच कर गये। प्रसिद्धि बुरा काम करने से भी होती है और भला काम करने से भी। मरने पर मनुष्य के बुरे कामों को याद न करना चाहिए, यह लोकाचार की आज्ञा है। परन्तु चेम्बरलेन की मृत्यु पर शोकसूचक लेख लिखते समय अनेक समाचार-पत्रों ने इस लोकाचार की कुछ भी परवाह नहीं की। उन्होंने इस राजनीतिज्ञ के बुरे कामों का लेखा भी प्रगट कर दिया है। तथापि, साथ ही, उन्होंने इनके गुणों और बहुकाल-व्यापी राजनैतिक कामों का भी उल्लेख किया है। देश-देशान्तरों तक से अनन्त सहानुभूति-सूचक तारों और पत्रों की वर्षा इनके कुटुम्बी जनों पर हुई है। पारलियामेंट के सदस्यों और सचिवों ही ने नहीं, स्वयं महाराज पञ्चम जार्ज ने भी इनकी मृत्यु पर दुःख प्रगट किया है। योरप के कई बादशाहों ने भी शोकसूचक तार भेजे हैं।

तीस चालीस वर्ष की उम्र तक वाणिज्य-व्यवसाय करके जोज़ेफ़ चेम्बरलेन ने अनन्त धन-संग्रह किया। तदनन्तर कोई चालीस वर्ष तक ये विलायत के राजनैतिक मामलों में बराबर लगातार उलझे रहे। बीमार रहने और बहुत अशक्त हो जाने के कारण, गत सात आठ वर्षों से, ये इन झंझटों से अलग हो गये थे। परन्तु इसका कारण उदासीनता, विरक्ति या शान्ति-सुखैषणा न थी; इसका एक मात्र कारण लाचारी थी। शक्तिहीन हो जाने पर भी ये लकड़ी टेक कर अथवा अपने बड़े पुत्र आस्टिन चेम्बरलेन के कन्धे पर हाथ रखकर,- महत्वपूर्ण सभाओं में कभी कभी पधा-

रते थे। कभी कभी तो ये अपनी पहियेदार आराम-कुरसी पर ही बैठे रहते थे और वह कुरसी ही मजलिस में रख दी जाती थी। यह उम्र और राजनैतिक कामों में यह चाव! जिस उम्र में हम लोग "गोविन्द, नारायण, माधवेति" की आवृत्तियाँ करते हैं, उस उम्र में ये बाधा-विहित या संरक्षित व्यापार की नीति के तत्त्व लोगों को, कुरसी पर पड़े पड़े, समझाते थे!

इँगलैंड के राजनीतिज्ञों के दो दल हैं—एक उदार, दूसरा अनुदार। पहले तो ये उदार-दल में थे। पीछे से अनुदार दल में शामिल हो गये। लार्ड ग्लैडस्टन के मन्त्रित्व-काल में आयरलैंड को स्वराज्य देने के कानून का मसविदा पारलियामेंट में पेश हुआ। वह आप को न भाया। तब आप उदार दल से अलग हो गये और उस मसविदे के नाश की चेष्टा करने लगे। उसमें आप सफल-मनोरथ हुए। इस काम से आपने बड़ा नाम कमाया। जिस समय उपनिवेशों की रक्षा और निरीक्षण का सूत्र आप के हाथ में था—जिस समय आप उपनिवेश-सचिव थे—उस समय ट्रांसवाल के बीरों के साथ आपने युद्ध बोल दिया। हज़ारों आदमी काम आये। करोड़ों रुपया फूँक तापा गया। पर विजित होने पर भी ट्रांसवाल प्रायः स्वतन्त्र ही रहा। इससे भी आपका बड़ा नाम हुआ। आपकी तीसरी नामवरी अबाध वाणिज्य के नाश की चेष्टा से सम्बन्ध रखती है। इस चेष्टा में आप को साफल्य होना तो दूर रहा, आपके विरोधियों की संख्या अवश्य बढ़ गई। स्वयं इन्हीं के दल के दो टुकड़े हो गये। जोज़ेफ़ चेम्बरलेन ने एक-आध दफ़े छोड़ कर बिचारे भारतवासियों के दुःख दूर करने या उनके हितार्थ कुछ कर दिखाने का कष्ट कभी नहीं उठाया।

[अगस्त १९१४.

विनायक कोंडदेव ओक

श्रीयुत विनायक कोंडदेव ओक मराठी के नामी लेखक थे। उनका जन्म एक गरीब के घर हुआ। लड़कपन ही में माता-पिता मर गये। अपनी मातृ-भाषा मराठी और बहुत थोड़ी अँगरेज़ी पढ़कर वे ८) मासिक वेतन पर एक देहाती मदरसे में मुदर्रिस नियत हुए। कुछ समय बाद उनकी बदली बम्बई को हुई। वहाँ भी वे मुदर्रिसी ही पर आये; पर समय समय पर आपकी तरक्की अवश्य होती रही। आपके महकमे के अफ़सरों ने आपकी योग्यता पर प्रसन्न होकर अन्त में आपको असिस्टेंट डेप्युटी एजुकेशनल इन्सपेक्टर की जगह दी। तब आपका वेतन १००) मासिक हो गया। पाँच छः वर्ष तक वे इस पद पर रहे। सब मिलाकर ३४ वर्ष तक उन्होंने शिक्षा-विभाग में काम करके पेन्शन ली। पेन्शन लेने के बाद पन्द्रह बीस वर्षों तक आप जीवित रहे। अभी हाल में, आक्टोबर में, आपका शरीर छूटा है। जब आप मदरसे में पढ़ते थे, तभी से आपने मराठी लिखना शुरू कर दिया था। धीरे-धीरे आपका अभ्यास बहुत बढ़ गया और आप मराठी के बहुत बड़े लेखकों में गिने जाने लगे। छोटी बड़ी कोई चालीस पचास पुस्तकें आपने लिखीं। आपकी पुस्तकों में से मधु-मक्षिका, सुगम पदार्थ-विज्ञान, स्त्रियों की परवशता, ग्लैडस्टन-चरित, प्रपञ्चरहस्य, मराठी-वाङ्मय, हिन्दुस्तान का इतिहास और हिन्दुस्तान-कथा-रस बहुत प्रसिद्ध हैं। पिछली दोनों पुस्तकें महाराष्ट्र प्रान्त के स्कूलों में पढ़ाई जाती हैं। चरितात्मक कोई आठ दस पुस्तकें आपने लिख डालीं। छोटे छोटे बच्चों के लिए भी आपने कई उपयोगी पुस्तकें लिखीं। उनका भी खूब प्रचार है। आपका सबसे अधिक कीर्त्ति-कारक काम मराठी

के बालबोध नामक मासिक पत्र का सम्पादन है। यह पत्र ३४ वर्षों से लगातार निर्णयसागर प्रेस से निकल रहा है। आरम्भ से मृत्यु पर्य्यन्त इसका सम्पादन अकेले ओक महाशय ने ही किया। यह पत्र सदा समय पर निकला। गत आक्टोबर का अङ्क हमें १७ आक्टोबर को मिला था। सबसे बड़ी बात इस पत्र के सम्बन्ध में यह है कि इसका सारा मज़मून, अथ से इति पर्य्यन्त, ओक ही लिखते थे। इन्होंने पत्र पर कभी अपना नाम नहीं दिया। इस पत्र की भाषा बड़ी ही मधुर, स्वाभाविक और सरल होती रही है। इसमें चुन चुन कर ऐसे विषयों पर ओक महाशय लेख और नोट देते रहे हैं कि उनसे पढ़नेवालों की कुछ न कुछ ज्ञान-वृद्धि प्रायः होती ही थी। हर अङ्क में एक नई कविता, एक सचित्र जीवन-चरित्र, एक शास्त्रीय लेख अवश्य ही प्रकाशित हुआ है। यह है तो बालकों के लिए, पर प्रौढ़ों और वृद्धों ने भी इससे लाभ उठाया है। हमने स्कूल भी न छोड़ा था, तभी से हम इस पत्र को पढ़ते आये हैं। इससे हमारी अज्ञता बहुत कुछ दूर हुई है। इस ग्यारह आने वार्षिक मूल्य के मासिक पत्र ने एक वर्ष में ग्यारह रुपये से भी अधिक मूल्य का ज्ञानोपदेश किया है। बड़े दुःख की बात है, अब इस पत्र के प्रेमियों को ओक महाशय की सरस, सरल और ज्ञानोद्धारिणी लेखनी का फल चखने को न मिलेगा।

[जनवरी १९१५.

डाक्टर सतीशचन्द्र बैनर्जी

इलाहाबाद के नामी वकील डाक्टर सतीशचन्द्र बैनर्जी का अकस्मात् देहावसान हो गया। यह दुःखद दुर्घटना इलाहाबाद में, इसी महीने की ८ तारीख़ को प्रातःकाल ९ बजे हो गई। आपके एक फोड़ा हुआ। उसी से बुखार आया। बस एक ही हफ्ते बीमार रहकर आप परलोक-गामी हो गये। अभी गत मास, मई में ही, आप प्रान्तीय कौंसिल के मेम्बर चुने गये थे। पर कौंसिल में आप एक बार भी उपस्थित न हो पाये। डाक्टर बैनर्जी थे यद्यपि बङ्गाली, पर निवासी आप संयुक्त-प्रान्त ही के हो गये थे। इस प्रान्त में आपके पिता, बाबू अविनाशचन्द्र बैनर्जी, सदर आला थे। इस कारण आपने यहीं शिक्षा पाई और शिशु काल से लेकर मृत्यु पर्यन्त यहीं रहे। इनके बड़े भाई बाबू सुशीलचन्द्र बैनर्जी भी, पिता के सदृश, इसी प्रान्त में एक अच्छे सरकारी ओहदे पर थे। वे भी नहीं रहे। उन्हें मरे अभी दो वर्ष भी न हुए थे कि सतीश बाबू भी इस लोक से चल दिये। इनके छोटे भाई डाक्टर सुरेशचन्द्र बैनर्जी इलाहाबाद में डाक्टरी करते हैं।

डाक्टर बैनर्जी ने आगरे और इलाहाबाद में शिक्षा पाई। शिक्षा समाप्त होने पर दो वर्ष तक हुगली कालेज में आप प्रोफेसर (अध्यापक) रहे। १८९६ में आपने इलाहाबाद में वकालत शुरू की। इस व्यवसाय में आपको बड़ी सफलता हुई। आप शीघ्र ही नामी वकीलों में गिने जाने लगे। कुछ समयोपरान्त आपने क़ानून की सबसे ऊँची परीक्षा पास की और एल-एल० डी० हो गये। कुछ समय तक आपने इलाहाबाद विश्व-विद्यालय में क़ानून भी पढ़ाया—आप प्रोफेसर आव् लॉ रहे। १९०६ में

आप एडवोकेट हो गये। कलकत्ता विश्वविद्यालय ने प्रेमचन्द्र रायचन्द्र नाम की एक छात्रवृत्ति नियत कर रक्खी है। उसकी प्राप्ति के लिए बड़े बड़े विद्वान् प्रयत्न करते हैं। उन्हें एक कड़ी परीक्षा देनी पड़ती है। उस परीक्षा को भी आपने पास कर लिया।

डाक्टर बैनर्जी अँगरेजी के नामी लेखक थे। इलाहाबाद लॉ जरनल के आप भी सम्पादक थे। सांख्य-दर्शन पर आपने एक अच्छी पुस्तक लिखी। आपने कई अँगरेजी काव्यों पर भी व्याख्यात्मक पुस्तकों की रचना की। माडर्न रिव्यू, हिन्दुस्तान रिव्यू और लीडर में भी आप बहुधा लेख लिखा करते थे। शेक्सपीयर के काव्यों और नाटकों पर आपका असीम प्रेम था। राजनैतिक और सामाजिक कार्यों में आप सदा आगे रहते थे। दो एक कान्फरेन्सों के आप प्रेजिडेन्ट भी हुए थे।

विद्वत्ता, सुशीलता और उदारता की आप प्रत्यक्ष मूर्ति थे। आपकी अकाल मृत्यु से इस प्रान्त की बड़ी हानि हुई। केवल ४४ वर्ष की उम्र में ऐसे सुयोग्य और ऐसे सच्चे देश-भक्त का शरीरान्त हो जाना बड़े ही दुःख की बात है। ईश्वर आपके कुटुम्बियों को इस असहनीय शोक को सहने की शक्ति दे।

[जून १९१५.

वीरवर दरवानसिंह नेगी, वी० सी०

जिन नायक दरवानसिंह नेगी की वीरता का उल्लेख किसी पिछले लेख में हो चुका है, वे अब हिन्दुस्तान को लौट आये हैं। आप गढ़वाल के निवासी हैं। लौटने पर वहाँ आपका अच्छा सत्कार हुआ। ३९ नम्बर गढ़वाल राइफ़ल्स नामक पल्टन में आप नायक थे। युद्ध में बहादुरी दिखाने के उपलक्ष्य में अब आप हवल्दार हो गये हैं। खाइयों के भीतर २५ दिन तक लगातार काम करने के बाद २३ नवंबर १९१४ को आपकी टोली के सब लोगों को छुट्टी मिली। खुशी खुशी ये लोग खाइयों से बाहर हुए। इन्होंने सोचा कि अब कुछ दिन आराम करने को मिलेगा। ये लोग जा ही रहे थे कि फिर बुलाये गये। जर्मनीवालों ने अँगरेज़ों की एक मार्के की खाई के कुछ अंश पर दख़ल कर लिया था। उन्हें वहाँ से खदेड़ देने की बहुत चेष्टा की गई; पर व्यर्थ हुई। इसी से नेगीजी की पल्टन की दोनों टोलियाँ फिर बुलाई गईं। पहली टोली ने धावा किया। दूसरी टोली सहायता के लिए पीछे रही। इसी दूसरी में नेगीजी थे। पहली टोली के धावे से रास्ता बहुत कुछ साफ़ हो गया। दूसरी टोली के धावे के समय नेगीजी सबसे आगे बढ़े। सङ्गीनों की मार मारते हुए आप और आपके साथी टेढ़ी-मेढ़ी खाइयों के एक हिस्से से दूसरे में, दूसरे से तीसरे में, तीसरे से चौथे में, इसी तरह अन्त तक बढ़ते ही गये और शत्रुओं की लाशें ज़मीन पर बिछाते ही चले गये। इस धावे में बराबर यही आगे रहे। इन पर जर्मनों ने बम के गोले फेंके। उनसे तीन दफ़े ये घायल हुए। पर घायल होकर भी आप नहीं रुके। यह लड़ाई रात में हुई थी। आधी रात के बाद चार बजते बजते सारी खाई, ३०० गज

लम्बी, जर्मनों के कब्जे से निकल गई। न मालूम कितने जर्मन मारे गये। १०१ क़ैद हुए। तीन तोपें, कितनी ही बन्दूकें और बहुत सा और सामान हाथ लगा। यह सब इस वीर गढ़वाली के पराक्रम का फल था। यदि दरबानसिंह इतनी निर्भयता और वीरता से अपनी टोली के आगे न रहते तो शायद इनके पक्ष की बहुत हानि होती; और वह खाई भी उस रात को जर्मनों के अधिकार से न छीनी जा सकती।

दरबानसिंह की इसी वीरता के उपलक्ष्य में उन्हें विक्टोरिया क्रास नाम का विकट-वीरत्व-सूचक तमगा मिला है। इस तमगे को महाराज पञ्चम जार्ज ने खुद अपने ही हाथ से उन्हें पहनाया। पूर्वोक्त धावे के ग्यारहवें ही दिन उन्हें यह पदक मिला। सौभाग्य से आपके घाव सङ्गीन न थे।

[जून १९१५.

राय देवीप्रसाद (पूर्ण)

बड़े दुःख की बात है, बड़े ही परिताप का विषय है, बड़ी ही हृदय-दाहक घटना है—राय देवीप्रसाद अब इस लोक में नहीं। गत ३० जून को सबेरे १० बजे वे उस "धाम" के पथ के पथिक हो गये जहाँ से फिर कोई लौट कर नहीं आता—"यद्गत्वा न निवर्तन्ते"। ऐसे सच्चे देश-भक्त, ऐसे उत्तम वक्ता, ऐसे उत्कृष्ट कवि, ऐसे हार्दिक हिन्दी-प्रेमी, ऐसे धुरीण धर्म्मिष्ठ की निधन-वार्ता अचानक सुननी पड़ेगी, इस का स्वप्न में भी खयाल न था। सुन कर सिर पर वज्रपात सा हुआ; कलेजा काँप उठा। दूर होने के कारण अपने इस माननीय मित्र के अन्तिम दर्शनों से भी यह जन वञ्चित रहा। शोक! जिसकी हास्य रस-पूर्ण पर तर्क-सङ्गत और युक्ति-युक्त, वक्तृता सुन कर, कुछ समय पूर्व, श्रोता लोग लखनऊ में मुग्ध हो गये थे, वह विद्वान्, वह नामी वकील, वह धर्म्म-प्राण पुरुष, केवल ४५ वर्ष की उम्र में, अपने प्रेमियों को, अपने नगर के निवासियों को, अपने मित्रों और कुटुम्बियों को रुला कर चल दिया। कानपुर में आप की बड़ी प्रतिष्ठा थी। कोई बड़ा काम ऐसा न होता था जिसमें आप शरीक न होते हों। कोई कैसा ही क्यों न हो, यथा-शक्ति आप उसकी अवश्य ही इच्छा-पूर्ति करते थे। बस, आपके यहाँ तक उसे पहुँच भर जाना चाहिए। नवयुवकों तक की सभाओं में आप प्रसन्नता-पूर्वक जाते थे, व्याख्यान देते थे और प्रार्थना करने पर सभापति का पद भी ग्रहण कर लेते थे। धर्म्म आपकी बड़ी प्यारी वस्तु थी। ब्रह्मावर्त-सनातन-धर्म्म-मण्डल की स्थापना आपही ने की थी। सङ्गीत में भी आप बहुत कुशल थे। कविता आपकी बहुत ही सरल और स्वाभाविक होती थी। बहुत

बरसों तक आपके स्थान पर हर रविवार को एक कवि-मण्डली का अधिवेशन होता था और निश्चित समस्याओं पर सुन्दर सुन्दर पूर्तियाँ सुनाई जाती थीं। आप बहुत शीघ्र कविता करते थे। आपकी कई कवितायें सरस्वती में भी निकल चुकी हैं। "देश-हित के कुण्डल' पाठकों को अब तक न भूले होंगे। राय साहब थे तो कायस्थ, पर आचरण और धार्म्मिकता में आप बड़े बड़े विद्वान् ब्राह्मणों से बढ़े हुए थे। वेदान्त आप का प्यारा विषय था। कुछ समय पूर्व आप पञ्चदशी का परिशीलन करते थे।

कानपुर के जिले में एक मौज़ा भदरस है। राय साहब वहीं के रहनेवाले थे। शिक्षा आपने जबलपुर में पाई थी। वहीं आप बी० ए० और वहीं बी० एल० हुए। हाई कोर्ट वकील की परीक्षा पास करके आपने कानपुर में वकालत शुरू की। थोड़े ही समय में आपकी गिनती कानपुर के नामी वकीलों में हो गई। आप अधिकतर दीवानी ही के बड़े बड़े मुक़द्दमे लेते थे। आपका दीवानी क़ानून-विषयक ज्ञान बहुत बढ़ा-चढ़ा था। बड़े बड़े पेचीदा मुक़द्दमे बहुधा आपही के पास आते थे। आप पर नगर-निवासियों का बड़ा प्रेम था। आप की निधन-वार्ता फैलते ही शहर के बाज़ार बन्द हो गये। कचहरी भी बन्द कर दी गई।

राय साहब ने अनेक काम अपने ऊपर ले रक्खे थे। आप म्युनिसिपल बोर्ड के मेम्बर थे; कांग्रेस कमिटी और पीपुल्स एसोसिएशन के सभापति थे। १९१२ में कानपुर में जो प्रान्तिक कानफ्रेन्स हुई थी, उसकी अभ्यर्थना समिति के आप ही सभापति थे। गत एप्रिल के आरम्भ में हिन्दी का जो प्रान्तिक सम्मेलन गोरखपुर में हुआ था, उसके भी सभापति आप ही थे। लन्दन की रायल एशियाटिक सोसायटी ने आपको अपना मेम्बर बनाया था।

राय साहब की लिखी हुई कितनी ही पुस्तकें हैं। चन्द्रकला-भानुकुमार-नाटक और धाराधर-धावन की आलोचनायें, बहुत पहले, सरस्वती

में निकल चुकी हैं। पहले आप रसिक-वाटिका नामक कविता-पुस्तक हर महीने निकालते थे। पीछे से धर्म्म-कुसुमाकर नामक एक मासिक पत्र आप निकालने लगे थे। वकालत सँभाल कर और सर्वजनोपयोगी और भी कितने ही काम करके आप साहित्य-सेवा के लिए भी समय निकाल लेते थे। थियासोफिस्ट होकर भी आप अच्छे वेदान्ती थे। अपने धर्म्म में आपकी अगाढ़ श्रद्धा थी। और काम में चाहे त्रुटि हो जाय, पर धार्म्मिक कामों में कभी आप त्रुटि न होने देते थे। हर साल, होली पर, आप अपने गाँव में बड़े ठाट से धनुषयज्ञ करते थे। कई साल से आप सनातन-धर्म्म-सम्बन्धी वार्षिक उत्सव भी करने लगे थे। इन उत्सवों में दूर दूर से बड़े बड़े वक्ता आते थे।

ऐसे बहुगुण-सम्पन्न, परोपकार-रत और देश-हितैषी पुरुष के न रहने से कानपुर ही की नहीं, सारे प्रान्त की और देश की भी बड़ी हानि हुई। उनके कितने ही मित्र तो अनाथ से हो गये। जो स्वयं ही शोक से विह्वल हैं, वे राय साहब के कुटुम्बियों को किस तरह धैर्य्य दें और क्या कह कर समझावें! ईश्वर उन्हें इस दुःसह दुःख को सहने की शक्ति दे।

[जुलाई १९१५.

सर हेनरी काटन

हिन्दुस्तान के बहुत बड़े हितैषी सर हेनरी काटन का परलोकवास हो गया। २३ आक्टोबर को उनकी इस लोक की यात्रा समाप्त हो गई। जब तक इस देश में रहे, तब तक उन्होंने भारतवासियों की हर तरह मङ्गल-कामना ही नहीं की, उनके हकों की यथा-शक्ति रक्षा भी की। जब पेन्शन लेकर आप विलायत गये, तब भी आप इस देश को नहीं भूले। उसकी उन्नति के लिए लेखों द्वारा, वक्तृताओं द्वारा, पुस्तकों द्वारा और पारलियामेंट द्वारा आप लगातार चेष्टा करते ही रहे। हम लोगों की उन्नति के मार्ग में जो बाधायें हैं, उन्हें दूर करने के लिए वे सदा ही तत्पर रहे। उनकी पुस्तकों से सूचित होता है कि वे भारत को उसी दृष्टि से देखते थे जिस दृष्टि से कि बड़े से बड़ा स्वदेश-भक्त भारतवासी देख सकता है। उनकी राय थी कि भारतवासियों के साथ प्रेम, उदारता और समानता का व्यवहार होना चाहिए; उन्हें बड़े से बड़े पद मिलने चाहिएँ; उन्हें विचार-स्वातन्त्र्य का पूर्ण अधिकार होना चाहिए। और लोगों की तो बात ही नहीं, कुलियों तक के वे हितचिन्तक और पक्षपाती थे। वे न चाहते थे कि छोटे से भी छोटे भारतवासी के नागरिक अधिकार में बाधा उपस्थित की जाय। जिस समय वे आसाम के चीफ़ कमिश्नर थे, उस समय वहाँ के चाय के बगीचों में काम करनेवाले भारतीय कुलियों के साथ अच्छा व्यवहार न किया जाता था। जब इन कुलियों के लिए कानून बनने लगा, तब आपने कुलियों का पक्ष लिया। इस उच्च उदारता के कारण कुछ कुटिल और सङ्कीर्ण हृदय के महात्माओं के मुख से आपको अनेक खरी-खोटी बातें सुननी पड़ीं। आपने हानियाँ सहीं, पर न्याय्य पक्ष से पद न हटाया। विलायत में भी भारत का पक्ष लेने के कारण आपको न

मालूम कितना त्रास सहना पड़ा। परन्तु मरते दम तक आप अपने निश्चित मार्ग से नहीं डिगे।

सर हेनरी काटन के प्रपितामह पहले-पहल भारत आये। यह बात कोई डेढ़ सौ वर्ष पहले की है। उसके बाद उनके पितामह और पिता भी इस देश में बड़े बड़े ओहदों पर रहे। उनके एक पुत्र भी इस समय यहाँ सिविलियन हैं। इस तरह पाँच पुश्तों से आपके कुटुम्बी भारत की सेवा करते आ रहे हैं। १८४५ ईसवी में मदरास प्रान्त के कुम्भकोणम् नगर में सर हेनरी काटन का जन्म हुआ। बचपन ही में वे विद्याध्ययन के लिए विलायत भेजे गये। १८६७ ईसवी में वे वहाँ से सिविलियन होकर लौटे। पहले-पहल उन्हें मिदनापुर में जगह मिली। अनेक पदों पर उन्होंने काम किया। अन्त को वे आसाम के चीफ़ कमिश्नर नियत हुए। सुनते हैं, आप बङ्गाल की लफ्टिनेंट गवर्नरी के हक़दार थे। पर वह उन्हें नहीं मिली। इस कारण खिन्न होकर उन्होंने पेन्शन ले ली।

१९०४ ईसवी में सर हेनरी काटन फिर भारत आये और बम्बई में, उस साल, नेशनल कांग्रेस के सभापति हुए। लन्दन में जो कांग्रेस कमिटी है, उसमें शामिल होकर आपने बहुत कुछ काम किया। "इंडिया" नाम का जो पत्र विलायत से निकलता है, वह इसी कमिटी के प्रबन्ध से निकलता है। सर हेनरी के पुत्र ही उसका सम्पादन करते हैं। चार पाँच वर्ष तक सर हेनरी काटन पारलियामेंट के मेम्बर थे। इस मेम्बरी के समय में आपने भारत-सम्बन्धिनी अनेक चर्चायें पारलियामेंट में कीं। आपकी इन सब सेवाओं के उपलक्ष्य में भारत आपका बहुत ऋणी है। आपकी मृत्यु-वार्ता सुनकर सभी को खेद हुआ है।

सर हेनरी काटन की पुस्तकों में न्यू इंडिया नाम की पुस्तक बहुत अच्छी है। उसका हिन्दी अनुवाद भी हो चुका है।

[दिसम्बर १९१५.

विज्ञान-खण्ड

प्राणियों के अवयव काट कर लगाने की क्रिया

अमेरिका के संयुक्त राज्यों के हार्वर्ड विश्वविद्यालय के डाक्टर केरल चीर-फाड़ में बड़े कुशल हैं। किसी जानवर का कोई शरीरावयव खराब हो जाने पर उसकी जगह दूसरे जानवर का वही अवयव काट कर वे लगा देते हैं। हाल ही में आपने अपनी इस प्रकार की चीर-फाड़ का फल प्रकाशित किया है। किसी कारण से एक कुत्ते की टाँग काटनी पड़ी। उसकी जगह हाल ही के मरे हुए एक कुत्ते की टाँग आपने लगा दी और हड्डियों तथा धमनियों आदि को यथास्थान बिठा दिया। थोड़े ही दिनों में वह टाँग अच्छी तरह जुड़ गई और कुत्ता दौड़ने-फिरने लगा। यह तो एक साधारण बात है। डाक्टर केरल ने इस विषय में और भी अधिक उन्नति की है। आपने एक कुत्ते के पेट की रुधिर-वाहिनी नाड़ी के स्थान पर मनुष्य की रुधिर--वाहिनी नाड़ी लगाने में भी सफलता प्राप्त की है। आप एक गुर्दे को दूसरे गुर्दे के स्थान पर भी लगा सकते हैं। एक बार आपने एक बिल्ली के दोनों गुर्दे निकाल लिये। फिर बायाँ गुर्दा दाहिनी ओर और दाहना बाईं ओर लगा दिया। गुर्दा एक बड़ा ही नाज़ुक अङ्ग है। उसके चारों तरफ़ नसों, धमनियों और स्नायुओं का जाल सा बिछा रहता है। शरीर के अन्य भागों से भी उसका घनिष्ठ सम्बन्ध होता है। ऐसी दशा में गुर्दों को एक दूसरे से बदल कर पुनः उनके उचित स्थान पर रख देना बहुत बड़ा काम है। एक रोगाक्रान्त गुर्दे के निकाल डालने पर भी मनुष्य जीता रह सकता है। परन्तु ऐसी दशा में दूसरे गुर्दे को दुगुना काम करना पड़ता है। इस कारण रोग के पुनः लौटने का डर रहता है। यदि डाक्टर केरल का अनुभव मनुष्यों पर भी उपयोगी सिद्ध हो गया तो यह आशङ्का अब दूर हो जायगी। इस से मानव जाति का बहुत उपकार हो सकेगा। [अप्रैल १९१२.

पेड़-पौधों में चेतना-शक्ति

जीवधारियों और पौधों की जीवन-क्रियायें देखने से मालूम होता है कि इन दोनों में बहुत भेद है। धक्का लगते ही जीव-जन्तुओं में किसी न किसी प्रकार की हलचल देख पड़ती है; परन्तु पौधों में यह हलचल नहीं देख पड़ती। जन्तुओं के शरीर में कुछ ऐसे ज्ञान-तन्तु हैं, जो स्वयं किसी बाहरी कारण के बिना, कुछ न कुछ क्रिया करते रहते हैं; और जब कुछ विशेष दवायें दी जाती हैं, तब इस स्वाभाविक क्रिया में बहुत परिवर्तन हो जाता है। अब तक पौधों में ऐसी कोई क्रिया न देखी गई थी। जन्तुओं की शारीरिक रचना में ज्ञान-तन्तुओं का इतना विकास देख पड़ता है कि जब उन के शरीर के किसी भाग में कुछ हलचल होती है, या जब शरीर के बाहर कुछ हलचल होती है, तब इस बात की खबर उन्हें तुरन्त ही मिल जाती है। परन्तु सब वैज्ञानिकों की अब तक यही राय थी कि पौधों में ज्ञान-तन्तुओं की क्रिया—चेतना शक्ति—नहीं है।

दस बारह वर्ष पहले, कलकत्ते के प्रोफेसर बसु ने इस विषय पर अपने विचार प्रकट किये थे और विलायत के वैज्ञानिकों के सामने प्रयोग द्वारा यह सिद्ध कर दिया था कि जन्तुओं के समान पौधों में भी संवेदना होती है—पौधों की जीवन-क्रिया जन्तुओं की जीवन-क्रिया से भिन्न नहीं है। तब से संसार के वैज्ञानिकों की सम्मति में परिवर्तन हो गया है। उस समय अध्यापक बसु ने इस आविष्कार की भी सूचना दी थी कि पौधों में केवल संवेदना ही नहीं है, किन्तु उन में ज्ञान-तन्तुओं की रचना भी पाई जाती है जिनके द्वारा, हमारे ही समान, वे भी अपने भिन्न भिन्न अवयवों की हलचल अच्छी तरह जान सकते हैं। इस आवि-

ष्कार को प्रयोग द्वारा सिद्ध करने के लिए बसु महोदय को लगभग दस वर्ष तक लगातार यत्न करना पड़ा। हर्ष की बात है कि आपका यत्न अब सफल हो गया है।

पौधों की आन्तरिक जीवन-क्रिया—चेतना शक्ति—की माप करने के लिए प्रोफेसर बसु ने एक नया यन्त्र बनाया है, जिसको अँगरेजी में Resonant Recorder कहते हैं। इस यन्त्र के द्वारा पौधों में ज्ञान-तन्तुओं के अस्तित्व का पता तो लग ही जाता है; साथ ही ज्ञान-तन्तुओं की गति का हिसाब भी मालूम हो जाता है। आश्चर्य की बात है कि जैसे मनुष्यों की विचार-शक्ति की माप 'क्रोनास्कोप' से की जाती है, वैसे ही अध्यापक बसु के उक्त यन्त्र से यह मालूम किया जा सकता है कि किसी पौधे में संवेदना होने के बाद उसकी ख़बर ज्ञान-तन्तुओं को पहुँचाने के लिए कितना समय लगता है। ज्ञान-तन्तुओं को किसी संवेदना का समाचार पहुँचाने की क्रिया बड़े पौधों में उतनी तीव्र नहीं होती जितनी कि छोटे और पतले पौधों में होती है। ज्ञान-तन्तुओं की गति जान लेने के सिवा यह यन्त्र एक और भी काम करता है। वह यह भी बता देता है कि भिन्न भिन्न दशाओं में, (जैसे सरदी और गर्मी में) पौधे की जीवन-क्रिया पर क्या असर पड़ता है। कुछ समय हुआ, कलकत्ते में एक सभा हुई थी। बङ्गाल के गवर्नर साहब सभापति थे। उस समय बसु महोदय ने अपने इस नये यन्त्र के अनेक प्रयोग कर के यह सिद्ध कर दिया कि पौधों में ज्ञान-तन्तुओं की क्रिया-चेतना शक्ति-है। सारांश यह कि पौधों की जीवन-क्रिया में भी वही बातें पाई जाती हैं जो प्राणियों या जीवधारियों की जीवन-क्रिया में हैं। अब वैज्ञानिक प्रयोगों से यह बात सिद्ध हो गई है कि पौधों में हलचल (Irritation), संवेदना (Feeling) और ज्ञान-तन्तुओं की क्रिया (Nervous Impulse) अर्थात् चेतना-शक्ति भी है। बसु बाबू का यह वाक्य ध्यान में रखने योग्य है-"The animal and the plant are now seen to

be a multiform unity in a single Ocean of Being" इसका अर्थ यदि वेदान्त की भाषा में यह कहा जाय कि 'सर्वं खल्विदं ब्रह्म'—सारा विश्व चैतन्य से ओतप्रोत भरा है—तो अनुचित न होगा। हमारे प्राचीन वेदान्त-शास्त्र अथवा अध्यात्म-विद्या के लिए यह बड़े गौरव की बात है कि उसके प्रमेय आधुनिक विज्ञान की पद्धति से सिद्ध किए जा रहे हैं। सचमुच उस वैज्ञानिक की आत्मा के आनन्दानुभव का वर्णन कोई नहीं कर सकता जिसके अन्तःकरण में प्रत्यक्ष प्रयोग द्वारा यह प्रतीति हो गई है कि इस संसार में 'एक ही जीव-तत्त्व का समुद्र'—a single Ocean of Being—फैला हुआ है।

[नवंबर १९१३.

ज्ञानेन्द्रियों की संख्या क्या पाँच से भी अधिक है ?

आज तक जितने तत्त्ववेत्ता हो गये हैं, सभी ने मनुष्य की ज्ञानेन्द्रियों की संख्या पाँच ही मानी है। आँखों से देखना, कानों से सुनना, नाक से सूँघना, जिह्वा से स्वाद लेना और त्वचा से स्पर्श करना—यही मनुष्य के सब प्रकार के ज्ञान के पाँच द्वार हैं। विकास-सिद्धान्त का कथन है कि प्राणियों की ये ज्ञानेन्द्रियाँ एक-दम और एक ही साथ उत्पन्न नहीं हुईं। अवश्य ही किसी समय प्राणियों की ज्ञानेन्द्रियाँ पाँच से भी कम रही होंगी। यह बात तो अनेक प्रमाणों से सिद्ध हो चुकी है कि कुछ प्राणियों में नेत्रेन्द्रिय का विकास धीरे धीरे और बहुत समय में हुआ है। इससे अनुमान किया जा सकता है कि यदि मनुष्य की ज्ञानेन्द्रियों की वर्त्तमान संख्या गत-कालीन उत्क्रान्ति का परिणाम है, तो इसी प्रकार उत्क्रान्ति होते होते भविष्यत् में यह संख्या अधिक भी हो सकती है। इस बात का निर्णय करना बहुत कठिन है कि भविष्यत् में क्या होगा। परन्तु इस विषय में सर आलिवर लाज साहेब ने जो राय दी है, वह निस्सन्देह विचार करने योग्य है। विज्ञान की उन्नति के लिए विलायत में एक सभा (British Association for the Advancement of Science) है। लाज साहेब इस सभा के सभापति हैं। कुछ दिन हुए, आपने उस सभा में दिये गये अपने व्याख्यान में कहा था कि हमारे चारों ओर ऐसी अनेक बातें हैं जिनका हमें कुछ भी ज्ञान नहीं; जैसे बिजली। इसका कारण यही है कि हमारी वर्त्तमान ज्ञानेन्द्रियाँ, अपनी वर्त्तमान उत्क्रान्त अवस्था में, उन वस्तुओं का ज्ञान प्राप्त करने के योग्य नहीं। अतएव

उन्हें कृत्रिम यन्त्रों की सहायता लेनी पड़ती है। इन सब बातों का विचार करके मानस शास्त्र-वेत्ताओं और शरीर शास्त्र-वेत्ताओं ने यह निश्चय किया है कि मनुष्य के दो और ज्ञानेन्द्रियाँ हैं, जिनके द्वारा उन विषयों का बोध होता है जो वर्त्तमान पाँचों इन्द्रियों में किसी से भी नहीं हो सकता। इन नूतन ज्ञानेन्द्रियों को उष्णता-बोधक (Sense of heat or temperature) और अवरोध-बोधक (Sense of resistance) नाम दिये गये हैं। वैज्ञानिकों ने प्रयोग करके इस बात की जाँच कर ली है कि कुछ मनुष्यों में तो अवरोध-बोधक इन्द्रिय का अभाव होता है, पर कुछ में उसकी पूरी शक्ति पाई जाती है।

भिन्न भिन्न वस्तुओं में भिन्न भिन्न प्रकार की गति होती है, जिसका बोध या ज्ञान तभी होता है जब योग्य साधन प्राप्त होता है। मनुष्य की वर्तमान पाँचो ज्ञानेन्द्रियाँ ही किसी वस्तु को गति का बोध करानेवाले साधन या मार्ग हैं। परन्तु ये मार्ग अब तक पूर्णावस्था को नहीं पहुँचे हैं। ऐसी अनेक वस्तुयें हैं जिनकी सूक्ष्म गति (लहर या कम्प–Vibration) का बोध उन्हें नहीं हो सकता। देखिए, प्रकाश-कम्प के विषय में प्रोफ़ेसर डेनियल्स ने लिखा है—

"There may perhaps be ether-waves more or less rapid than the extreme limits mentioned, (392,000,000,000,000 to 757,000,000,000,000); but we have no sense by which their existance is made known to us and, at present, no experimental means of investigating them."

इसमें सन्देह नहीं कि प्रकृति देवी अनेक प्रकार से हम लोगों का ध्यान अपनी ओर आकर्षित कराने का प्रयत्न कर रही है। जब तक हमारी वर्त्तमान पाँचों ज्ञानेन्द्रियाँ उसकी पुकार की ओर ध्यान देने में समर्थ होती हैं, तब तक हम उसकी ओर ध्यान देते ही रहते हैं; परन्तु जब हम देखते हैं कि प्रकृति की पुकार की ओर ध्यान देने योग्य कोई इन्द्रियाँ

हमारे नहीं हैं, तब हम चुप हो जाते हैं। ऐसी अवस्था में जब कि यह विश्वास है कि प्रकृति देवी अनादि काल से पुकार रही है, वह सदा इसी तरह पुकारती रहेगी और हम लोगों ने अब तक उसकी पूरी पुकार नहीं सुनी है, तब यही सिद्धान्त निकलता है कि हमारी ज्ञानेन्द्रियों की संख्या निस्सन्देह पाँच से अधिक है। यदि किसी मनुष्य को ऐसी वस्तु का ज्ञान हो जाय जो हमारी वर्त्तमान पाँचों इन्द्रियों से प्राप्त नहीं हो सकती तो उस अतीन्द्रिय ज्ञान के विषय में आश्चर्य करने की कोई बात नहीं। मालूम होता है कि अब धीरे-धीरे योरप के वैज्ञानिक विद्वान् अतीन्द्रिय ज्ञान के विषय में अद्भुत बातों का आविष्कार कर दिखावेंगे।

[जूलाई १९१४.

नीरोगता-निदर्शक शरीर-स्थिति

बहुत कम लोग बता सकते हैं कि कौन मनुष्य नीरोग है और कौन नहीं। अतएव एक ऐसा नक़शा नीचे दिया जाता है जिसके अनुसार प्रत्येक मनुष्य के शरीर की जाँच करने से उसके नीरोग अथवा सरोग होने का पता लग जाता है। यह बात आवश्यक नहीं कि प्रत्येक नीरोग मनुष्य के शरीर की स्थिति ऐसी ही होनी चाहिए; तथापि सामान्यतः यह तालिका प्रमाण योग्य है। पहले अपने शरीर की ऊँचाई मालूम कर लीजिए। फिर नीचे लिखा हुआ नक़शा देखिए। यदि आपके शरीर की स्थिति इस नक़शे से मिलती जुलती है तो आप नीरोग हैं।

ऊँचाई	वज़न	छाती	कमर	भुज-दण्ड	हाथ की पिंडली	जाँघ	पैर की पिंडली	गर्दन
फुट—इञ्च	पौंड	इञ्च	इञ्च	इञ्च	इञ्च	इञ्च	इञ्च	इञ्च
५—०	११६	३४	२५¼	११¾	११	१८	१२	१२½
५—१	१२०	३५	२५¾	१२	११¼	१८½	१२¼	१२¾
५—२	१२६	३६	२६½	१२¼	११½	१९	१२½	१३
५—३	१३३	३७	२७¼	१२½	११¾	१९½	१२¾	१३¼
५—४	१३६	३८	२८	१२¾	१२	२०	१३	१३½
५—५	१४२	३८½	२८¾	१३	१२	२०½	१३¼	१३¾
५—६	१४३	३९	२९¼	१३¼	१२¼	२१	१३½	१४
५—७	१४६	३९½	३०¼	१३½	१२⅓	२१½	१३¾	१४¼
५—८	१५५	४०	३०¾	१३¾	१२½	२२	१४	१४½
५—९	१६१	४०½	३१½	१४	१२¾	२२½	१४¼	१४¾
५—१०	१६९	४१	३२¼	१४¼	१२⅘	२३	१४½	१५
५—११	१७४	४१½	३२¾	१४½	१३	२३½	१४¾	१५¼
६—०	१७८	४२	३३¼	१४¾	१३	२४	१५	१५½

नोट—एक पौंड कोई आध सेर के बराबर होता है।

[मई १९१७.

रोग-परीक्षक यन्त्र

आयुर्वेद विषयक ग्रन्थों में रोग-निदान की बड़ी महिमा है। वैद्य के लिए यह जानना बहुत ज़रूरी है कि रोगी की पीड़ा का कारण क्या है, अर्थात् वह किस रोग से पीड़ित है। इसका निश्चय ठीक ठीक हो जाने ही से उचित चिकित्सा हो सकती है। रोग का ठीक ठीक ज्ञान न होने से की गई चिकित्सा बहुत करके व्यर्थ जाती है और कभी कभी रोगी को अपने प्राणों से भी हाथ धोना पड़ता है। आयुर्वेद और यूनानी चिकित्सा के ग्रन्थों में लिखा है कि अमुक रोग होने के पहले रोगी के शरीर में कौन कौन चिह्न उत्पन्न होते हैं और रोग का प्रादुर्भाव हो जाने पर क्या दशा होती है। अँगरेजी अर्थात् एलोपैथिक चिकित्सा के ग्रन्थों में भी इन चिह्नों का उल्लेख है। पर पहली दोनों प्रकार की चिकित्साओं में एक विशेषता है। वह है नाड़ी-परीक्षा। इस नाड़ी-ज्ञान या नाड़ी-परीक्षा के अद्भुत अद्भुत चमत्कारों का वर्णन कभी कभी वैद्यों और हकीमों के मुखार-विन्द से सुनने में आता है। वे कहते हैं कि अमुक वैद्य ने अमुक की नाड़ी देख कर बता दिया कि उसने चने की दाल या कद्दू की तरकारी खाई है; अथवा १२ वर्ष बाद उसे राजयक्ष्मा, पीनस या कुष्ट रोग होने-वाला है। सुनते हैं, पूने में मेहेंदले नाम के एक वैद्य थे। वे रोगी की नाड़ी में धागा बाँध कर दूर बैठते थे और उसके दूसरे छोर के स्पर्श से रोग-परीक्षा करते थे। अस्तु; ये बातें कहाँ तक सत्य हैं, अथवा इनमें कुछ सार भी है या नहीं, यह तो वैद्यराज जी ही जानें। हम ने जो कुछ सद्वैद्यों से सुना है, वह इतना ही है कि नाड़ी-परीक्षा से शरीरस्थ वात, पित्त और कफ का तारतम्य मात्र जाना जा सकता है। और चूँकि इन्हीं तीनों में वैषम्य हो जाने से प्रायः रोग उत्पन्न होते हैं, इससे ठीक ठीक नाड़ी-ज्ञान के सहारे चिकित्सा में सुभीता ज़रूर होता है। परन्तु इस नाड़ी-ज्ञान पर

डाक्टरों का विश्वास नहीं। नाड़ी की गति से वे सबलता या निर्बलता और ज्वर या ज्वराभाव मात्र का अनुमान कर सकते हैं। एक दिन हम एक दवाख़ाने में बैठे थे। उसी समय एक स्त्री आई। उसे बवासीर की शिकायत थी और कई रोज़ से दस्त न हुआ था। उसने डाक्टर साहब को नाड़ी दिखाई। डाक्टर साहब ने पूछा, क्या शिकायत है? उत्तर में उसने सिर्फ़ यही कहा कि नाड़ी ही से आप जान लीजिए कि मुझे क्या कष्ट है। बार बार डाक्टर साहब ने उससे बीमारी का नाम पूछा और बार बार उसने वही जवाब दिया। अन्त को डाक्टर साहब ने झुँझला कर कहा—"नाड़ी अपना हाल वैद्यों और हकीमों ही से कहती है, डाक्टरों से नहीं। तुम उन्हीं के पास जाव। नाड़ी के अक्षर पढ़ना हम लोग नहीं जानते। इस काम में वैद्य और हकीम ही प्रवीण होते हैं।" इसी से हमने ऊपर कहा कि आयुर्वेद और यूनानी चिकित्सा में, रोग-निदान-विषयक कुछ विशेषता है।

डाक्टरी चिकित्सा में इस विशेषता का अभाव डाक्टरों को बहुत काल से खलता चला आ रहा है। उसे दूर करने की चेष्टायें भी, समय समय पर, हुई हैं; पर कामयाबी नहीं हुई। अब उन लोगों के सौभाग्य से कामयाबी के चिह्न दृष्टिगोचर होने लगे हैं। सतत श्रम, चिन्तन और उद्योग से क्या नहीं हो सकता? अमेरिका के सान-फ्रांसिस्को नगर के निवासी डाक्टर अबरम्स(Abrams) ने, इस अभाव के दूरीकरण के लिए, पहले-पहल एक यन्त्र बनाया और उसका नाम रक्खा आससिलो-क्लास्ट (Oscillo-clast)। रोगी के रक्त या लाला (लार) की परीक्षा इस यन्त्र से करके वह यह बता देने लगा कि उसे क्या रोग है। पर उस के इस यन्त्र में बहुत सी त्रुटियाँ रह गईं। इस यन्त्र को देख ग्लासगो के बायड (Boyd) नामक डाक्टर का ध्यान इसकी त्रुटियों की ओर गया और वह इसे अधिक उपयोगी बनाने की फ़िक्र में लगा। अब उस दिन, एक अख़बार में हमने पढ़ा कि उसने उस यन्त्र में फेर-फार करके

उसे बहुत उन्नत और प्रायः निर्दोष कर दिया है। उसने अपने यन्त्र का नाम रक्खा है—बायड का एमानोमीटर (Boyd's Emanometer)। रोग का उद्भव होने पर रोगी के शरीरस्थ रुधिर और लाला में एक प्रकार की कम्पन-शीलता उत्पन्न हो जाती है। हर रोग के कम्पन की गति भिन्न भिन्न होती है। यन्त्र द्वारा रुधिर की परीक्षा करने से ज्ञात हो जाता है कि कम्पन कैसा है और वह किस रोग का सूचक है। इस यन्त्र की गति-मापक शक्ति इतनी सूक्ष्म है कि तेज़ धूप, तेज़ गन्ध और तेज़ रङ्ग के योग से भी इसकी स्थिति में अन्तर आ जाता है। अपनी इसी सूक्ष्मता और विशेषता के कारण यह बता देता है कि जिसका यह रुधिर है, वह किस रोग से पीड़ित है अथवा आगे उसे कौन रोग होनेवाला है। वह शरीर की जीवनी शक्ति की माप भी कर देता है। चिकित्सा से लाभ हो रहा है या नहीं, शरीर की शक्ति बढ़ रही है या नहीं—इसकी परीक्षा भी वह कर देता है। लिखा तो यहाँ तक है कि उससे यह भी ज्ञान हो जाता है कि कौन औषधि या किस प्रकार की औषधियाँ इस रोग में कारगर हो सकती हैं। इससे यह न समझना चाहिए कि इसकी बताई हुई औषधियों से रोगी अच्छा ही हो जाता है; क्योंकि अच्छा होना या न होना और भी कई बातों पर अवलम्बित रहता है। परन्तु इसकी बदौलत इस बात का निश्चय ज़रूर हो जाता है कि यदि रोग निर्मूल हो सकेगा तो अमुक औषधियों ही से निर्मूल होगा। राजयक्ष्मा, नासूर, मौसमी बुख़ार, गिल्टी, वरम आदि रोग इसकी निर्दिष्ट औषधियों से जाते रहे हैं। किसी किसी रोगी को तो उनसे आनन्-फ़ानन् फ़ायदा हुआ है। होमियोपैथिक औषधियों ही से अभी तक यह यन्त्र रोग-नाश का उपाय बताने में समर्थ हुआ है, एलोपैथिक औषधियों से नहीं। ख़ैर, यही क्या कम है। इस यन्त्र के प्रचार से डाक्टरों को अपने रोगियों को, नाड़ी की रूप-रेखायें पढ़ाने के लिए, वैद्यों के पास तो न दौड़ाना पड़ेगा।

[मई १९२३.

समुद्र-तल का तथ्य-ज्ञान

जो अज्ञ, अल्पज्ञ या अज्ञान हैं, वे एक हिसाब से बहुत अच्छे हैं। वे अपने घर, अपने गाँव, अपने नगर या अपने देश ही के थोड़े बहुत ज्ञान से सन्तुष्ट रहते हैं। उनकी दृष्टि बहुत ही सङ्कुचित होती है। वह एक परिमित सीमा के बाहर जाती ही नहीं। उन से आप पूछिए, मुल्तान कहाँ है और कितनी दूर है? वे नहीं जानते। ऐसे आदमी समुद्र की लम्बाई या गहराई आदि जानने की क्यों परवा करने लगे। वे तो कह देंगे कि हमें इन बातों से क्या मतलब? तुलसीदास कब हुए, यह जानने की उन्हें ज़रूरत नहीं। वे केवल तुलसीदास की रामायण पढ़ेंगे; तुलसीदास कौन थे, कहाँ रहे, कब मरे, इसके ज्ञान-सम्पादन की वे कुछ भी चेष्टा न करेंगे। सारांश यह कि वे आम खायँगे, पेड़ न गिनेंगे।

सज्ञानों और विज्ञान-वेत्ताओं की बात जुदी है। ज्ञान से ही ज्ञान की प्राप्ति होती है; और ज्ञान है अनन्त। अतएव ज्ञान की मात्रा जिस में जितनी ही अधिक है, वह उतनी ही अधिक ज्ञान-प्राप्ति की चेष्टा करता है। ज्ञानाधिक्य ही से परमात्मा की लीलाओं का आभास मिलता है और उसकी अधिकाधिक अवगति ही से उसके पास तक पहुँच जाने का मार्ग प्रशस्त होता है। इसी लिए विद्वान् ज्ञानार्जन की चेष्टा में सदा रत रहते हैं और इस ब्रह्माण्ड की रचना आदि पर विचार करके अपनी ज्ञान-दृष्टि की सीमा बढ़ाते हैं।

पण्डितों का अनुमान है कि हमारी पृथ्वी किसी समय भट्ठी में गले हुए लोहे के तरल द्रव के रूप में थी। धीरे-धीरे उसमें गैस (वाष्प) की उत्पत्ति हुई। उसके अनन्तर उसका पृष्ठ-देश जलीय द्रव्यों से पूर्ण

हो गया। यह भू-गोलक जैसे जैसे ठण्डा होता गया, वैसे ही वैसे इस पर उद्भिज्जों और जीवधारियों की उत्पत्ति होती गई। जो अंश इसका बहुत दब गया, उसमें सर्वत्र जल भर गया। जो ऊँचा रहा, नीचे को धँसा नहीं, उससे जल सिमिट कर नीची जगहों में चला गया। फल यह हुआ कि सूखी जगह प्राणियों के बसने योग्य हो गई। सो इस भूतल पर कहीं तो जल हो गया और कहीं थल। थल कम रहा, जल अधिक है।

यह बहुत पहले की कथा—करोड़ों वर्ष की पुरानी—है। उसके अनन्तर भी भू-पृष्ठ पर बराबर परिवर्तन होते गये और अब भी होते रहते हैं। भूगर्भ में भीतर ही भीतर उत्पात होने से कोई जगह धँस जाती है तो कोई ऊपर उठ आती है। कभी तट से समुद्र कोसों दूर चला जाता है, कभी सूखी ज़मीन पर कोसों तक समुद्र-जल फैल जाता है। यहाँ तक कि समुद्र-गर्भ से नये नये टापू निकल आते हैं और पुराने टापू जलमग्न हो जाते हैं। विद्वानों का अनुमान तो यहाँ तक है कि जहाँ इस समय आटलांटिक महासागर है, वहाँ किसी समय कोई महादेश था। अर्थात् योरप, अमेरिका और अफ्रिका, ये तीनों महादेश प्रायः एक दूसरे से संलग्न थे। आटलांटिक महासागर उतना पुराना नहीं जितना कि पैसफिक अर्थात् प्रशान्त महासागर है। इसी से वह उतना गहरा भी नहीं। इस महासागर में जो पुराने द्वीप हैं, उनके आदिम निवासियों की रहन-सहन की कोई कोई बात और उनके किसी किसी औज़ार की शकल-सूरत अन्य देशों की बातों और शकल-सूरत से मेल खाती है। इस समानता से यह अनुमान और भी दृढ़ हो जाता है कि आटलांटिक महासागर की जगह पहले कोई देश था; और वहाँ-वालों का आवागमन अन्य संलग्न देशों में होता था; अथवा इन सभी देशों में प्रायः एक ही प्रकार की सभ्यता का आवास था।

थल पर जो कुछ है, उसे तो हम चर्म्म-चक्षुओं से देख सकते हैं। पर

जल के भीतर क्या है, यह जानना हमारे लिए सम्भव नहीं। और जिस पृथ्वी पर हमारा वास है, उसका अधिकांश जल-पारावार ही से परिपूर्ण है। फिर वह जल भी कैसा कि कभी वह दूर चला जाता है, कभी पास आ जाता है, कभी अपने पेट से थल को ऊपर फेंक देता है और कभी बड़े बड़े स्थल-खण्डों को समूचा निगल जाता है। इसी से अज्ञेय या अज्ञात जल-गर्भ के भीतरी दृश्य देखने या उनका थोड़ा बहुत ज्ञान-सम्पादन करने की इच्छा होना विज्ञानियों के लिए सर्वथा स्वाभाविक है। वे यह जानना चाहते हैं कि महासागरों की गहराई कितनी है; उनके भीतर कहाँ कहाँ पर्वत और पर्व्वत-श्रेणियाँ हैं, और कहाँ किस प्रकार के प्राणी उसमें रहते हैं।

खोज करने से विद्वानों को इस बात का पता तो बहुत समय हुआ, लग चुका था कि समुद्र-गर्भ में अनन्त प्राणियों का वास है। वे प्राणी अनन्त प्रकार के हैं और उनमें से कितने ही बड़े भयङ्कर और कितने ही बड़े विलक्षण भी हैं। पर उसका तल-देश कैसा है—कहाँ कितना ऊँचा-नीचा है—यह वे अब तक न जान सके थे। पर योरप के गत महायुद्ध में वैज्ञानिक विद्वानों को इस बात के जानने के साधन भी बहुत कुछ प्राप्त हो गये।

जब जलान्तर्गामिनी नौकायें अर्थात् सब-मेरीन नावें बहुत उत्पात मचाने लगीं और जहाज़ों को तोड़ने-फोड़ने लगीं, तब उनकी स्थिति का ज्ञापक एक यन्त्र तैयार किया गया। वह यन्त्र तटवर्ती विशेष विशेष स्थानों पर लगाया गया और विद्युद्वाहक तार द्वारा उसका सम्बन्ध समुद्र से कर दिया गया। वह यन्त्र समुद्र के भीतर होनेवाले शब्द को पकड़ कर उसकी दूरी बताने लगा। इससे यह ज्ञात होने लगा कि इतनी दूर पर समुद्र के भीतर सब-मेरीन है। अतएव उसका नाश करने अथवा उससे बचने के उपाय किये जाने लगे। यह बात यहीं तक रही।

इसके बाद एक वैज्ञानिक ने इस यन्त्र में कुछ फेर-फार करके एक

और यन्त्र बनाया। उससे समुद्र की गहराई जानने का साधन सुलभ हो गया। इस यन्त्र के सहारे किया गया आघात या शब्द समुद्र-तल तक चला जाता है और वहाँ ठोकर खाकर फिर यन्त्र में लौट आता है। उसे जाने और लौट आने में जितना समय लगता है, उसी के अनुपात से समुद्र की गहराई जानी जाती है।

यह साधन सम्पन्न हो जाने पर संयुक्त-देश, अमेरिका के विज्ञान-विशारदों को एक बात सूझी। उन्होंने कहा, लाओ समुद्र-तल की खोज करें। इसलिए अमेरिका के राजकीय नाविक विभाग के कर्णधारों ने स्टुअर्ट नाम के एक जहाज को सजाकर समुद्र की थाह लेने भेजा। यह जहाज़ न्यूपोर्ट नाम के बन्दरगाह से रवाना हुआ और जिबराल्टर तक चला गया। इस तरह उसने कोई सवा तीन हज़ार मील की यात्रा की और जगह-जगह समुद्र की गहराई नापी। यह काम करके उस पर गये हुए विज्ञान-विशारदों ने एक नक्शा तैयार कर दिया। उनकी खोज से मालूम हुआ कि जिस मार्ग से वह जहाज़ गया था, उस मार्ग में समुद्र की गहराई कम से कम ५४ फुट और अधिक से अधिक १९२०० फुट है। इसका मतलब यह हुआ कि कहीं कहीं पर समुद्र लगभग ४ मील गहरा है। अर्थात् यदि लोहे का एक गोला समुद्र में डाला जाय तो जल के भीतर ही भीतर ४ मील तक जाने पर कहीं वह समुद्र-तल पर पहुँच सके! इस खोज से यह भी मालूम हुआ कि न्यू-पोर्ट से आज़ोरस नामक टापू तक समुद्र के भीतर एक विस्तृत पर्वत-श्रेणी डूबी हुई है। उसके कुछ श्रृङ्ग उतने ही ऊँचे हैं जितने कि हिमालय के हैं। आज़ोरस नाम का टापू उन्हीं श्रृङ्गों के ऊपर है। यह पर्वतमाला इस टापू के पास सबसे अधिक ऊँची है। सम्भव है, किसी समय वहीं पर कोई महादेश रहा हो। इस टापू के ठीक आगे समुद्र सबसे अधिक गहरा है। फिर धीरे-धीरे उसकी गहराई कम होती गई है और जिबराल्टर के पास समुद्र की इति-श्री होकर स्थल-रूप महादेश के दर्शन होते हैं।

आटलांटिक महासागर की गहराई का तो यह हाल है, प्रशान्त महासागर की गहराई और भी अधिक है। सम्भव है, कहीं कहीं पर, वह दस पन्द्रह मील गहरा हो। फीलीपाइन नाम के द्वीप-पुञ्ज के पास की गई खोज से मालूम हुआ है कि वहाँ पर समुद्र ३२ हजार फुट अर्थात् ६ मील से भी अधिक गहरा है। याद रखिए, सूर्य्य का प्रकाश समुद्र के भीतर केवल ३ हज़ार फुट तक ही जा सकता है। आगे, उस घोर अन्धकार में, समुद्र-तल कैसा होगा, इसका पता अगले विज्ञान-वेत्ता ही शायद लगा सकें। हाँ एक बात जो जानी गई है, वह यह है कि जैसे जैसे समुद्र की गहराई बढ़ती जाती है, वैसे ही वैसे उसकी जल की शीतलता भी बढ़ती जाती है। यहाँ तक कि अधिक गहरी जगहों का तापमान इतना कम हो जाता है जितना कि भूतलवर्ती उन स्थलों का जहाँ शीत के कारण पानी जमकर बर्फ़ हो जाता है।

[अक्टोबर १९२३.

तार-द्वारा फोटो-चित्रों का भेजा जाना

ध्यान, धारणा और मन की एकाग्रता के अद्भुत कामों का वर्णन भारतीय शास्त्रों में भरा पड़ा है। इन साधनाओं की बदौलत मनुष्य रूई से भी अधिक हलका हो सकता है, व्योम में विचरण कर सकता है, जल की सतह पर चल सकता है और दूर देशों में होनेवाली घटनाओं को प्रत्यक्ष सा देख सकता है। प्रकृति की उपासना करते करते वह परमेश्वर के भी पास पहुँच सकता है। परन्तु इन सब बातों पर अब बहुत कम विश्वास किया जाता है, क्योंकि ऐसे साधनों का आज-कल प्रायः अभाव ही सा है। प्रकृति की ये उपासनायें आध्यात्मिक हैं। इनकी कल्पना और साधना करनेवाले भारतवर्षीय थे; और यदि अब भी वे कहीं होंगे तो भारतवर्षीय ही होंगे।

अन्य देशवालों ने प्रकृति के रहस्य जानने के लिए और ही तरह से उसकी उपासना की है। यह उपासना वैज्ञानिक है। विज्ञान-द्वारा उन्होंने प्रकृति के अनेक अद्भुत गुणों और कार्य्यों का पता लगा लिया है। आकाश-यान, जल-यान, जलान्तर्गामिनी नौकायें, बिजली के अनेक करिश्मे, फ़ोटो-चित्र, विषाक्त गैसें, कृत्रिम हीरे इत्यादि इसी के फल हैं। उन्होंने प्रकृति-परिचर्य्या करते करते, विज्ञान-द्वारा, पहले-पहल, तार के यन्त्र का आविष्कार किया। थल में हजारों कोस दूर तक उन्होंने बात की बात में, ख़बर भेजने की प्रक्रिया जान ली। फिर उन्होंने उस प्रक्रिया का प्रचार जल-मार्ग से भी किया। तदनन्तर वे आश्चर्यजनक काम वे बिना तार ही के कर दिखाने लगे। इस पिछली बात का आविष्कार हुए अभी दस ही पन्द्रह वर्ष हुए। अब तो इस बे-तार की प्रक्रिया ने बहुत ही

अधिक उन्नति कर ली है। थल से सैकड़ों कोस दूर समुद्र पर तैरने-वाले जहाज़ों पर बे-तार की तार-बर्क़ी के यन्त्र रहते हैं। उनकी सहायता से मित्र जन दूर दूर के जहाज़ों और स्थानों से बात-चीत कर सकते हैं। अमेरिका में बैठा हुआ एक मनुष्य कोई गीत गाता है; उसे इँगलैंड में बैठे हुए लोग आसानी से सुनते हैं। हजारों कोस दूर बैठा हुआ एक वक्ता किसी विषय पर वक्तृता देता है। उसे दूसरे देशों के अनेक स्कूलों के छात्र, एक ही साथ, आनन्द से सुनते हैं। प्रकृति के अद्भुत रहस्यों का भेद जानने में, इन विद्वानों ने कितनी सफलता प्राप्त की है, इसके ये थोड़े से प्रमाण हैं।

इन लोगों ने अपनी खोज और उपासना की सिद्धि को अब और भी आगे बढ़ा दिया है। अख़बारों के सञ्चालन का सब से बड़ा साधन तार और बे-तार के द्वारा भेजे गये समाचार हैं। अनेक अख़बार सचित्र निकलते हैं। पर चित्र तार द्वारा नहीं भेजे जा सकते थे। अख़बार-वालों को यह त्रुटि बहुत खटकती थी। कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर चीन गये हैं। उनके गमन और अभ्यर्थना के समाचार तथा वक्तृतायें भिन्न भिन्न देशों के अख़बारों में छप रही हैं और छपेंगी। परन्तु जिनके पास उनके चित्र पहले ही से न रक्खे होंगे, वे उन्हें न प्रकाशित कर सकेंगे। इस अवाञ्छनीय त्रुटि का दूरीकरण अमेरिका के एक विज्ञान-वेत्ता ने कर दिया है। इस वैज्ञानिक विद्वान् का सम्बन्ध एक अख़बार से है।

अदृश्य वैद्युतिक धारा की सहायता से फोटो भेजने का आविष्कार जिसने किया है, उसने एक विशेष प्रकार के यन्त्र का निर्म्माण किया है। इस यन्त्र का प्रयोग तार द्वारा भी हो सकता है और बिना तार के भी। जहाँ से चित्र भेजा जाता है, वहाँ भी वह यन्त्र लगा रहता है और जहाँ को भेजा जाता है, वहाँ भी। फ़ोटो—चित्र के आधार पर पहले ज़िङ्क या ताँबे का एक ब्लाक बना लिया जाता है। उस ब्लाक पर अङ्कित हुए उस चित्र में बारीक बारीक लाइनें ही लाइनें होती हैं। उसे यन्त्र

के सिलेंडर पर चढ़ा कर यन्त्र का सञ्चालन आरम्भ कर दिया जाता है। आरम्भ होते ही एक सूई उस ब्लाक की लकीरों पर घूमने लगती है। उसके घूमने से बिजली की धारा में जैसा परिवर्तन होता है—उसके मेलन और विघटन का जैसा दृश्य उत्पन्न होता है—वैसा ही दृश्य दूसरे शहर में रक्खे हुए यन्त्र के प्लेट पर भी अङ्कित हो जाता है। अर्थात् वैसा ही चित्र वहाँ भी तैयार हो जाता है। इस तरह पेकिन से यदि रविन्द्रनाथ की किसी वक्तृता की रिपोर्ट तार द्वारा न्यू-यार्क या लन्दन भेजी जाय और साथ ही नवाविष्कृत यन्त्र की सहायता से उनका चित्र दिया जाय तो वह सब सामग्री न्यू-यार्क या लन्दन में, थोड़ी ही देर बाद, छप कर प्रकाशित हो जायगी। कैसा अद्भुत आविष्कार है! प्रकृति का रहस्य-ज्ञान प्राप्त कर लेने का कैसा अद्भुत उदाहरण है!

इस आविष्कार से और भी अनेक अश्रुतपूर्व काम हो सकते हैं। भागे हुए अपराधियों के चित्र, उनके हस्ताक्षर और उनके अँगूठों के निशान भी ज्यों के त्यों भेजे जा सकते हैं। उनकी सहायता से पुलिस को उन्हें ढूँढ़ निकालने और गिरफ्तार करने में बहुत सुभीता हो सकता है।

[जून १९२४.

आँसुओं की महिमा

संस्कृत भाषा के कवियों की उक्तियों पर यदि विश्वास किया जाय तो मानना पड़ेगा कि खण्डिता नायिका के आँसू बड़ा ही गजब ढाते हैं। वे नायक का दिल दहला देते हैं, उसकी नींद-भूख हर लेते हैं, उसे अदृश्य शर-सम्पात का निशाना बना देते हैं और उसके सुखी जीवन को दुःखमय कर डालते हैं। भिन्न भिन्न अवस्थाओं में पड़े हुए मनुष्यों के आँसुओं का परिणाम या कार्य भी भिन्न भिन्न होता है। प्रेयसी की किसी हठ की पूर्ति न होने के कारण उत्पन्न हुए आँसू बड़ा काम करते हैं। उनकी बदौलत अभीष्ट वस्त्रालङ्कार की प्राप्ति हो सकती है, इच्छित दृश्य के दर्शन हो सकते हैं, प्रेम-पात्र के साथ अभिलषित समय तक एकत्र रहने का सौभाग्योदय हो सकता है और अपने विषय में अनधिकार चर्चा या अनधिकार चेष्टा करनेवालों या करनेवालियों को दण्ड मिल सकता है। दुःख, शोक और चिरवियोग से सन्तप्त जनों के अश्रुपात दया, करुणा और सहानुभूति के सागर की सृष्टि कर देते हैं। आँसुओं से शिशुओं की अभीष्ट-सिद्धि—अभिलषित पदार्थों की प्राप्ति—हो सकती है; दीन-दुखियों को दान की प्राप्ति हो सकती है और दण्डनीय मनुष्यों को दिये जानेवाले दण्ड की मात्रा या भीषणता कम हो सकती है। अतएव आँसुओं की महिमा कम नहीं, बहुत अधिक है। उनसे बड़े बड़े काम होते हैं। उनके मूल्यवान् होने में सन्देह नहीं।

परन्तु आँसुओं से अब तक यदि किसी को लाभ पहुँचा है अथवा पहुँचता है तो उसी को जिसकी आँखों से वे निकले हैं या निकलते हैं। अब इस सिद्धान्त को धक्का पहुँचनेवाला है। अब उनसे दूसरों को भी

लाभ पहुँचने की बहुत बड़ी सम्भावना मालूम हो रही है। इतना ही नहीं, अब तो कुछ ऐसे लक्षण दिखाई दे रहे हैं जिनसे यह सूचित होता है कि आँसुओं का रोज़गार भी चल निकलेगा, उनकी कोठियाँ खुल जायँगी, उनके लेन-देन का व्यवसाय करने की ओर सैकड़ों आदमी आकृष्ट हो जायँगे। वह इस कारण—

लन्दन में एक अस्पताल है। उसका नाम है सेंट मेरी का अस्पताल। सर अमरोट राइट वहाँ एक डाक्टर हैं। उन्होंने अपने परीक्षागार में, बहुत समय तक खोज करने के अनन्तर, आँसुओं के सम्बन्ध में एक नया आविष्कार किया है। रोते रोते यदि आँसू मुँह में चले जायँ तो वे नमकीन मालूम होते हैं; और नमक रोग-हारक है। उसमें कुछ कुछ तेज़ाब के सदृश गुण हैं। तेज़ाब में कीटाणु जीते नहीं रह सकते; और मनुष्य-शरीर में होनेवाले कितने ही रोगों का—उदाहरणार्थ प्लेग, हैज़ा और यक्ष्मा का—कारण ये कीटाणु अथवा अदृश्य या अत्यन्त सूक्ष्म जन्तु ही हैं।

आँसुओं में नमकीनपन देखकर पूर्व-निर्दिष्ट डाक्टर साहब के मन में यह आया कि क्या आँसू किसी काम भी आ सकते हैं? बस उन्होंने अपनी परीक्षा और जाँच बड़े परिश्रम से शुरू कर दी। फल यह हुआ कि उनका अनुमान सच निकला। उन्हें आँसुओं में रोगनाशक गुण का पता लग गया। उन्हें मालूम हो गया कि एक छोटा सा आँसू यदि लाखों कीटाणुओं पर छोड़ दिया जाय तो उसके संसर्ग से वे एक पल में नष्ट हो जायँ। अभी कुछ ही समय हुआ, लन्दन की रायल सोसायटी के मेम्बरों को डाक्टर साहब के एक सहकारी, डाक्टर अलेग्ज़ाण्डर फ्लेमिङ्ग ने वहाँ आने के लिए आमन्त्रित किया। सब के उपस्थित होने पर, यथा समय, उन्होंने लाखों कीटाणुओं के एक समुदाय पर आँसू की एक बूँद डालकर उसकी महिमा और इस नये आविष्कार की महत्ता का वर्णन किया। बात की बात में सब लोगों ने देखा कि कीटाणुओं का यह जमघट उस अश्रुबिन्दु के सम्पर्क से विलीन हो गया। यह देखकर दर्शकों के आश्चर्य

की सीमा न रही। सभी ने इस बात को स्वीकार किया कि आँसू से बढ़ कर कीटाणु-नाशक औषधि आज तक और कोई नहीं ज्ञात हुई।

अच्छा तो आँसुओं में ऐसी कौन सी चीज़ है जो कीटाणुओं का काल है? इसका पता अभी तक ठीक ठीक नहीं लगा। जाँच और पड़ताल, आश्लेषण और विश्लेषण, बराबर जारी है। आशा ही नहीं, विश्वास है कि शीघ्र ही उस रासायनिक द्रव्य का भी पता लग जायगा। तब आँसुओं से उसका निर्म्माण होने लगेगा और वह हर दवाख़ाने में मोल मिल सकेगा। ऐसा होने पर कीटाणुओं पर पूर्ण विजय-प्राप्ति होने में देर न लगा करेगी।

इस आविष्कार की ख़बर ने योरप और अमेरिका के व्यवसायियों और अन्य लोगों में भी खलबली मचा दी है। वे बड़े बड़े मनसूबे अभी से बाँधने लगे हैं। प्रेयसीजनों के जिन आँसुओं की क़दर अब तक प्रेमी ही करते आये हैं, उनकी कदर अब बड़े बड़े डाक्टर और सर्जन तक करेंगे। धन्य उन आँसुओं का सौभाग्य! उनके अनुपम सौन्दर्य्य को चित्रित करने के लिए व्यवसायी चित्रकार और मूर्तिकार जैसे अभी उमा, रमा और तारा आदि सुन्दरियों को अपने स्थान पर लाकर उन्हें हजारों रुपये देते हैं, वैसे ही भविष्यत् में व्यवसायी लोग उन्हें रुलाने के लिए भी यथेच्छ धन देंगे। औषधियों में काम आने के लिए जैसे अभी बहुत आदमी अपना रक्त बेचते हैं, वैसे ही रुवकद कुमारियाँ और कामिनियाँ घड़ों आँसू बेचा करेंगी। इससे न उन्हें कोई कष्ट होगा, न कुछ हानि ही होगी। सुबह उठीं और रोकर आँसुओं से एक ग्लास भर दिया। महीने भर का नहीं तो हफ़्ते भर का ख़र्च ज़रा देर में निकल आया। उन्हीं की नहीं, माताओं की भी बन आयेगी। वे टकटकी लगाये देखती रहेंगी कि कब उनका मुनुवाँ या मुन्नी रोती है। बस रोते ही वे उसके आँसू कटोरे, कटोरी या ग्लास में टपकाने लगेंगी। यहाँ पर यह प्रश्न हो सकता है कि आँसू निकलने की भी तो कुछ सीमा है। प्रकृति ने शरीर या आँखों में

उनका अटूट खजाना तो भर ही नहीं रक्खा। अतएव बहुत आँसू निकल जाने पर, शायद फिर उनका निकलना बन्द हो जाय। तब क्या होगा? इसका भी इलाज अभी से सोच लिया गया है। यदि आँसू न निकलेंगे तो आँखों पर प्याज रगड़ने से वे ज़रूर ही निकल पड़ेंगे और बड़ी देर तक निकलते रहेंगे। यदि इस इलाज से भी काम न चलेगा तो आँखों पर वह गैस छोड़ी जायगी जो पिछले योरपीय महायुद्ध में छोड़ी गई थी, और जिसके प्रभाव से घण्टों तक आँखों की अश्रु-वृष्टि बन्द न होती थी।

[जून १९२४.

आलोचना-खण्ड

अँगरेज अफसरों को भारतीय भाषाओं की शिक्षा

जिन्हें ज्ञान-सम्पादन का चसका होता है, वे बिना प्रेरणा के और बिना लोभ दिखाये ही अन्य भाषायें सीखते और उनके साहित्य में भरे हुए ज्ञान की प्राप्ति करते हैं। पर यह बात विलायत से इस देश में आये हुए अफ़सरों में बहुत कम पाई जाती है। अरबी, फ़ारसी और संस्कृत का ज्ञान-सम्पादन करना तो दूर रहा, बिना प्रेरणा और सरकारी आज्ञा के वे यहाँ की वर्तमान भाषायें भी सीखने का बहुत कम कष्ट उठाना चाहते हैं। इसी से गवर्नमेंट तरह तरह के पुरस्कार देकर उन्हें यहाँ की भाषायें सीखने के लिए उत्साहित करती है। इस पुरस्कार-दान आदि के नियम हैं। उनमें गवर्नमेंट ने, अभी हाल ही में, परिवर्तन किया है। कृषि, जङ्गल, पुलिस, पशु-चिकित्सा, प्रबन्ध, न्याय, शिक्षा इत्यादि से सम्बन्ध रखनेवाले मुहकमों के अफ़सरों के लिए तीन तरह की परिक्षायें नियत हैं—उत्तम, मध्यम और निकृष्ट। वर्तमान-कालीन प्रादेशिक भाषाओं के अतिरिक्त संस्कृत, अरबी, फारसी और पाली में भी परीक्षायें होती हैं। यहाँ, इस देश में, आने पर ५ से १० वर्षों तक निकृष्ट और १० से १५ वर्षों तक मध्यम परिक्षा देने का समय निर्दिष्ट है। उत्तम परीक्षा के लिये समय की सीमा निर्दिष्ट नहीं। परीक्षाओं के लिए तैयारी करने के इरादे से यदि कोई छुट्टी लेकर देशान्तर में रहना चाहे तो उसे छः महीने की छुट्टी भी मिल सकती है। परीक्षा पास करनेवालों को अब ७५०) से लेकर ५०००) तक इनाम मिलेंगे। इनाम अब भी मिलते रहे हैं; पर उनकी रकम अब बढ़ा दी गई है। इससे सूचित

होता है कि थोड़ी रक़म इनाम में पाने के लोभ से काफ़ी परीक्षार्थी नहीं मिलते थे। इसी से ये रक़में बढ़ाई गई हैं; क्योंकि जो काम और बातों से नहीं होते, रुपया उन्हें भी करा लेता है। भारतीय युवक हज़ारों रुपया ख़र्च करके अँगरेजी पढ़ते और बड़ी बड़ी परीक्षायें पास करते हैं। तिस पर भी उन्हें कठिनता से छोटी-मोटी नौकरी मिलती है। इधर जो लोग विलायत से बड़े बड़े पदों पर नियत होकर यहाँ आते हैं, उनमें से अधिकांश, हज़ारों रुपये के इनाम का लालच दिखाया जाने पर भी, यहाँ की भाषायें जी लगा कर नहीं सीखते। फल यह होता है कि उनके सुभीते के लिए भारतीय भाषाओं में लिखे गये काग़ज़-पत्रों के एक एक टुकड़े का अनुवाद कराना पड़ता है। इससे राजा और प्रजा दोनों की हानि होती है। एक बात हमारी समझ में नहीं आती। अरबी, फ़ारसी आदि की परीक्षायें पास कर लेने पर अधिक इनाम क्यों मिलना चाहिए? इन परीक्षाओं के विशेष ज्ञान से शासन और राज-कार्य्य में क्या अधिक सुभीता हो सकता है? अधिक सुभीता तो वर्त्तमान काल की प्रान्तीय भाषाओं का विशेष ज्ञान प्राप्त करने ही से हो सकता है। इन प्राचीन भाषाओं के ज्ञान की बदौलत पुरातत्त्व विषयक खोज का काम अवश्य हो सकता है। पर उससे सर्व-साधारण को क्या लाभ? उन्हें लाभ तो तभी पहुँच सकता है जब विलायती अफ़सर उनकी बातें अच्छी तरह समझ सकें, उनके साथ खटाखट बात-चीत कर सकें, उनकी भाषा पढ़ सकें और लिख भी सकें। पर ऐसे कितने अफ़सर हैं जिन्होंने प्रान्तीय भाषा में लिखने-पढ़ने में विशेष विज्ञता प्राप्त की हो? अतएव परीक्षा के नियमों और इनाम की इन रक़मों में परिवर्त्तन होना चाहिए।

इस सम्बन्ध में एक बात और भी विचारणीय है। मर्दुम-शुमारी की रिपोर्टों के लेखक हिन्दी का प्रचार हिन्दुस्तान के कोने कोने में बताते हैं। यहाँ तक कि वे मद्रास, आसाम और ब्रह्म देश तक में उसके बोलने और समझनेवालों का पता देते हैं। पर गवर्नमेंट के सलाहकार और

अधिकारी, कितने ही प्रान्तों के अफ़सरों के लिए, हिन्दी पढ़ने और उसमें परीक्षा देने की कुछ भी जरूरत नहीं समझते। यह नोट हम ६ जून १९१४ के गेज़ट आफ इण्डिया के आधार पर लिख रहे हैं। उसमें संयुक्त प्रान्त, मध्य प्रान्त, बङ्गाल और बिहार-उड़ीसा के सूबों के लिए ही हिन्दी की परीक्षा नियत की जाने का उल्लेख है, और प्रान्तों के लिए नहीं। पञ्जाब, पश्चिमोत्तर सीमा-प्रान्त, ब्रह्म देश, मद्रास और बम्बई में हिन्दी परीक्षा नहीं रक्खी गई। पर उर्दू की परीक्षा सभी प्रान्तों के लिए है। मद्रास और ब्रह्म देश के अफ़सर भी उर्दू सीख कर उसकी परीक्षा दे सकते हैं। परन्तु यदि कोई हिन्दी सीखना चाहे तो वह परीक्षा नहीं दे सकता। यह प्रजा के सुभीते की बात नहीं। प्रजा की भाषा जानने से हाकिम प्रजा की बात समझ सकते हैं। जिन प्रान्तों में हिन्दी-परीक्षा नहीं रक्खी गई, उनमें लाखों आदमी ऐसे हैं जो उर्दू नहीं, हिन्दी ही जानते हैं। भला ब्रह्म देश और मद्रास में उर्दू का क्या काम? अतएव इन हिन्दी बोलनेवालों के सुभीते का ख़याल गवर्नमेंट को रखना था। आशा है, वह अवश्य रक्खेगी।

[अगस्त १९१४.

आबकारी के महकमे की रिपोर्ट

सरकार ने एक बड़े महत्त्व का महकमा क़ायम कर रक्खा है। उसका सम्बन्ध आबकारी से है। शराब, ताड़ी, गाँजा, भङ्ग, चरस, अफीम की बिक्री और निगरानी का काम उसे सिपुर्द किया गया है। उसके बड़े साहब हर साल अपनी कारगुज़ारी की रिपोर्ट पेश करते हैं, और गवर्नर महाशय उस पर अपना वक्तव्य प्रकट करते हैं। मार्च १९२१ में खतम हुए साल की रिपोर्ट और उस पर व्यक्त किये गये सरकारी वक्तव्य को पढ़ कर सन्तोष कम होता है, असन्तोष अधिक।

कल्पना कीजिए कि किसी लड़के की आदत मिठाई खाने की पड़ गई है। माँ-बाप के बहुत कुछ समझाने-बुझाने पर भी वह उस आदत को नहीं छोड़ता। घर से रुपये-पैसे उठा ले जाता है; बर्तन तक बेच लेता है; और मिठाई खाता है। घर में कुटुम्बी चाहे फाकेकशी करें, मनोहर को मिठाई ज़रूर चाहिए। अतएव वह औरों का माल-मत्ता चुरा कर भी पाव भर पेड़े रोज़ उड़ाता है। यह देखकर पिता ने फी पेड़ा एक चपत दण्ड उसके लिए निश्चित कर दिया। पर मनोहर की यह आदत नहीं छूटी। तब एक साल बाद पिता ने दण्ड की मात्रा दो चपत, तीसरे साल तीन चपत कर दी। इसी तरह वह बढ़ाता गया। पर यह न किया कि मनोहर का घर से निकलना ही बन्द कर देता या कुछ रोज के लिए उसे ऐसी जगह रख देता जहाँ उसे मिठाई बिलकुल ही न मिलती। बताइए, ऐसे माता-पिता की सुत-वत्सलता की निन्दा की जाय या प्रशंसा?

गवर्नमेंट कुछ कुछ ऐसे ही माँ-बाप का अनुकरण कर रही है। नशे से मनुष्य सदाचार ही से नहीं गिर जाता, वह बिलकुल ही निकम्मा भी हो

जाता है। उस का शरीर किसी काम का नहीं रहता। समाज के लिए वह भार-भूत हो जाता है। सरकार अपने को प्रजावर्ग का माँ-बाप कहती है, पर नशीली चीज़ों की बिक्री एक-दम ही बन्द नहीं करना चाहती। वह उसी चपतवाली नीति का अवलम्बन कर रही है। वह कहती है, बिक्री बन्द न करेंगे; क्योंकि उससे करोड़ों रुपयों की आमदनी बन्द हो जायगी। हाँ, महसूल बढ़ा देंगे और बिक्री के साधन कम कर देंगे। वह अपनी इस नीति के अनुसार बहुत समय से काम कर रही है और उसकी सफलता पर खूब खुश भी हो रही है। खुशी का कारण यह है कि शराब वगैरह पर महसूल खूब बढ़ गया है; बिक्री की दूकानें भी कम हो गई हैं; पर आमदनी नहीं घटी। वह उल्टा बढ़ गई है! "नशीली चीज़ों का खर्च तो कम, पर उसकी बिक्री से आमदनी अधिक"—यह है सरकार का मूल मंत्र। यहाँवालों की बात जाने दीजिए। अमेरिका से पुसिफुट जान्सन नाम के एक महाशय आज-कल इस देश में पधारे हैं। वे यह उपदेश दे रहे हैं कि भाइयों, शराब पीना छोड़ दो; गाँजा पीना छोड़ दो; भङ्ग छानना छोड़ दो। पर सरकार इन चीज़ों की बिक्री बन्द नहीं करती। कोई दो करोड़ रुपये सालाना की आमदनी जो बन्द हो जायगी। अतएव हजार समझाने पर भी वह नहीं समझती। उससे कहिए, महसूल बढ़ाने और दूकानें कम कर देने से यह रोग दूर नहीं हो सकता। जिन्हें नशे का चसका है, वे दो-चार कोस की मंजिल मार कर भी अफीम और भङ्ग लावेंगे और कीमत अधिक हो जाने पर भी लोटा-थाली बेच कर उसे खरीदेंगे। पर सरकार इस दलील को लचर समझती है। सरकार, यह दो करोड़ रुपये की आय और किसी मद से वसूल कर लीजिए। या किसी कम महत्त्व के महकमे का खर्च घटा कर इतनी बचत कर लीजिए। पर यह दलील भी, और इस तरह की अन्य दलीलें भी उसे खोखली जान पड़ती हैं। शायद वह यह कहती होगी कि जिन लोगों का काम—जिन लोगों की दावतें—शराब आदि

के बिना फीकी ही रहती हैं, उनके सुभीते का भी तो कुछ ख़याल करना होगा। ख़ैर!

रिपोर्ट के साल सरकार ने शराब वग़ैरह की बदौलत १ करोड़ ८१ लाख रुपया कमाया। अर्थात् पिछले साल की अपेक्षा कोई ८३/४ लाख की आमदनी उसे अधिक हुई। बधाई! गाँजे और अफ़ीम को छोड़ कर अन्य नशीली चीजों के खर्च में भी वृद्धि ही हुई, ह्रास नहीं। सो आमदनी भी अधिक, और दो एक चीजों को छोड़ कर और चीजों का ख़र्च भी अधिक। बात यह कि जब तक बोतल-वासिनी देवी मिलेगी, उसकी आराधना करेंगे, पानी पीने को लोटा न रहे तो चिन्ता नहीं!

शराब के शौकीन होशियारी में सरकार के भी कान कतर रहे हैं। उन्होंने देखा कि देशी शराब ज़रा मँहगी हो रही है और उसकी बिक्री के लिए दुकानें भी कम हो गई हैं। अच्छा, लाओ विदेशी शराब पियें। १९१८-१९ में इन लोगों ने वाइन (Wines) नाम की शराब १८,८३९ गैलन पी डाली थी। १९१९-२० में २२ हज़ार गैलन खाली कर दी। और १९२०-२१ में २७ हज़ार गैलन! लीजिए, बढ़ाइए देशी शराब पर महसूल! सरकार ने देशी शराब पर महसूल दूना कर दिया है और दुकानें भी १९ फी सदी कम कर दी हैं। ख़र्च भी २६ फ़ी सदी कम हो गया है। तिस पर भी, इस मद से उसे ५२ फ़ी सदी आमदनी अधिक हुई है।

अफ़ीम का भी यही हाल है। ख़र्च और दुकानें कम हो जाने पर भी आमदनी ७२ फ़ी सदी बढ़ गई है।

पर गाँजा, भंग और चरस का ख़र्च कम नहीं हुआ। महसूल बढ़ जाने और दुकानें कम हो जाने पर भी गाँजा खूब ही उड़ा और भंग भी खूब ही छानी गई। सरकार की आमदनी बढ़नी ही चाहिए। जानते हैं आप, वह कितनी बढ़ी? वह ८१ फ़ी सदी बढ़ गई। १९११-१२ में चरस पर महसूल था ८ रुपया; १९२०-२१ में वह २२ रुपया हो गया। भंग पर

पहले महसूल था ४ रुपया। १९२०-२१ में वह १२॥) कर दिया गया। और अब है २०) मन! पर यार लोग इतने पर भी माननेवाले नहीं। भंग छनेगी और फिर छनेगी। घर में चाहे तवा न रह जाय। छनना बन्द तभी होगा जब वह, और दूसरी भी नशे की चीजें, अप्राप्य कर दी जायँगी, प्राप्य केवल दवा के लिए होंगी। पर वैसा करने के लिए प्रजा-वत्सल सरकार तैयार नहीं; और वैसा किये बिना इधर भंग-भवानी के भक्त और चरस-गाँजे के शौक़ीन अपनी अपनी प्यारी चीज़ छोड़ने के लिए भी तैयार नहीं। दोनों में होड़ सी है। देखिए, कौन कब तक मैदान में डटा रहता है।

[जनवरी १९२२.

सरकारी वज़ीफ़े

इस देश में जब अँगरेज़ी सरकार का राज्य दृढ़ हो गया, तब अँगरेज अफ़सरों ने कहा कि लावो यहाँवालों को कुछ पढ़ावें भी। ऐसा न हो कि ये लोग बिल्कुल ही मूर्ख या जड़-भरत हो जाँय। यदि ऐसा हुआ तो हमारे लिए बड़ी बदनामी की बात होगी। क्योंकि हमारे देशवासी कहेंगे—क्या इन लोगों ने हिन्दुस्तानियों को घोंघा-बसन्त बनाने के लिए ही उन के देश का शासन-सूत्र अपने हाथ में लिया है? इस पर सब लोग अपनी अपनी राय देने लगे। किसी अधिकारी ने कहा कि संस्कृत में वेद-पुराण, ज्योतिष और धर्मशास्त्र आदि, जो वे पढ़ते आये हैं, पढ़ा कर उन्हें धुरन्धर पण्डित और महामहोपाध्याय बना डालें। किसी ने कहा नहीं, इन्हें अरबी, फ़ारसी भाषाओं में तरह तरह की पोथियाँ पढ़ा कर मुल्ला और मौलवी बना दें। इस तरह की बातें सुनकर मेकाले नामक एक अधिकारी बोले—वाह खूब सोचा! पण्डित बन कर ये लोग क्या करेंगे और मौलवी होकर भी ये क्या कर लेंगे। अजी, इन्हें अँगरेजी पढ़ाइए। योरप के ज्ञान-विज्ञान की शिक्षा दीजिए। उसी से इनका जन्म-कर्म्म सुधरेगा; उसी से इनकी कूप-मण्डूकता छूटेगी; उसी से इनकी आँखें खुलेंगी। ऐसा करने ही से ये लोग समुद्र के भीतर जलनेवाली वाडवाग्नि और दही-दूध से लबालब भरे हुए समुद्रों के सुख-स्वप्न देखना छोड़ेंगे। तभी ये लोग जानेंगे कि दुनिया में क्या हो रहा है और कैसे-कैसे ज्ञान-विज्ञान की उद्भावना हो रही है। ऐसी शिक्षा से अँगरेज अधिकारियों को भी लाभ पहुँचेगा। हम लोगों को इनकी कौड़ियों भाषायें सीखने में वक्त न बरबाद करना पड़ेगा। यही लोग हमारी भाषा सीख कर हमारी संस्थापित कचहरियों

और दफ्तरों में काम करेंगे। हमारा बोझ हलका हो जायगा। इनका भी पेट भरेगा। इस तरह की शिक्षा से इनको जो ज्ञान लाभ होगा, वह घाते में रहेगा।

मेकाले साहब की यह सलाह अधिकारियों को खूब पसन्द आई। सब ने धन्य धन्य और वाह वाह की झड़ी लगाई। मेकाले ने सलाह दी भी ठीक थी। वह सलाह जिस मतलब से दी गई, वह मतलब कहाँ तक निकला है, यह हम लोग प्रत्यक्ष देख रहे हैं। मेकाले ने खूब दूर तक सोच कर अपनी तजवीज पेश की थी। हज़ार विघ्न-बाधायें आने और सैकड़ों तरह की काट-छाँट होने पर भी, अँगरेजी शिक्षा ही की बदौलत, हम स्वराज्य का महत्त्व समझने और स्वाधीनता की प्राप्ति के लिए लार टपकाने लगे हैं।

अस्तु; अँगरेज़ी ढंग की शिक्षा देने का सूत्रपात हुआ। जगह जगह मदरसे खुल गये; स्कूल खुल गये; कालेज भी खुल गये; यहाँ तक कि विश्वविद्यालयों तक की भी सृष्टि हो गई। कुछ समय से तो विश्व-विद्यालयों की बढ़ती का तूफान सा आ रहा है। एक बनारस में, दूसरा ढाके में, तीसरा लखनऊ में। कानपुर, आगरे और देहली में भी विश्व-विद्यालय खुलनेवाले हैं। हाँ, अलीगढ़ के विश्वविद्यालय की बात हम भूल ही गये। वहाँ भी एक की सृष्टि हुए बहुत दिन हो चुके।

नुकता-चीनी करनेवाले कहते हैं कि गवर्नमेंट ने यह जो कुछ किया है, बहुत ही कम है। सौ में दस-बीस आदमी पढ़-लिख गये तो क्या हुआ—कोई बड़ी बात न हुई। और कितने देशों में तो एक भी निरक्षर आदमी नहीं। सरकार ने अपने मतलब भर के लिए ही—दफ्तरों में मुंशीगरी करने और मुकद्दमों की उलझनें सुलझाने के लिए वकील पैदा करने के लिए ही—यह इतनी शिक्षा दी है। खैर, यही सही। पर आपको इतना तो ज़रूर ही क़बूल करना पड़ेगा कि यदि आप गवर्नमेंट के खोले हुए स्कूलों और कालेजों में शिक्षा न पाते तो आज़ादी हासिल करने,

खद्दर पहन कर इस देश की सम्पत्ति बढ़ाने के विचार कहाँ से लाते ? अच्छा जाने दीजिए, इस बहस से मतलब नहीं। जिस बात से मतलब है, वह सुन लीजिए।

यहाँ के स्कूलों और कालेजों में पढ़नेवाले कुछ तेज़ लड़कों को तो सरकार मुद्दत से वज़ीफ़े देती आती है। इधर कुछ समय से वह यदा-कदा बड़े बड़े वज़ीफ़े दे कर दो-चार युवकों को विदेश भी भेजने लगी है। यह इसलिए कि वहाँ अपनी विद्या और शिक्षा की खूब वृद्धि कर के वे लोग भारत को लौटें और लौट कर बड़े बड़े काम कर दिखावें और बड़े बड़े औहदों की शोभा बढ़ावें। पर इतने ही से हम लोगों को सन्तोष न हुआ। हमारे मुखिया महाशयों ने कहा—और वज़ीफ़े दीजिए, और वज़ीफ़े दीजिए। बहुत से नवयुवकों को इँगलिस्तान, फ्रांस, अमेरिका आदि को भेजिए। वहाँ इंजिनियरी पढ़ाइए, कला-कौशल पढ़ाइये, डाक्टरी पढ़ाइए, काश्तकारी पढ़ाइए, स्कूल-मास्टरी पढ़ाइए, संस्कृत ही नहीं, अरबी-फ़ारसी भी पढ़ाइए। सुनते सुनते सरकार तङ्ग आ गई। आजिज़ आकर उसने एक कमीटी बना दी। उसने कहा, ये लोग जैसे और जितने वज़ीफ़े देने की सिफ़ारिश करेंगे, वैसे ही और उतने ही वज़ीफ़े हम देंगे। सात पाँच की बात तुम सहज ही मान लोगे। हम यदि कुछ करेंगे तो तुम पखें लगाओगे। कहोगे, यह नहीं किया, वह नहीं किया। सो, बाबा, धीरज धरो। कमिटी जब तक अपनी रिपोर्ट न भेजे, तब तक ठहरो।

कमिटी बनी। उसके मेम्बरों ने सलाह-मशविरा और वाद-विवाद करके अपनी रिपोर्ट भी गवर्नमेंट को भेज दी। अब गवर्नमेंट ने उसे अपने गैज़ेट में छाप कर प्रकाशित कर दिया है। गवर्नमेंट से मतलब अपने प्रान्त की गवर्नमेंट से है; और माँगे गये वज़ीफ़ों का सम्बन्ध भी उसी से है।

कमिटी ने सिफ़ारिश की है कि इस प्रान्त की गवर्नमेंट भिन्न भिन्न

प्रकार की शिक्षाओं के लिए पहले साल २५ वज़ीफ़े दे। इनमें से एक वज़ीफ़ा एक हिन्दुस्तानी स्त्री को और एक ही किरानी स्त्री को भी दिया जाय। इन वज़ीफ़ों की संख्या दूसरे साल से बढ़ा दी जाय और वह धीरे धीरे ५१ तक कर दी जाय। हर वज़ीफ़ा ३०० पौंड अर्थात् कोई ४½ हज़ार रुपये साल का हो। पहले साल इस मद में सरकार १ लाख ६० हज़ार रुपये के क़रीब ख़र्च करे। यह रक़म धीरे धीरे, ५१ वज़ीफ़ों के लिए बढ़ा कर २¾ लाख रुपये तक कर दी जाय। सरकारी, गैर-सरकारी और इमदादी सभी कालेजों के छात्रों और उनके अध्यापकों आदि के लिए ये वज़ीफ़े दिये जा सकें।

सो अब गवर्नमेंट की उदारता की बदौलत साल में ५१ तक वज़ीफ़ेदार शिक्षा-प्राप्ति के लिए विदेश जा सकेंगे। गवर्नमेंट ने कमिटी की रिपोर्ट और वज़ीफ़ों की तफ़सील गैज़ट में छाप कर संयुक्तप्रान्त-वासियों से पूछा है—कहो, यह तजवीज़ कैसी है? इसमें भी यदि किसी को कुछ मीन-मेख करना हो तो करे। हम उसकी आलोचना सुनने को तैयार हैं। सब की सुन कर और फिर पूर्ण विचार कर के हम पक्का हुक्म देंगे। अतएव जिसे जो कुछ कहना हो, कहे। जल्दी करे—

"अलं विलम्ब्य त्वरितुं हि वेला"।

[अप्रेल १९२२.

आबकारी के महकमे की कुछ बातें

सरकारी हिसाब-किताबवाला जो साल ३१ मार्च सन् १९२२ को ख़तम हुआ, उसके सम्बन्ध की आबकारी महकमे की रिपोर्ट पढ़कर इन प्रान्तों के गवर्नर ने अकेले ही नहीं, उनके मंत्रि-मण्डल ने भी, सन्तोष प्रकट किया है। रिपोर्ट की जो सरकारी समालोचना निकली है, वह मंत्रियों की भी सलाह से निकली है; उन्हें कौंसिल में बिठाकर गवर्नर महोदय ने उस पर सरकारी विचार प्रकट किये हैं।

सरकार का कहना है कि उसकी सदा ही से यह इच्छा रही है कि लोग नशा-पानी छोड़ दें; मद से मत्त होकर मनुष्यत्व न खोवें; भङ्ग, चरस, अफीम और गाँजे के सेवन से शरीर को मिट्टी न करें। परन्तु उसकी इस सदिच्छा पर कुछ लोगों का सन्देह बना ही रहा। इस सन्देह को भी दूर करने के लिए उसने पिम साहब की अध्यक्षता में एक कमिटी बना दी। उस कमिटी में साहब लोगों के सिवा हिन्दुस्तानियों को भी मेम्बर बनाने की गुंजायश रक्खी गई। इस कमिटी के गोरे और काले मेम्बरों ने खूब जाँच-पड़ताल करके १ सितम्बर १९२१ को अपनी रिपोर्ट सरकार के दरबार में भेज दी। उस रिपोर्ट में मेम्बरों ने बड़े व्यापक और बड़ी उथल-पुथल के परिवर्तन करने की सिफ़ारिशें कीं। ये सिफ़ारिशें क्या थीं, आबकारी महकमे को एक नये ही साँचे में ढालने की तजवीज़ें थीं। पर इस रिपोर्ट से गवर्नमेंट विचलित न हुई। उसने न तो उसे उठाकर ताक पर ही रक्खा, न किसी आलमारी ही में बन्द किया और न उससे अपनी प्रतिकूलता ही प्रकट की। उलटी वह प्रसन्न हुई और मंजूरी दे कर अपनी प्रसन्नता प्रकट कर दी। हाँ, उन तजवीज़ों में ऐसा ही कुछ थोड़ा सा रद्दोबदल करके मंजूरी दी, विशेष नहीं। कमिटी की सिफारिशें बहुत जल्द काम में लाई गईं। आबकारी के महकमे ने जो यह रिपोर्ट

प्रकाशित की है, वह पूर्वोक्त कमिटी की सिफ़ारिशों के अनुसार ही शराब, अफीम और गाँजा-भङ्ग आदि की बिक्री के काम की रिपोर्ट है।

लोगों को सरकार की सदिच्छा पर जो सन्देह होता है, उसका कारण शायद यह हो—सरकारी नीति के विरोधी कह सकते हैं कि सरकार यदि मादक वस्तुयें बेच कर अपनी आमदनी जान बूझ कर नहीं बढ़ाना चाहती, तो ऐसी वस्तुओं की बिक्री वह अमेरिका की तरह बन्द क्यों नहीं कर देती? इसका उत्तर यह हो सकता है कि भाई जान, एक-दम ही बिक्री बन्द कैसे कर दें। बन्द करने से पासियों, कोरियों, मोचियों और डोमों आदि के शादी-विवाह के जलसे जो फीके हो जायँगे, उसका भी तुम लोगों ने कभी खयाल किया है? अफीमचियों को अफीम, गँजेड़ियों को गाँजा, भँगेड़ियों को भंग यदि न मिलेगी तो वे मरेंगे या बचेंगे? इससे ये सब चीजें हम महँगी किये देते हैं। इनकी कीमत हम धीरे धीरे बढ़ाते ही जायँगे। फल यह होगा कि किसी दिन मजबूर होकर ये लोग आप ही नशा करना छोड़ देंगे। यही कारण है जो हमने यह नीति—यह पालिसी—अख़्तियार की है कि इन चीज़ों का खप तो कम हो, पर सरकारी आमदनी जहाँ तक हो सके, ज़ियादह ही होती रहे। क्योंकि करोड़ों रुपये की आमदनी यदि बन्द हो जायगी तो भी तो हानि तुम्हीं लोगों की होगी—तुम्हारे ही अनेक अच्छे अच्छे काम, उदाहरणार्थ शिक्षा-प्रचार और सफ़ाई आदि रुक जायँगे। हमारा क्या? जो कुछ किया जाता है, सब तुम्हारे ही हितार्थ तो किया जाता है।

सरकार के पक्ष की इन दलीलों का खण्डन या उत्तर, मतवालों के विपक्षी पण्डित देवीदत्त दुबे आदि ही दें तो दें। हम तो सरकार से एक निवेदन मात्र, सो भी सादर, करना चाहते हैं। वह यह कि गाँजा, भङ्ग, शराब, अफीम, चरस तो इसी देश की उपज हैं और नशेबाज़ इन्हीं चीज़ों के आदी हैं। यह कोकेन नामक मादक विष तो इस देश का नहीं। कुछ समय पूर्व तक इसका तो नाम तक लोग नहीं जानते थे। यह तो

जर्मनी की उपज है। वहीं से यह सब कहीं जाता है। क्यों फिर यह विष सरकार, पाँच पाँच सेर तक, हर साल अपने गोदाम में रखती, कम हो जाने पर विलायत से मँगाती और हर जिले को बिक्री के लिए भेजती है? सरकार इसका मँगाना बन्द कर दे तो बड़ी कृपा करे।

नये प्रबन्ध के अनुसार मादक वस्तुओं की बिक्री से सरकार को गत वर्ष ३२½ लाख रुपये की आमदनी कम हुई। अर्थात् वह घट कर केवल १ करोड़ ४८¾ लाख रह गई। कोई २२ जिलों में गाँजे और चरस पर सरकार ने अपना महसूल ३५) सेर, और भङ्ग पर ५) सेर कर दिया। फिर भी गँजेड़ियों और भँगेड़ियों ने सरकार का घर खूब ही भरा। पिछले साल से लाख सवा लाख रुपया उसे रिपोर्ट के साल अधिक मिल गया। वजन में ये चीजें बिकीं तो कम, परन्तु आमदनी घटने के बदले बढ़ गई। सरकारी नीति खूब सफल हुई। उधर विदेशी शराब से भी अधिक आमदनी हुई। हाँ, अफीम ५५) सेर हो जाने से कुछ थोड़ी सी घटी का कारण हो गई; कोई छः सात हज़ार रुपये का धक्का उसने दिया। पर सरकार की सबसे बड़ी हानि देशी शराब ने की। कोई ३३ लाख रुपये उसने कम कमाये। इसका कुछ कारण तो पूर्वी जिलों में असहयोगियों का मचाया हुआ ऊधम समझना चाहिए; और कुछ फसल अच्छी न होने, अतएव टके पास न रहने से पियक्कड़ों का प्यासे रह जाना समझना चाहिए। देशी शराब बहुत महँगी हो जाने से पासी लोग लुक-छिपकर अपने घर ही में महुवे की शराब बनाने लगे हैं। इस कारण से पकड़े जाकर सजा भी पा रहे हैं।

नये प्रबन्ध के अनुसार शराब की बहुत सी दुकानें तोड़ दी गई हैं। मेले-ठेले में भी शराब नहीं बिकती। होली के दिनों में भी दुकानें बन्द रखी जाती हैं। बेचने की इजाजत भी अब बहुत समझ बूझ कर मोतबिर आदमियों को दी जाती है। देखिए, अगले साल सरकार की समुदार नीति कहाँ तक सफल होती है। [फरवरी १९२३.

म्यूनिसिपैलिटियों के कारनामे

देश-भक्तों का कहना है कि स्वराज्य अर्थात् स्वतन्त्रता हो तो नरक में भी रहना अच्छा है; और पर-राज्य अर्थात् परतन्त्रता हो तो स्वर्ग में भी रहना अच्छा नहीं। मतलब यह कि स्वराज्य के बराबर सुख नहीं और पर-राज्य में रहने के बराबर दुःख नहीं। इसी से स्वाधीनता की इतनी महिमा है और इसी से स्वराज्य-प्राप्ति के लिए, कुछ समय से, इस देश में बड़ी बड़ी चेष्टायें होने लगी हैं। बात यहाँ तक पहुँची है कि स्वराज्य की स्थापना के लिए वर्तमान गवर्नमेंट के साथ असहयोग किया जा रहा है और कालान्तर में उसके लगाये गये कर तक न देने की तैयारियाँ हो रही हैं।

हर काम के लिए थोड़ी-बहुत योग्यता अवश्य दरकार होती है। खेती करनेवाला यदि खेती का काम नहीं जानता, व्यापार करनेवाला यदि व्यापार-कौशल नहीं रखता, अध्यापक बननेवाला यदि अध्यापन-कार्य्य नहीं कर सकता, तो उसे अपने काम में कभी सफलता नहीं हो सकती। इसी तरह जो मनुष्य अपने घर का भी साधारण काम-काज अच्छी तरह नहीं कर सकता, वह भला जमींदारियों का प्रबन्ध कैसे कर सकेगा। उसे दस-पाँच मौज़ों की भी ज़मींदारी यदि मिल जाय तो वह उसे चौपट किये बिना न रहेगा। और यदि कहीं उसे एक तहसील, एक ज़िले या एक सूबे का आधिपत्य मिल जाय तो अनर्थ की परम्परा ही उपस्थित हो जायगी। ऐसी दशा में दुर्व्यवस्था और दुर्गति के सिवा और कुछ न होगा।

गवर्नमेंट ने यद्यपि म्यूनिसिपैलिटियों का कानून बना दिया है और उसके कर्तव्यों का नियमन कर दिया है, तथापि एक हद के भीतर उनके मेम्बर अपना काम-काज करने के लिए स्वतन्त्र हैं। अर्थात् गवर्नमेंट ने उन्हें स्थानिक स्वराज्य दे रक्खा है। परन्तु इस अत्यन्त छोटे स्थानिक स्वराज्य को वे लोग किस तरह चलाते हैं, यह देखकर बड़ा दुःख होता है। मामूली समझ का भी आदमी यह जानता है कि आमदनी से अधिक खर्च न करने ही से उसका घर-बार बिकने से बच सकता है। चाहिए तो यह कि आमदनी से ख़र्च सदा कम ही हो, तथापि वह उससे बढ़ना तो कदापि न चाहिए। परन्तु यह इतनी मोटी बात कितनी ही म्यूनीसिपैलिटियों के ध्यान में नहीं आती। वे लाखों रुपये की कर्ज़दार हैं। किसी किसी ने तो दस-दस बीस-बीस दफे गवर्नमेंट से कर्ज लिया है, जिसके बोझ से वे अब तक दब रही हैं। किसी ने सोचा, अपने शहर में नल द्वारा पानी पहुँचाना चाहिए। पर रुपया पास नहीं। अच्छा, लो कर्ज़। किसी ने कोई बाज़ार बनवाना चाहा। अच्छा, लो कर्ज़। किसी ने शहर की गलियों में पत्थर जड़ाना चाहा। अच्छा लो कर्ज़। इस सूबे में कुछ कुछ यही हाल हो रहा है। बिना कल के पानी और बिना पत्थर की पटिया जड़ी गलियों के लोगों को कल ही नहीं। म्युनिसिपैलिटी का चाहे बाल बाल बिक जाय, चाहे सब से अधिक आवश्यक शिक्षा-दान का कुछ भी प्रबन्ध न हो सके, पर कल का पानी ये ज़रूर पिलावेंगे। जैसे अब तक हमारे बाप-दादे वाटर-वर्क्स के बिना प्यासे ही मर गये हों। ये लोग अर्थ-शास्त्र के इस मूल सिद्धान्त के बिलकुल ही क़ायल नहीं—

इदमेव हि पाण्डित्यमिदमेव विदग्धता।
अयमेव परो धर्म्मो यदायाच्चाधिको व्ययः॥

और क़ायल हों भी कैसे, कितनी ही म्यूनीसिपैलिटियों के अनेक मेम्बरों

के उदार-हृदयों में स्वार्थ का साम्राज्य जो है। वह उन्हें कुछ करने भी दे। नरोत्तमनगर की म्यूनीसिपैलिटी का एक कल्पित उदाहरण लीजिए—

इस म्यूनीसिपैलिटी के चेयरमैन (जिसे अब कुछ लोग कुर्सी-मैन भी कहने लगे हैं) श्रीमान् बूचा शाह हैं। बाप-दादे की कमाई का लाखों रुपया आप के घर भरा है। पढ़े-लिखे आप राम का नाम ही हैं। चेयरमैन आप सिर्फ़ इसलिए हुए हैं कि अपनी कारगुज़ारी गवर्नमेंट को दिखा कर आप राय बहादुर हो जायँ, लाट साहब से हाथ मिलाने का सौभाग्य आप को प्राप्त हो जाय, और खुशामदियों से आप ८ पहर ६४ घड़ी सदा घिरे रहें। म्यूनीसिपैलिटी का काम चाहे चले, चाहे न चले—आपकी बला से। इसके एक मेम्बर हैं, बाबू बख्शिशराय। आपके साले साहब ने फ़ी रुपया तीन चार पंसेरी का भूसा म्यूनीसिपैलिटी को देने का ठीका ले रक्खा है। आपका पिछला बिल १० हज़ार रुपये का था। पर कूड़ागाड़ियों के बैलों और भैंसों के बदन पर सिवा हड्डी के मांस नज़र नहीं आता। सफ़ाई के इन्सपेक्टर हैं लाला सतगुरप्रसाद। आपकी इन्सपेक्टरी के ज़माने में, हिसाब से कम तनख्वाह पाने के कारण, मेहतर लोग तीन दफ़े हड़ताल कर चुके हैं। नजूल जमीन के एक टुकड़े का नीलाम था। सेठ सर्वसुख उसके ३ हज़ार देते थे। पर उन्हें वह टुकड़ा न मिला। उसके छः महीने बाद म्यूनीसिपैलिटी के मेम्बर पण्डित सत्य-सर्वस्व के ससुर के साले के हाथ वही ज़मीन १ हजार पर बेच दी गई। किया क्या जाता? उस समय और किसी ने इससे ज़ियादह दाम ही न लगाए। इस म्यूनीसिपैलिटी की सीमा में १० मदरसे हैं। उनकी देख-भाल का काम एक मेम्बर साहब के सिपुर्द है। आपका शुभ नाम है—ठाकुर वंशपाल सिंह। एक बार एक बैठे-ठाले ने पता लगाया तो मालूम हुआ कि कुल ३० मुदर्रिसों में से २९ मुदर्रिस ठाकुर साहब के रिश्तेदार निकले—कुछ मातृ-पक्ष के, कुछ पितृ-पक्ष के।

इस दशा में भी यदि म्यूनीसिपैलिटियों का काम सुचारु रूप से

चल जाय तो समझना चाहिए कि सूर्य्य शीतल हो गया और चन्द्रमा आग उगलने लगा। यह हाल सभी म्यूनीसिपैलिटियों का नहीं, ग़नीमत इतनी ही है।

हमारे सामने, इस समय, म्यूनीसिपैलिटियों की वार्षिक रिपोर्ट पड़ी है। उसका सम्बन्ध उस वर्ष से है जो ३१ मार्च १९२२ को खतम हुआ था। उसे गवर्नमेंट ही ने प्रकाशित किया है। उसके अनुसार इस सूबे में ८५ म्यूनीसिपैलिटियाँ हैं। उनमें से २८ अर्थात् एक तृतीयांश क़र्ज़ में डूबी हुई हैं। अब तक वे करोड़ों रुपया क़र्ज़, विशेष करके गवर्नमेंट से, ले चुकी हैं। ३१ मार्च १९२१ में इस कर्ज़ का टोटल १ करोड़ २ लाख ३० हजार रुपया था। १९२२ में १४ लाख ४५ हज़ार रुपया नया क़र्ज़ लिया गया। इस तरह क़र्ज़ की कुल रकम का टोटल १ करोड़, १६ लाख, ७५ हज़ार रुपया हो गया। उस में से दिया गया केवल ६ लाख २० हज़ार। अतएव १ करोड़ १० लाख ५५ हज़ार देना बाक़ी रहा। कुछ म्यूनीसिपैलिटियाँ तो ऐसी हैं, जो लिये गये क़र्ज़ का सालाना सूद तक अदा नहीं कर सकतीं। अकेली इस मद में उन्हें कोई १ लाख रुपया, ३१ मार्च १९२२ को, देना बाक़ी था। यह है स्वराज्य के दावीदार हम लोगों की कार-परदाज़ी। जो म्यूनीसिपैलिटी जितनी ही बड़ी है, अतएव जिसकी आमदनी जितनी ही अधिक है, वह उतना ही अधिक क़र्ज़ लेकर अपना काम चलाती है। बनारस, इलाहाबाद, कानपुर, आगरा, लखनऊ, मन्सूरी आदि की म्यूनीसिपैलिटियों ने क़र्ज़ लेने में बड़ी ही बहादुरी दिखाई है। बनारस १३ दफ़े, कानपुर ९ दफ़े, इलाहाबाद ८ दफ़े, आगरा २० दफ़े, लखनऊ २३ दफ़े, और मन्सूरी २४ दफ़े क़र्ज़ ले चुकी है।

म्यूनीसिपैलिटी के मेम्बर बनने में तो लोग बड़ी दिलचस्पी दिखाते हैं, पर मीटिङ्ग में उपस्थित होने की बहुत कम लोग कृपा करते हैं। रिपोर्ट के साल २१९ मीटिङ्गों में इतने कम मेम्बर आये कि कोरम ही पूरा न

हुआ। इससे काम ही न हो सका। कोरम पूरा भी होता है तो भी सब न सही, अधिकांश भी मेम्बर नहीं आते। १५ बोर्डों की औसत हाज़िरी तो ५० फ़ी सदी से भी कम पड़ी। इससे स्पष्ट प्रकट है कि बहुत लोग सिर्फ़ मेम्बर बन जाने ही को सब कुछ समझते हैं; काम हो, चाहे भाड़ में जाय।

रिपोर्ट के साल म्यूनीसिपैल्टियों की आमदनी १ करोड़ १२ लाख से बढ़ कर १ करोड़ २६½ लाख हो गई। और खर्च? वह भी बढ़ा। वह एक करोड़ १८¾ से १ करोड़ ४७¼ लाख हो गया। समझे साहब! वह इतना बढ़ा कि आमदनी से कोई २१ लाख अधिक हो गया। आप पूछेंगे कि फिर काम कैसे चलेगा या चला होगा? अजी, उसकी क्या चिन्ता? क़र्ज़ लेने या सरकार के दरबार में भिक्षा माँगने से जैसे अब तक काम चलता आया है, वैसे ही अब भी चलेगा। सरकार भी तो जी खोल कर क़र्ज़ लेती है और अब तक अरबों रुपये ले भी चुकी है। म्यूनिस्पैलिटियाँ भी तो उसी की चेली-चाटियाँ हैं।

रिपोर्ट में उल्लिखित और बातों पर कुछ कहने की विशेष आवश्यकता नहीं। इसलिए कि जो अपना ख़र्च आप ही नहीं सँभाल सकता, वह सड़कें बनवा कर, सफ़ाई रख कर, दवा-पानी पहुँचा कर, शिक्षा-प्राप्ति के साधन सुलभ कर के दूसरों को कहाँ तक फ़ायदा पहुँचा सकेगा। मरता क्या न करता। लष्टम-पष्टम किसी तरह ये काम हो रहे हैं।

जब तक म्यूनीसिपैलिटियों में सुशिक्षित, सुयोग्य, कार्य्यपटु और निःस्वार्थ मनुष्य मेम्बर बन कर न आयँगे, तब तक उनकी उन्नति न होगी। अभी हाल में जो नया चुनाव हुआ है, उसमें कांग्रेस की तरफ़ से खड़े हो कर और बड़े बड़े आस्फालन तथा प्रचारण करके अनेक लोग उनमें पहुँचे हैं। परन्तु उनमें भी कितने ही मनुष्य ऐसे हैं जिनसे विशेष आशा नहीं। किसी के पास समय नहीं, किसी में योग्यता नहीं, किसी में कार्य-दक्षता नहीं, किसी ने काफ़ी शिक्षा नहीं पाई। सो जो दोष अब तक के

मेम्बरों में थे, वही इन नये मेम्बरों में से भी कुछ में विद्यमान हैं। तथापि कई म्यूनिसिपैलिटियों के नये मेम्बरों ने अपनी योग्यता का अच्छा परिचय देना आरम्भ किया है। उदहरणार्थ, बनारस और इलाहाबाद की म्यूनिसिपैलिटियों के मेम्बरों ने। आशा है, इस बार के संघटन से पहले की बिगड़ी हुई अनेक म्यूनिसिपैलिटियों में से कुछ की दशा सुधर जायगी।

मुख्य बात यह है कि जब तक योग्य जन निःस्वार्थ भाव से प्रेरित हो कर म्यूनिसिपैलिटियों में न जायँगे और अपना समय ख़र्च करके श्रमपूर्वक काम न करेंगे, तब तक विशेष फल-प्राप्ति की आशा कम है।

[अगस्त १९२३.

संयुक्त-प्रान्त की आबादी का लेखा

कौटिल्य के अर्थ-शास्त्र में यह तो लिखा मिलता है कि उस ज़माने में भी कभी कभी मनुष्य-गणना होती थी, पर इस बात का पता नहीं चलता कि किस तरह के नक़शे बनाये जाते थे और उनकी सहायता से किन किन विषयों की ज्ञान-प्राप्ति की चेष्टा की जाती थी। इसका भी पता नहीं कि कितने काल बाद यह गणना होती थी और यथा-नियम और यथा-समय होती भी थी या नहीं। आज-कल के सभ्य और सुशिक्षित देश इस गणना-कार्य्य को जिस ढंग और जिस योग्यता से करते हैं, उस ढंग और उस योग्यता से यह काम पुराने ज़माने में न होता रहा होगा; क्योंकि तब आज-कल जैसे साधन भी न थे और यह काम उतना महत्त्वपूर्ण भी न समझा जाता था। मनुष्य-गणना की वर्तमान प्रणाली तो सर्वथा पश्चिमी देशों ही की कृपा से अस्तित्व में आई जान पड़ती है। उसने तो अब कला का जैसा रूप धारण कर लिया है। वह निर्दिष्ट कालोपरान्त, एक ही दिन (दिन क्यों रात को), एक ही समय में, सर्वत्र होती है। उसके नक़शे ऐसे बनाये जाते हैं जिनकी ख़ानापुरी होने से और अनेक विषयों के सिवा स्त्री-पुरुषों की, बच्चों, वयस्कों और बूढ़ों की, तथा सभी उम्र की विधवाओं और रँडुवों तक की संख्या मालूम हो जाती है। कितने स्त्री-पुरुष और बच्चे साक्षर हैं और कितने निरक्षर तथा कितने शिक्षा पा रहे हैं; सब तरह के पेशे करनेवाले कितने हैं; हर जाति और हर धर्म्म के अनुयायियों की संख्या कितनी है; इस तरह की और भी सैकड़ों बातें उनसे मालूम हो जाती हैं। इन बातों के ज्ञान से देश, प्रान्त या ज़िले की यथार्थ अवस्था

उसी तरह आँखों के सामने आ जाती है जिस तरह कि आईने के सामने रक्खी जाने से किसी चीज़ का प्रतिबिम्ब तद्वत् दिखाई देता है।

इस देश की गवर्नमेंट हर दस साल बाद मनुष्य-गणना करती है। इसके लिए बहुत पहले से बड़े बड़े आयोजन होते हैं। प्रान्त प्रान्त में इसके दफ्तर खुलते हैं। फिर उन सब के ऊपर एक और दफ्तर खुलता है, जो हर प्रान्त के नक़शों और रिपोर्टों का अध्ययन करके सारे देश की मनुष्य-गणना का फल प्रकाशित करता है। हर प्रान्त, हर ज़िले, यहाँ तक कि हर मौजे की गणना का लेखा तैयार किया जाता है। वह सब बड़ी बड़ी पुस्तकों के रूप में प्रकाशित होता है। प्रान्तीय पुस्तकों के आकार बड़े और ज़िलों की पुस्तकों के छोटे होते हैं। सारे भारत के लेखे की पुस्तकें तो और भी बड़ी और मोटी होती हैं। वे कई जिल्दों में निकलती हैं। रिपोर्टें अलग निकलती हैं, नक़शे अलग।

पिछली मनुष्य-गणना, दस वर्ष बाद, मार्च १९२१ में हुई थी। उसकी रिपोर्टें अभी तक अलग तो शायद नहीं निकलीं, पर उसका फल इस प्रान्त की शासन-रिपोर्ट में, अभी हाल ही में, प्रकाशित हुआ है। उसमें अपने प्रान्त की दशा का नहीं, दुर्दशा का, बड़ा भीषण चित्र दिखाया गया है। उसे देखकर रोमाञ्च हो आता है। इसलिए कि दस वर्ष में यहाँ की आबादी बढ़ने के बदले घट गई। और घटी भी थोड़ी नहीं, लाखों की संख्या में घट गई! जिस दिन मनुष्य-गणना हुई थी, उस दिन इस प्रान्त की आबादी ४,६५,१०,६६८ थी; अर्थात् १० वर्ष पूर्व, १९११ ईसवी में, जितनी थी, उससे १४,८६,६९६ कम! न कोई युद्ध हुआ, न कोई बहुत व्यापक दुर्भिक्ष ही पड़ा। फिर इतनी कमी क्यों? कमी का कारण सरकार ने बताया है रोग। १९१८ ईसवी के अकेले इन्फ्लुयंजा ही ने कोई २८ लाख मनुष्य मार डाले। हैजा, प्लेग, बुखार आदि ने भी कहर मचाया। फिर मनुष्य-संख्या घटे न तो क्या हो। बेचारी स्त्रियों पर तो और भी आफ़त आई। पहले प्रति एक हजार पुरुषों

के पीछे स्त्रियों का औसत ९१५ था। अब ९०९ ही रह गया। सो पुरुषों की संख्या यहाँ यों ही अधिक थी, अब और भी अधिक हो गई। शायद अब एक हज़ार पुरुषों में कम से कम १०० को अविवाहित ही रहना पड़ेगा; क्योंकि स्त्रियों की संख्या ही उतनी कम हो गई है। मनुष्यों की सबसे अधिक कमी इस प्रान्त के पश्चिमी ज़िलों में हुई। ३६ ज़िलों की आबादी कम हो गई। केवल १२ की बढ़ी।

मनुष्य-गणना के नकशों से मालूम हुआ कि यहाँ रँडुवे पुरुष और कुँवारी लड़कियाँ तो अधिक हैं, विवाहित स्त्री-पुरुष कम। कारण? अनुमान तो यही कहता है कि घर में बन्द रहने, दवा-पानी का ठीक प्रबन्ध न हो सकने और निर्धनता के कारण पौष्टिक भोजन कम मिलने से विवाहिता स्त्रियों के प्राण गये; अतएव रँडुवे अधिक हो गये। रही कुँवारी लड़कियाँ, सो कठोर वैवाहिक प्रथाओं और धन की कमी ने उन्हें गृहस्थाश्रम में प्रवेश पाने से रोक रक्खा है।

इस इतने प्राण-नाश का हाल सुनकर, पाठक शायद पूछ बैठें कि सरकार तो अपने को जनता का माँ-बाप कहती है। उसने सब लोगों के इलाज का ठीक ठीक प्रबन्ध क्यों न किया? प्रबन्ध ठीक होने से कुछ रोगी तो अवश्य ही बच जाते। इसका उत्तर यह है कि सरकार किस किसकी दवा का प्रबन्ध करे? क्या वह गाँव गाँव अस्पताल खोले? उसके पास इतना रुपया कहाँ? वैद्यों और हकीमों के इलाज की प्रणाली वैज्ञानिक नहीं। उससे मरने का ख़तरा अधिक है, जीने की आशा कम। अतएव वह बेचारी लाचार है। लोग मरें तो अपने दुर्भाग्य से, और जियें तो अपने सौभाग्य से। इस पर आप कह सकते हैं कि जो यह दशा है—जो वह जनता के रोग-नाश का यथोचित प्रबन्ध नहीं कर सकती—तो फिर इस प्रान्त पर शासन क्यों करती है? क्यों नहीं वह शासन का भार और किसी को अपने ऊपर लेने देती? यह सवाल आपका है तो माकूल, पर जवाब इसका यदि कुछ हो सकता है तो वह है—हः हः हः हः हः।

अच्छा तो और बातें सुनिए—

नीचे यह दिखाया जाता है कि १९११ और १९२१ में फ़ी दस हज़ार आदमियों में से भिन्न भिन्न धर्मों के अनुयायी कितने थे।

	१९११	१९२१
हिन्दू	८,४७८	८,४४८
मुसलमान	१,४३८	१,४४६
क्रिश्चियन	३८	४४
आर्य	२९	४४

रोग आदि के कारण हिन्दुओं की जितनी कमी होनी चाहिए थी, उससे भी अधिक कमी हो गई। वह मामूली कमी से भी ९ फ़ी सदी अधिक है। इसका कारण रिपोर्ट के लेखक यह बताते हैं कि हिन्दुओं में से कुछ तो आर्य्य-समाजी हो गये और कुछ क्रिश्चियन। हैं भी तो हिन्दू बहुत ज़ियादह। चखने दीजिए और मजहबों का भी मज़ा। पर मुश्किल तो यह है कि ये लोग और मज़हबवालों को अपने मजहब का मज़ा नहीं चखने देते। यह अनुदारता अथवा स्वार्थपरता अच्छी नहीं। हिन्दू शायद अपनी "वसुधैव कुटुम्बकम्" वाली नीति सब के लिए उपयोगिनी नहीं समझते। अच्छा, ये आर्य्य-समाजी अपने को हिन्दुओं से अलग क्यों बताते हैं? क्या हिन्दुओं में निराकार के उपासक और वेदों के भक्त नहीं पाये जाते?

प्रति एक हज़ार मनुष्यों में से कितने १९११ में साक्षर थे और १० वर्ष बाद, कितने, १९२१ में, इसका हिसाब लीजिए—

	१९११	१९२१
पुरुष	११	६५
स्त्री	५	६
स्त्री पुरुष दोनों मिला कर	३४	३७

सो लाखों क्यों करोड़ों रुपया अधिक खर्च करने पर भी, दस साल में, नरों की फ़ी एक हज़ार की आबादी में केवल ४ अधिक साक्षर हुए। वृद्धि खूब रही! घोंघे की चाल को भी मात कर दिया! और स्त्रियों की शिक्षा-वृद्धि का तो क्या कहना है। दस साल में फ़ी हज़ार में ५ से ६! हिन्दुओं ने मुसलमानों की अपेक्षा शिक्षा-प्राप्ति में चावल भर अधिक क़दम बढ़ाया। फ़ी एक हज़ार मुसलमानों में जहाँ ३५ मुसलमान शिक्षित हैं, वहाँ हिन्दू ३८ हैं। बस, इतना ही। हाँ, अँगरेज़ी पढ़ने में लोगों ने विशेष दिलचस्पी दिखाई। १९११ में दस हजार पुरुषों में केवल ४९ अँगरेज़ीदाँ थे; पर अब हैं ६६।

एक और बात जो इस रिपोर्ट से ज्ञात हुई, वह यह है कि इस प्रान्त में फ़ी सदी ७५ आदमियों की जीविका का निर्वाह खेती से होता है।

[अगस्त १९२३.

मनुष्य-गणना के सुपरिंटेंडेंट और किसानों की चित्र-शाला

संयुक्त-प्रान्त की गवर्नमेंट ने पिछली, १९२१ ईसवी की, मनुष्य-गणना अर्थात् मर्दुम-शुमारी की रिपोर्ट भेजने की कृपा की है। यह रिपोर्ट पहले की रिपोर्ट से कुछ छोटी है, तथापि इतनी छोटी भी नहीं कि यहाँ उसकी विस्तृत आलोचना की जा सके। हाँ, रिपोर्ट के महत्त्व को देखते हुए, उसकी कुछ बातों पर हमें, थोड़े में, अपना वक्तव्य अवश्य ही प्रकट करना है। कारण इसका और कुछ नहीं, केवल कर्तव्य-पालन। आज, इस नोट में, रिपोर्ट के लेखक एडी साहब, आई० सी० एस० की एक ही आध बात पर हमें कुछ निवेदन करना है। इस प्रान्त की मनुष्य-गणना के काम के प्रधान निरीक्षक (सुपरिंटेंडेंट) आप ही थे।

समय समय पर मर्दुम-शुमारी करने से बड़े लाभ हैं। इस काम से सम्बन्ध रखनेवाले नाना प्रकार के नकशे तैयार करने पड़ते हैं। वे सभी प्रायः अङ्कमय होते हैं। उनमें अंकों ही का आधिपत्य रहता है; मज़मून कुछ नहीं रहता। पर उन्हीं के आधार पर बड़ी बड़ी रिपोर्टें तैयार करनी पड़ती हैं और प्रान्तवासियों के कला-कौशल, पेशे, शिक्षा, व्यापार, तन्दुरुस्ती, जन्म-मृत्यु, ब्याह-शादी, निर्धनता-सधनता, शिक्षा और साक्षरता आदि का पता लगाना पड़ता है। पता लगानेवाला यदि प्रान्तवासियों की सामाजिक, धार्म्मिक, राजनैतिक आदि सभी स्थितियों से अच्छी तरह परिचित हुआ, तभी वह अपने अङ्गीकृत या प्रदत्त कार्य का निर्वाह सुचारु रूप से कर सकता है। जो मनुष्य देहात में देहातियों के साथ मिल जुल कर साल दो साल भी नहीं रहा, वह यदि उनकी

सामाजिक स्थिति पर बड़े बड़े निबन्ध लिखने बैठे तो क्या कभी सम्भव है कि वह भूलें न करे? कल्पना कीजिए कि सालोमन नामक टापू में भारतवासियों का राज्य है। महिमारञ्जन मिश्र या मौलवी ज़रग़ामहैदर वहाँ एक ज़िले के कलेक्टर हैं। वे अपने सदर मुक़ाम पर, बस्ती से दूर, एक बँगले में रहते हैं। मामले-मुक़द्दमे के सम्बन्ध में उनके इजलास में जाने अथवा बँगले पर सलाम करने के लिए आनेवालों के सिवा टापू के अन्य निवासियों से मिलने-जुलने का उन्हें और कभी मौक़ा नहीं मिलता। हाँ, जाड़ों में, दौरे के समय भी, उन्हें वहाँवालों के दर्शन हो जाते हैं। यदि इतने ही तजरिबे के बल पर मिश्र जी या मौलवी साहब पर उस टापू में रहनेवालों के रीति-रस्म, खेल-तमाशे, खान-पान तथा और भी सामाजिक बातों पर निबन्ध लिखने का भार डाल दिया जाय तो यह काम करना तो उन्हें ज़रूर ही पड़ेगा, क्योंकि नौकर ठहरे; पर वे उसे कहाँ तक अच्छी तरह कर सकेंगे और कहाँ तक भूलों और भ्रमों से बच सकेंगे, यह बताने की ज़रूरत नहीं। कभी कभी ईश्वरी निर्देश बिलकुल ही उल्टा होता है—जिसे जो काम न करना चाहिए, उसी को वह काम करना पड़ता है, अथवा उसी से वह कराया जाता है। अपने सूबे के हाकिम एडी साहब को ज़िले की हुकूमत छोड़ कर ऐसा ही काम करना पड़ा है।

इस सूबे की आबादी (बनारस, रामपुर और टेहरी—गढ़वाल रियासतों की आबादी मिला कर), १८ मार्च १९२१ को, ४,६५,१०,६६८ थी। अर्थात् १० वर्ष पहले, १९११ में, जितनी आबादी थी, उससे १४ लाख ३२ हज़ार कम हो गई थी। चाहिए तो यह था कि उस साल की अपेक्षा १४ लाख अधिक हो जाती, पर अधिक होने के बदले उतनी घट गई। इसका मतलब यह हुआ कि इस प्रान्त ने गत दस वर्षों में कोई २८ लाख ४२ हज़ार आदमी खो दिये। उनमें से अकेले इनफ्लुयंजा ही २८ लाख आदमी खा गया। इस पर सुपरिंटेंडेंट साहब कहते हैं

कि जो होना था, सो तो हो ही गया। पर अब घबराने की बात नहीं। यदि कोई दैवी दुर्घटना न हो गई तो आबादी अब आगे बढ़ती ही जायगी। आपकी राय में घटने के नहीं, बढ़ने ही के अब सभी लक्षण पाये जाते हैं। इस आश्वासन के लिये आपको धन्यवाद। मृत्यु कम, जन्म अधिक होने से आबादी ज़रूर ही बढ़ती है। पर प्लेग, हैज़ा, इनफ्लुयंजा यदि टूट पड़ा तो कोई क्या कर सकता है। उनसे बचने का कोई उपाय न तो एडी साहब ही ने बताया और न शायद सरकार ही को मालूम। क्योंकि यदि मालूम होता तो उसे सरकार ज़रूर ही काम में लाती। मृत्यु रोकना सरकार के बस की बात नहीं। दवा-पानी का प्रबन्ध करना अवश्य है। सो उसने हर ज़िले के सदर मुक़ाम ही में नहीं, कहीं कहीं अन्यत्र भी शफ़ाख़ाने खोल दिये हैं। वह और करे तो क्या करे? गाँव गाँव डाक्टर रखना तो सम्भव ही नहीं। इधर वैद्य, हकीम वैज्ञानिक चिकित्सा के ज्ञान में कोरे ठहरे। अतएव "स रक्षिता रक्षति यो हि गर्भे।"

मनुष्य-गणना के सुपरिंटेंडेंट एडी साहब ने, नक़्शों के आधार पर, यह निश्चय किया है कि इस प्रान्त में सब कहीं एक-सी आबादी नहीं। कहीं कम है, कहीं ज़ियादह। किसी किसी ज़िले में बहुत दूर दूर बस्तियाँ हैं; जैसे नैनीताल, गढ़वाल, झाँसी आदि में; और कहीं कहीं बहुत ही पास पास हैं; जैसे जौनपुर, बनारस, गोरखपुर आदि में। पहले प्रकार के ज़िलों में फ़ी मील मुरब्बा सौ दो सौ आदमियों से अधिक का परता नहीं पड़ता; और दूसरे प्रकार के ज़िलों में सात आठ सौ आदमियों का परता पड़ता है। आबादी की इस विरलता और घनता के ख़याल से सुपरिंटेंडेंट साहब की राय है कि अभी इस प्रान्त में और भी बहुत से आदमियों के रहने के लिए जगह है; देशान्तर करने की अभी जल्द ज़रूरत न पड़ेगी। ७५ फ़ी सदी आदमियों की रोटी यद्यपि काश्तकारी से चलती है, तथापि इस व्यवसाय से पेट पालने के लिए अभी काफ़ी गुंजायश है। आपका कथन है कि अकबर के ज़माने में जो हालत इन लोगों तथा अन्य साधारण जनों

की थी, उससे अब कहीं अच्छी है। उस ज़माने में इन लोगों को तन ढकने के लिए कपड़ा और पैरों की रक्षा करने के लिए जूता बहुधा नसीब न होता था। पर अब होता है। अब तो ये लोग पीतल के बर्तन काम में लाते हैं और कम्बल ओढ़ते हैं! आप की राय है कि यहाँवाले हैं भी बड़े दमदार। जो कुछ मिल जाता है, उसी पर सन्तोष कर लेते हैं। अँगरेज़ों के बच्चों के लिए खिलौनों की एक पल्टन (खिलौनेवालों की पूरी दूकान की दूकान) दरकार होती है। इन लोगों के बच्चों के लिए मिट्टी का एक ही आध खिलौना बस होता है। वह भी यदि टूट गया तो बच्चे धूल-मिट्टी के गढ़ बना कर ही खेलते रहते हैं। यह सब लिख कर भी आपने इन लोगों की वर्तमान खुश-हाली पर बहस की है और इनके कम्बलों और पीतल के लोटे-थालियों का उल्लेख किया है। यही नहीं, आपने इनके आमोद-प्रमोद की सामग्री भी, अपनी कल्पना के बल पर, बहुत बड़ी मिक़दार में मुहय्या कर दी है। आपके वचन ये हैं—

"The amusement which the peasantry gets out of attendance at the Law courts and Railway travelling—these two diversions are to the Indians what the picture palace is to the English proletariat is entirely new since Akbar's day."

सो आप की राय में जो मज़ा विलायत के आदमी चित्रशालाओं में पधार कर प्राप्त करते हैं, वही मज़ा यहाँ के किसान रेल के द्वारा सफ़र करके और कचहरियों में मारे मारे फिर कर प्राप्त करते हैं। अकबर के समय में मनोरञ्जन की यह सामग्री सचमुच ही न थी। इसे प्रस्तुत कर देनेवालों को सैकड़ों साधुवाद और हज़ारों आशिर्वाद।

बड़े ही अफ़सोस की बात है कि इस सूबे में ज़िले की हाकिमी कर के और हज़ारों देहातियों की दुर्दशा का चित्र आँखों देख कर भी एड्डी साहब कचहरी जाना और रेल से सफ़र करना दीन-दुखिया किसानों के लिए आमोद–प्रमोद और मनोरञ्जन में दाखिल समझते हैं और इन

बातों को वे उन के मुतमौव्वल होने का प्रमाण मानते हैं। भेड़-बकरियों की तरह रेल के डब्बों में भरा जाना, धक्के खाना, और ५) की दीवानी नालिश के लिए, खेती-किसानी का काम छोड़ कर, महीनों कचहरियों में मारे मारे फिरना भी यदि मनोरञ्जन और चित्र-दर्शन में दाखिल समझा जा सकता है तो २४ घण्टे में एक बार रूखी सूखी मकई की रोटी से पेट भर लेना शायद मोहनभोग का मज़ा लूटने में भी दाखिल समझा जायगा। साहब यदि कभी दस पाँच किसानों से भी पूछने का कष्ट उठाते तो उन्हें मालूम हो जाता कि आप की इन कल्पित सामग्रियों को वे मनोरञ्जन का कितना बड़ा साधन समझते हैं। रेल की मुसाफिरी और कचहरियों के कष्टों को मनोरञ्जन बताना—"क्षते क्षारावलेपनम्" के सिवा और कुछ नहीं। किसानों को यदि खाने को नसीब न हो—यदि वे साग-पात खा कर या चबेना चबा कर—किसी तरह अपने हाड़-चाम को बर-करार बनाये रहें तो यह उनकी सहनशीलता समझी जाय! यह न समझा जाय कि "मरता क्या न करता!" मुडी साहब ने अपनी रिपोर्ट बड़ी योग्यता से लिखी है। आपने किसी किसी विषय में हमदर्दी भी दिखाई है; और जो सिद्धान्त निकाले हैं, वे भी बहुधा ठीक मालूम होते हैं। परन्तु कहीं कहीं आपने जो व्यङ्ग वचन कहे हैं अथवा व्यङ्ग्य-पूर्ण हास्य किया है, वह बहुत खटकता है। किसानों और सर्वसाधारण जनों की खुशहाली का जो अन्दाज़ा आपने लगाया है, उसका आधार मोरलैंड साहब की लिखी हुई एक पुस्तक है। उसमें अकबर के समय का वर्णन है। सोचने की बात है कि इस प्रान्त के निवासियों की असली हालत जानने का प्रत्यक्ष मौका मिलने पर भी जब आप रेलवे की मुसाफ़िरी को तमाशबीनी में दाख़िल समझते हैं, तब सैकड़ों वर्ष पहले की बातें लिखनेवाले मोरलैंड साहब का कथन भला कैसे विश्वसनीय माना जा सकता है? अकबर के समय में लोग प्रायः नङ्गे बदन और नङ्गे पैर घूमते थे, पर अब यह बात नहीं। अतएव

तब से इस समय सभ्यता और सम्पत्ति की वृद्धि हो गई है, यह कल्पना सर्वथा भ्रमपूर्ण है। तब इस प्रान्त की आबादी २ करोड़ थी, अब ४½ करोड़ से अधिक है। तब ज़मीन का लगान आज-कल की अपेक्षा तिहाई-चौथाई ही था। तब रुपये का ३ सेर घी और २ मन गेहूँ बिकता था; अब ६ छँटाक घी और ६ सेर गेहूँ बिकता है। आबादी दूनी से ज़ियादह बढ़ गई; लगान तिगुना-चौगुना हो गया; महँगी ने रुपये की क़ीमत ≈) कर दी। हल, फाल, बैल, मज़दूरी भी पहले से कई गुनी अधिक मँहगी हो गई। इस दशा में सभ्यता और सुख-सम्पत्ति क्या आसमान से टूट पड़ी? किसानों के पास पहले कपड़े-लत्ते न थे या कम थे तो मध्य वित्त के आदमी ही कहाँ शर्ट, वास्कट, कोट, पैंट डटे रहते थे। वे भी तो दो धोतियों, एक अँगौछे और एक अँगरखे ही से सन्तुष्ट रहते थे। पर भूखों तो न मरते थे। किसानों और थोड़ी आमदनी के आदमियों की असली हालत तो आपको तब मालूम होती जब आप उनके साथ कुछ दिन रहते और देखते कि वे क्या और कितना खाते, क्या पहनते, और कितने घड़े, लोटे और थालियाँ रखते हैं, तथा उनपर क़र्ज़ कितना है।

आपकी चाय, काफी, बटन, लालटेन, सूती कम्बल, दिया सलाई और सिगरेटों ही ने किसानों और मध्यवित्त जनों की दुर्गति की वृद्धि की है। उन्हें आप सभ्यता और सुख-सम्पदा की वृद्धि का सूचक भले ही समझें; परन्तु यथार्थ में उदर-पूर्ति के साधनों की कमी के वही कारण हैं। यह इस तरह की झूठी सभ्यता और दिखाऊ समृद्धि इस प्रान्त और इस देश में कहाँ से घुस आई है, इसके उल्लेख की यहाँ आवश्यकता नहीं।

[सितम्बर १९२३.

स्वदेशी वस्त्र के व्यापार में उन्नति

इस अभागे देश में भी ऐसे सैकड़ों, हजारों आदमी हैं जो अपने देश की बनी वस्तुओं के प्रचार और व्यवहार के लाभों को समझते हैं। कुछ तो ऐसे भी निकलेंगे—और ऐसे कितने ही आदमियों को इस नोट का लेखक स्वयं भी जानता है—जो अपनी सज्ञान दशा ही से आरम्भ करके अपने देश की बनी हुई वस्तुओं का उपयोग करते हैं; जब वे नहीं मिलतीं, तभी दूसरे देशों की वस्तुयें काम में लाते हैं। मनुष्य के लिए भोजन और वस्त्र ये दो चीजें सबसे अधिक आवश्यक हैं। भोज्य पदार्थ तो प्रायः सभी इस देश में अधिकता से उत्पन्न होते हैं। अतएव वे अन्य देशों से यहाँ, दुर्भिक्ष के समय को छोड़ कर, और कभी नहीं आते। रहे वस्त्र, सो वस्त्र भी, यहाँ पहले सब तरह के यथेष्ट परिमाण में तैयार होते थे। पर कूट-नीति ही क्यों, स्पष्ट-नीति ने भी उनका बहुत कुछ नाश कर दिया। अतएव अपना तन ढकने के लिए हमें और देशों का मुँह ताकना पड़ा। एतदर्थ हम भारतवासियों के साठ-सत्तर करोड़ रुपये हर साल दूसरे देशों को चले जाते हैं। इससे हमारी बहुत बड़ी हानि होती है। जो लोग इस बात को समझते हैं, वे उपाय भर अपने ही देश का बना वस्त्र काम में लाते हैं। तथापि ऐसे समझदार आदमियों की संख्या अब तक बहुत ही कम थी। पर असहयोग की कृपा से, उसके आचार्य्य महात्मा गांधी की कृपा से, अब उनकी संख्या बहुत अधिक हो गई है। इन लोगों की सलाह है कि विदेशी वस्त्र का एक-दम परित्याग कर दो। उसके बदले केवल गाढ़ा—केवल हाथ का बुना हुआ खद्दर—काम में लाओ। विदेशी सूत

का बना हुआ गाढ़ा भी न पहनो। देश ही में काते गये सूत से तैयार हुआ खद्दर व्यवहार करो। ऐसा करने से न विदेशी कपड़े के कारखानादारों ही को कुछ देना पड़ेगा और न सूत तैयार करनेवालों ही को। इससे अपना साठ-सत्तर करोड़ रुपया हर साल बच जायगा; सूत कातने और खद्दर तैयार करनेवालों का व्यवसाय चमक उठेगा; देश की दीनता धीरे धीरे दूर हो जायगी। उनकी यह दलील बहुत ठीक जान पड़ती है।

पर असहयोगियों की इस शिक्षा से देश और विदेश दोनों के पुतली-घरों के मालिकों को हानि पहुँच सकती है। खैर; देशवालों की बात तो जाने दीजिए; क्योंकि श्याम राम एण्ड कम्पनी की दूकान या कारोबार बन्द हो गया तो रामू, श्यामू, असग़र और अहमद का व्यवसाय चल निकलेगा। बात विदेशवालों की सोचिए। यहाँ जो कपड़ा आता है, वह अधिकतर अँगरेजों ही की विलायत से आता है। वह यदि न आवे तो वहाँ के लाखों आदमी यदि भूखों न मरें तो बेकार ज़रूर हो जायँ। अतएव भारत-वर्ष के विधाता अँगरेजों के देश, गाँव, घर में हाहाकार मचने लगे। इसी से अधिकांश लोग खुलमखुल्ला विदेशी वस्त्र का बहिष्कार करते सकुचते हैं। कुछ लोग अच्छे, बारीक, सस्ते और तरहदार कपड़ों की इच्छा होने से भी गाढ़े को नहीं पसन्द करते, अतएव विदेशी वस्त्र पहनना नहीं छोड़ते। कुछ लोग अँगरेज़ अधिकारियों की अप्रसन्नता के डर से स्वदेशी गाढ़े या मोटे स्वदेशी वस्त्र का स्वीकार नहीं करते। पर यह डर और सकुच घटती जा रही है। इसमें सन्देह नहीं कि यदि मैनचेस्टर से कपड़ा आना एक-दम ही बन्द हो जाय तो अँगरेजों की विलायत में त्राहि-त्राहि जरूर मच जाय। असहयोगी चूँकि गवर्नमेंट के—अथवा उसकी अनेक बातों के—विरोधी हैं, इससे मन ही मन वे शायद गाढ़े का प्रचार और मैनचेस्टर का बहिष्कार करके उसे या उसके गोरे कर्म्मचारियों के भाई-बन्दों को छकाना भी चाहते हैं। पर यदि उनके इस कार्य्य की जड़ में द्वेष-भाव न हो, यदि वे केवल अपने देश की अर्थोन्नति के लिए ही स्वदेशी वस्त्र के

प्रचार की आवश्यकता समझते हों तो इस विषय में उनके विरोधियों को भी कुछ भी कहने-सुनने के लिए जगह नहीं। अस्तु।

असहयोगियों के हृदय के भाव चाहे जैसे हों, उन्होंने विदेशी वस्त्र-व्यवसाय को चपत तो खूब ही जमाया है। सरकार कहती है कि असहयोग मर गया अथवा मृतप्राय हो गया। उसके इस कथन की सत्यता या असत्यता का प्रमाण तो आगे चलकर, कुछ काल बाद, मिलेगा। पर इसमें जरा भी सन्देह नहीं कि ३१ मार्च १९२२ तक असहयोग खूब जीता-जागता था। और बातों की तो हम नहीं कहते, पर विदेशी वस्त्र के व्यवसाय के विषय में, उस समय तक, उसे बहुत कुछ सफलता हुई। यह हम अपने मन से बे-पर की नहीं उड़ाते। खुद गवर्नमेंट की कही और कबूल की हुई स्वीकारोक्ति को दुहराते हैं। उसकी यह उक्ति उसी की एक पुस्तक में विद्यमान है। इस पुस्तक का नाम है—

Annual Report on the Inland Trade of the U. P. and Oudh for the year ending 31st March 1922.

इस पुस्तक में इस प्रान्त के आन्तरिक व्यापार का सालाना लेखा है। इसमें अन्य सभी व्यापारिक वस्तुओं के साथ विदेशी सूत और विदेशी कपड़े की आमदनी का भी हिसाब है। १ अप्रैल १९२१ से ३१ मार्च १९२२ तक, एक साल में, केवल अपने प्रान्त में कितना देशी और विदेशी सूत और वस्त्र आया, उसका हिसाब इस प्रकार है—

		वज़न (मनों में)	क़ीमत (रुपयों में)
सूत	देशी	२,११,८७३	१,५४३५,३५४
	विदेशी	२,३११	३,८३,९१९
वस्त्र	देशी	७,७९,७४१	९,५६,५७,१२९
	विदेशी	१,९३,८८९	३,७७,५३,०९२

इस रिपोर्ट या पुस्तक के लेखक, कागज़ात-देही के डिपटी डाइरेक्टर, श्रीयुत ब्रजलाल की आलोचना है कि १९२०-२१ ईसवी में रुई से

तैयार की गई चीज़ों की घटती इस प्रान्त में बहुत ही कम हुई थी। अर्थात् पिछले साल से उनका वजन २९,३३४ मन कम था, पर रिपोर्ट के साल ९९,६१४ मन माल अधिक आया। यह कुल माल की घटती-बढ़ती का हिसाब है। इसमें देशी और विदेशी दोनों तरह के माल शामिल हैं। विदेशी कम आया है, देशी अधिक। यथा—

स्वदेशी	सूत	३८,११६	मन	अधिक आया
	वस्त्र	१,२९,०६८	मन	
विदेशी	सूत	१,९००	मन	कम आया
	वस्त्र	६६,७७२	मन	

इन अङ्कों से यदि और कुछ साबित न हो तो इतना तो जरूर ही साबित होता है कि स्वदेशी सूत और स्वदेशी वस्त्र का व्यापार खूब बढ़ा है और विदेशी का खूब घटा है। यह लेखा अकेले संयुक्त-प्रान्त का है। सम्भव है, और प्रान्तों का भी हाल, थोड़ा बहुत, ऐसा ही हो, विशेषकर आन्ध्र, गुजरात और पञ्जाब का।

[सितम्बर १९२३.

जङ्गली जानवरों के द्वारा नर-नाश

संस्कृत में एक मसला है जो बहुत ठीक मालूम होता है। कम से कम इस देश के सम्बन्ध में तो वह सचमुच ही चरितार्थ है—

अजापुत्रं बलिं दद्यादेवो दुर्बलघातकः।

बात यह कि दुर्बलों की जान के सभी प्यासे रहते हैं। भारतवासियों में कोई तीन-चौथाई जन-संख्या दीनों, दुर्बलों, दुखियों और मरभुखों ही की है। जूड़ी, प्लेग, बुखार, हैजा और इनफ्ल्युयंजा के शिकार यही लोग अधिकतर होते हैं। पेट भर खाने को न मिलने और आराम से रहने के साधनों से वञ्चित होने के कारण दुर्बलता और कमज़ोरी का पट्टा लिखा कर ही इनकी सन्तान जन्म लेती है। और, दुर्बलों ही को रोग अधिक सताते हैं और वही अधिक मरते भी हैं। ये ७५ फ़ी सदी भारतवासी देहात में रहते हैं और किसानी या मिहनत-मज़दूरी करके ही किसी तरह अपना अस्थि-चर्म्म शरीर के ढाँचे पर बना रखते हैं। इन लोगों का दैव-दुर्विपाक यहीं नहीं खतम हो जाता। इन्हें मारने के और अनेक सुभीते कर देने पर भी भगवान् को शायद सन्तोष नहीं। इसी से उसने इस में शेर, बाघ, हाथी, रीछ, मगर, घड़ियाल, भेड़िये और साँप आदि, हजारों की संख्या में, पैदा कर रक्खे हैं और उन्हें हुक्म दे रक्खा है कि दुर्बल जनों ही का शिकार करके तुम अपनी जीवनयात्रा निभाते रहो। सो रोग, शोक, भूख और दुर्भिक्ष की चपेट से जो बच जाते हैं, उनमें से भी हजारों को ये जानवर, हर साल, ठिकाने लगा देते हैं। करुणा-सागर भगवान् की करुणा तो देखिए। उन्होंने ऐसे जानवर न पैदा किये जो शहरों में रहनेवाले हृष्ट, पुष्ट, सबल और तुन्दिल जनों का शिकार करते।

पैदा किये बाघ और भेड़िये, लकड़बग्घे और रीछ जो दुर्बल देहातियों ही का संहार किया करते हैं।

भगवान् के कारुण्य-पारावार का तो यह हाल है, सरकार की दया के दरिया का भी हाल सुन लीजिए। दैव प्रतिकूल होने से, मनुष्य भला कैसे अनुकूल हो सकता है! सरकार भी तो मनुष्यों या कर्म्मचारियों के समुदाय ही से बनी है। जङ्गलों, नदियों, तराइयों और घाटियों के पास रहनेवालों को भी उसने बन्दूक रखने की इजाजत नहीं दे रक्खी। यदि गाँव पीछे एक भी बन्दूक दी जाती तो उससे भी जङ्गली जानवरों को मार भगाने का बहुत कुछ सुभीता होता। परन्तु बिना लैसंस लिये बन्दूक रखना जुर्म करार दिया गया है। यदि कोई लैसंस लेना भी चाहे तो ५) साल फ़ीस दे और सदर जा कर अनेक झंझट उठावे। फिर भी इस बात का निश्चय नहीं कि माँगने पर भी लैसंस मिल ही जायगा।

हर साल गवर्नमेंट एक लेखा प्रकाशित करती है। उसमें वह साल भर का हिसाब देती है कि इतने मनुष्यों ने, जङ्गली जानवरों की बदौलत, निर्व्वाण पाया। साथ ही, अब तक, वह यह भी बताती रही है कि अमुक साल में बन्दूकें रखने के लिए इतने लैसंस दिये गये और वे पिछले साल से कम हैं या अधिक। पर २५ अगस्त १९२३ के गैज़ेट आव इंडिया में प्रकाशित, १९२२ ईसवी के लेखे में, लैसंसों की संख्या नहीं दी गई। क्यों? इसका कारण सरकार ही बता सकती है। लैसंसों की संख्या कम होने से लोग चीं-चपड़ करने लगते हैं, यह कारण तो हो ही नहीं सकता। क्योंकि सर्व-समर्थ सरकार को दस पाँच भारतवासियों की विरल चीं-चपड़ से कुछ भी हानि नहीं पहुँच सकती। अस्तु।

अच्छा तो देखिए, १९२२ ईसवी में, जङ्गली जानवरों और साँपों आदि ने कितने भारतवासियों का भार वहन करने से भारत-भूमि को बचा लिया। सरकारी लेखा कहता है—

(१) बाघों ने	१६०३	मनुष्य मारे
(२) तेन्दुओं ने	५०९	"
(३) भेड़ियों ने	४६०	"
(४) रीछों ने	१०५	"
(५) हाथियों ने	५५	"
(६) लकड़बग्घों ने	९	"
(७) जङ्गली सूअरों ने	९०	"
(८) मगरों और घड़ियालों ने	२२५	"
(९) और जानवरों ने	२०७	"
	कुल ३,२६३	

खुशी मनाना चाहिए कि १९२१ ईसवी की अपेक्षा १९२२ में ९७ मनुष्य कम मारे गये; क्योंकि उस साल मारे गये लोगों की संख्या ३,३६० थी। एतदर्थ परम कारुणिक कमलाकान्त को सैकड़ों साधुवाद!

हाँ साँपों की सपूती का उल्लेख करना तो हम भूल ही गये। भगवान् उनका भला करे, उन्होंने २०,०९० आदमियों को मार कर जीवन-जञ्जाल से छुट्टी दिला दी। पिछले साल, अर्थात् १९२१ में, उन्होंने अपने दंशन से १९,३३६ ही आदमियों पर दया दिखाई थी; पर १९२२ में उन्होंने छः सात सौ अधिक आदमियों को महिषवाहन के मुल्क को पहुँचा देने का पुण्य प्राप्त किया। सो कुल मरे हुओं की संख्या ३,२६३ + २०,०९० मिल कर २३,३५३ हो गई। खैर ३१ करोड़ आदमियों की आबादी में २३ हजार का कम हो जाना दाल में नमक के बराबर ही है। है न!

इस लेखे से यह न समझिए कि सरकार इस सम्बन्ध में चुप है। वह अपनी दीन, दुर्बल और बन्दूक-विहीन प्रजा की रक्षा और उसके भक्षकों के नाश में काफ़ी प्रयत्नवान् है। उसने प्राणहारक प्राणियों को मारने के लिए इनाम देने की योजना कर रक्खी है और इस मद में,

हर साल, लाखों रुपया बाँट देती है। चुनांचे उसके इस इनाम के आकर्षण से आकृष्ट होकर, १९२२ में, बन्दूकचियों ने २३,२६८ जङ्गली जानवर मार डाले। उनमें से कुछ की तफ़सील लीजिए—

बाघ	१,७६६
तेंदुवे	६,१०८
रीछ	३,१८८
भेड़िये	१,६२९

इस सेवा के लिए सरकार ने उन्हें १,८४,५३५, रुपया इनाम दिया। यह रकम १९२१ ईसवी की अपेक्षा २६ हजार रुपया कम है। पर इस का कारण सरकार की कंजूसी नहीं। वह क्या करे, अधिक जानवर मारे ही न गये।

रही बात अब साँपों की। ५८,२७० की संख्या में उनकी हत्या हुई और हत्याकारियों ने १,२५० रुपया सरकार से इनाम में पाया।

[आक्टोबर १९२३.

मर्दुम-शुमारी की कुछ बातें

देश किसे कहते हैं ? पेड़–पहाड़, नदी-तालाब, खेत–बाग़, मसजिद्-मन्दिर और बड़े बड़े आलीशान मकान देश नहीं। मनुष्यों के समुदाय ही का नाम देश है; निर्जन भू–भाग देश नहीं कहा जा सकता। अच्छा तो इस देश का जन-समुदाय रहता कहाँ है ? वह आगरा, मथुरा, प्रयाग, काशी, कानपुर और लखनऊ आदि बड़े बड़े शहरों ही में नहीं रहता; और न वह कसबों ही में रहता है। रहते मनुष्य वहाँ भी हैं; पर समस्त समुदाय का कुछ ही अंश वहाँ रहता है। अधिकांश मनुष्यों का वास ५००० की आबादी से कम गाँवों ही में है। इस दशा में काशी और प्रयाग तथा लखनऊ और कानपुर आदि की समृद्धि, सफाई और शिक्षा को देख कर ही सारे प्रान्त की धन-दौलत और सुख–सन्तोष का पता नहीं लग सकता। छोटे बड़े गाँवों के रहनेवाले यदि दीन और दुःखी हों तो यही कहना पड़ेगा कि प्रान्त या देश का अधिकांश निर्धन और निरक्ष है।

इस प्रान्त में आगरा, कानपुर, लखनऊ आदि २४ शहर हैं। उनमें से शहर गिने जानेवाले जौनपुर की आबादी सबसे कम अर्थात् ३२ हज़ार और लखनऊ की सबसे अधिक अर्थात् २ लाख ४० हज़ार है। शहरों के बाद कसबों का नम्बर है। उन्नाव, फतेहपुर और रायबरेली आदि यद्यपि ज़िले के सदर मुकाम हैं, तथापि वहाँ आबादी अधिक नहीं। इससे उनकी गिनती कसबों ही में है, शहरों में नहीं। इन शहरों और कसबों में, संयुक्त प्रान्त की आबादी का बहुत ही कम अंश निवास करता है। उसका औसत फ़ी एक हज़ार पीछे केवल १०६ है। बाकी ८९४ आदमी गाँवों ही में रहते हैं–ऐसे गाँवों में जिनकी आबादी ५ हज़ार से कम है। अतएव शहरों की स्वच्छ और साफ़ सड़कों, बड़ी

बड़ी कोठियों, फिटनों और मोटरों, पानी की कलों और बिजली की रोशनी और पंखों को देखकर सारे प्रान्त को वैसा ही समझ लेना बड़ी भूल है। देहात की निर्धनता, निरक्षरता और गन्दगी प्रायः ज्यों की त्यों बनी हुई है। इस दशा में यही कहना पड़ता है कि यह प्रान्त बहुत ही अनुन्नत दशा में है। शिक्षा, स्वच्छता और समृद्धि से उसका वही सम्बन्ध है जो २ और ६ के अङ्कों को आमने सामने—इस तरह ३९—रखने से होता है। इसमें केवल एक अंश यदि समृद्ध हो गया और ९ अंश अधःपात के पङ्क में पड़े रहे तो देश या प्रान्त कदापि सुशिक्षित, सभ्य और समृद्ध नहीं कहा जा सकता। दस में से इन नौ अंशों की जो दुर्गति देहात में है, उसे वही लोग जान सकते हैं जो वहाँ रहते हैं अथवा जो कभी भूले-भटके, किसी कारण से, वहाँ पहुँच जाते हैं। शक्ति रख कर और अधिकार पाकर जो लोग इन नौ अंशों को ऊँचा उठाने—उनके लिए उन्नति के साधन प्रस्तुत करने—के उपाय करते हैं, वही सच्चे देश-हितैषी हैं। अब आप विचार कर देखिए कि जो लोग प्रान्तिक कौंसिलों और लेजिस्लेटिव असेम्बली में जाने के लिए लार टपकाते फिरते हैं अथवा जो उनके मेम्बर रह चुके हैं, उनमें से देहातियों के शुभचिन्तक, उनकी सुख-समृद्धि के इच्छुक, कितने हैं।

प्रकृति या परमेश्वर ने कुछ नियम बना रखे हैं। यदि मनुष्य उन नियमों का पालन करता जाय तो उनमें कभी भूल नहीं हो सकती। परन्तु जहाँ उसने किसी नियम का उल्लंघन किया, तहाँ उसका असर और नियमों पर भी पड़ता है। फल यह होता है कि अनेक विषयों में विषमता उत्पन्न हो जाती है। इस विषमता के कारण ढूँढ़ने से कभी तो ज्ञात हो जाते हैं और कभी नहीं होते। न ज्ञात होने का कारण मनुष्य-बुद्धि का परिमित होना है। प्रकृति का नियम स्त्री-पुरुष के जोड़े बराबर बराबर पैदा करना है। परन्तु प्रायः सभी देशों में देखा जाता है कि लड़कियाँ कुछ कम पैदा होती हैं, लड़के अधिक। मर्दुम-शुमारी के नकशों के

अनुसार, १९२१ ईसवी में, इस प्रान्त में, यदि लड़कियाँ १००० पैदा हुईं तो लड़के ११०१। लोग लड़कियाँ चाहते भी नहीं। अतएव अस्वाभाविक कारणों से भी उनका कम पैदा होना या पैदा होते ही मर जाना सम्भव है। पर प्रकृति इस बात को पसन्द नहीं करती। वह दोनों में समता रखना चाहती है। इसी से शायद उसने लड़कियों को जीवनी शक्ति अधिक दी है। पैदा होकर बच जाने से फिर वे, बेपरवाही करने से भी, नहीं मरतीं। जिस रोग से लड़के चल बसते हैं, उससे लड़कियाँ बहुत करके बच जाती हैं। नतीजा यह होता है कि चार पाँच वर्ष की होने पर लड़कियों की संख्या बढ़ जाती है और लड़कों की कम हो जाती है। अर्थात् उस समय फ़ी एक हज़ार पुरुषों के मुकाबले में उनकी संख्या १०८२ हो जाती है। इसके बाद वे फिर घटने लगती हैं और ६० वर्ष की उम्र तक घटती ही चली जाती हैं। इसके अनन्तर उनकी संख्या पुरुषों से फिर अधिक हो जाती है। मर्दुम-शुमारी के बड़े साहब का अनुमान है कि छोटी उम्र में शादी हो जाने और प्रसूति-काल में ठीक ठीक सेवा-शुश्रूषा न होने ही से शायद स्त्रियाँ अधिक मरती हैं। उनका यह कथन यों ही नहीं उड़ा दिया जा सकता। उसमें तथ्यांश ज़रूर है। स्त्रियों का यह अकाल-मरण हम लोगों की दरिद्रता और अशिक्षा से कुछ न कुछ सम्बन्ध ज़रूर रखता है। यदि हम लोग शिक्षा के प्रभाव से प्रसूता स्त्रियों की ठीक ठीक रक्षा और परिचर्या का ज्ञान प्राप्त कर लें और घर में दाना-पानी होने से उनके लिए पथ्य और पौष्टिक भोजन का प्रबन्ध कर सकें तो इस अकाल-मरण की मात्रा जरूर बहुत कम हो जाय।

सो इस सम्बन्ध में भी देहात में रहनेवाली जनता को शिक्षा देने और उसकी समृद्धि के साधनों की सृष्टि करने की बड़ी आवश्यकता है।

[दिसम्बर १९२३.

मर्दुम-शुमारी की रिपोर्ट और शिक्षा

समय समय पर देश की जन-संख्या का गिना जाना बहुत आवश्यक है। यदि काम की सभी बातें जानने के लिए नक़शों में आवश्यक खाने रखे जायँ और उनकी ठीक ठीक ख़ानापुरी हो तो देश-दशा के अनेक विश्वसनीय चित्र देखने को मिलें। इन नक़शों के आधार पर रिपोर्ट लिखनेवाला यदि तजरिबेकार हो, बहुज्ञ हो, सारासार-विचार की शक्ति रखता हो और देश-वासियों की मति, गति और अवस्था से यथेष्ट परिचित हो तो उसकी आलोचना से अनेक अज्ञात बातें जानी जा सकती हैं। पिछली, अर्थात् १९२१ ईसवी की, मर्दुम-शुमारी की रिपोर्ट पर दो एक नोट पहले ही लिखे जा चुके हैं। इस रिपोर्ट में शिक्षा के सम्बन्ध में जो अध्याय है, उसकी कुछ बातें आज, इस नोट में, लिखी जाती हैं।

इधर, कुछ समय से, कई कारणों से प्रेरित हो कर, सरकार इस देश में शिक्षा-प्रचार में उन्नति करने की विशेष चेष्टा कर रही है। तिस पर भी जितनी उन्नति हुई है, वह न कुछ के बराबर है। अपना प्रान्त संयुक्त प्रदेश तो शिक्षा में बहुत ही पिछड़ा हुआ है। इस प्रान्त के निवासियों में अशिक्षा या निरक्षरता का इतना अधिक आधिक्य देख कर बहुत ही शोक होता है। शिक्षित और सभ्य कहलानेवाली जाति के आधिपत्य में रह कर भी, इस प्रान्त में शिक्षा की इतनी अधोगति होना इस देश और प्रान्त का दुर्भाग्य ही समझना चाहिए। यदि इस ओर पहले से ही ध्यान दिया जाता और अब भी यथेष्ट प्रयत्न किया जाता तो यह दशा कभी न होती। इसकी कुछ जवाबदारी प्रान्त-निवासियों पर भी है; पर कुछ ही, अधिक नहीं। अधिक ज़िम्मेदारी तो उन्हीं की है जिन्हें ख़र्च देना और शिक्षा-प्रचार का प्रबन्ध करना पड़ता है।

संयुक्त प्रान्त का रक़बा अँगरेज़ों की विलायत से कुछ ही कम है।

आबादी करीब-करीब बराबर है। रियासतों को छोड़ कर इस प्रान्त के उन जिलों की आबादी, जो ब्रिटिश राज्य के अंश हैं, ४,५३,७५,७८७ है। उनमें से फी एक हज़ार मनुष्यों में केवल ३७ मनुष्य साक्षर हैं। साक्षर से मतलब उस अर्थ से है जिस अर्थ का वाचक अँगरेज़ी शब्द "लिटरेट" (Literate) समझा जाता है। जो लोग साक्षर हैं, उन्हें आप विद्वान्, पण्डित, आलिम या फ़ाज़िल न समझ लीजिएगा। टूटे-फूटे और टेढ़े-मेढ़े शब्दों या अक्षरों के द्वारा, शुद्धाशुद्ध भाषा में, अपनी जान-पहचान के आदमी को चिट्ठी लिख लेनेवाले को भी आपको साक्षर मान लेना पड़ेगा। क्योंकि मर्दुमशुमारी की रिपोर्ट में "साक्षर" का यही अर्थ या लक्षण किया गया है। सो एक हज़ार निवासियों में ३७ तो इस प्रकार के धुक्कड़ साक्षर हैं और बाक़ी ९६३ सर्वथा निरक्षर! इन साक्षरों और निरक्षरों में स्त्री-पुरुष, बच्चे और बूढ़े सभी शामिल हैं। स्त्रियों और पुरुषों की साक्षरता का औसत अलग अलग लगाने से फ़ी एक हज़ार पुरुषों में ६५ और फ़ी एक हजार स्त्रियों में ६ साक्षर हैं। पिछले २० वर्षों में साक्षरता कितनी बढ़ी है, इसका भी हिसाब लीजिए—

	पुरुष	स्त्री	
१९०१	५८	२	फ़ी एक हज़ार में
१९११	६१	५	
१९२१	६५	६	

१९०१ की अपेक्षा १९११ में फ़ी एक हज़ार में ३ पुरुष अधिक शिक्षित हुए थे। १९११ की अपेक्षा १९२१ में उनकी संख्या बढ़कर ३ से ४ हो गई। तरक्की इसे कहते हैं। १९११ में, पिछले दस वर्षों में, स्त्रियों की संख्या में ३ की वृद्धि हुई थी; पर १९२१ में केवल १ की। २० वर्ष पहले हज़ार स्त्रियों में २ साक्षर थीं। अब ६ हो गई हैं। मर्दुम-शुमारी के सुपरिंटेंडेंट कहते हैं कि जिन लोगों ने शिक्षा-प्रचार के लिए जी-तोड़ परिश्रम किया है, उन्हें इस बाढ़-वृद्धि से ज़रूर निराशा होगी। पर

उन्हीं को क्यों ? जिन्होंने इस विषय में कुछ भी नहीं किया-कराया, क्या उनको निराशा न होगी ? पर निराशा तो हम लोगों के लिए दाल-भात हो गई है। उसका उपयोग तो हमें बात-बात में करना पड़ता है। उससे क्या डर ?

स्कूल-लीविंग् और मैट्रीकुलेशन की शिक्षा पाये हुए लोग बहुत कम हैं। एम० ए० और बी० ए० तो और भी कम। साक्षरों में १० और २० वर्ष के बीच की उम्र के युवकों ही की संख्या सबसे अधिक समझनी चाहिए और ये सब देहाती या देशी भाषाओं के मदरसों ही की उपज हैं। इस उपज की संख्या १९११ में ३,८९,००० थी और १९२१ में ४,१४,०००।

दस वर्ष पहले एक युवक को साक्षर बनाने का खर्च ४० रुपया पड़ता था। अब पड़ता है ६० रुपया। सो साक्षरों की संख्या दस वर्ष में केवल २५ हज़ार बढ़ी। पर खर्च ड्योढ़ा हो गया।

देहात की अपेक्षा कसबों और शहरों में साक्षरता अधिक है। हिसाब नीचे देखिए—

साल	हिन्दू		मुसल्मान	
	पुरुष	स्त्री	पुरुष	स्त्री
१९११	१९४	३१	१३०	१८
१९२१	२२१	४७	१५४	२३

यह हिसाब फ़ी एक हज़ार मनुष्यों के औसत का है। इस सूबे में २४ शहर हैं। उनमें एक हज़ार मनुष्यों में २१३ पुरुष और १८ स्त्रियाँ साक्षर हैं। ऊपर के नक़शे के अनुसार हिन्दुओं की अपेक्षा मुसल्मानों में साक्षर पुरुष अधिक हैं; और मुसल्मानों की अपेक्षा हिन्दुओं में साक्षर स्त्रियाँ। यह हिसाब आबादी के औसत के अनुसार है।

ऊपर जो हिसाब दिया गया है, वह शहरों का है। कुल सूबे के हिन्दू-मुसल्मानों की साक्षरता का मुक़ाबिला करने से ज्ञात हुआ है कि पिछले दस वर्षों में मुसल्मान पुरुषों की अपेक्षा हिन्दू पुरुषों में साक्षरता कुछ

अधिक बढ़ी है। १९११ में फ़ी एक हज़ार पीछे ५८ हिन्दू और ५९ मुसल्मान पुरुष साक्षर थे, पर १९२१ में यही तारतम्य, क्रम से, ६७ और ६५ हो गया है। परन्तु पुरुषों और स्त्रियों की गिनती अलग अलग न करके यदि दोनों को मिलाकर हिन्दुओं और मुसल्मानों में साक्षरता का हिसाब लगाया जाय तो मुसल्मान ही बढ़े-चढ़े निकलेंगे। क्योंकि जहाँ फ़ी एक हज़ार में ३८ मुसल्मान साक्षर हैं, वहाँ हिन्दुओं में केवल ३५ ही हैं।

अब ज़रा इस सूबे की अँगरेज़ी-दानी का हिसाब सुनिए। यह हिसाब फ़ी दस हज़ार आबादी के औसत का है और केवल पुरुषों का है—

१८९१	में फ़ी दस हज़ार में		१७ पुरुष
१९०१	,,	,,	३६ ,,
१९११	,,	,,	४९ ,,
१९२१	,,	,,	६६ ,,

अर्थात् १८९१ में ५८८ पुरुषों में केवल एक पुरुष अँगरेज़ी लिख पढ़ सकता था। और अब, १९२१ में? अजी अब तो १५१ ही में वैसा एक पुरुष पैदा हो गया है। इसी से तो इस प्रान्त के अनेक देवोपम पुरुषरत्न अँगरेज़ी ही भाषा को सर्वोच्च स्थान देना चाहते हैं। उनका ख़याल है कि यदि इसी तरह तरक्की होती गई तो सौ दो सौ वर्षों में हमारे सभी रमई, बुधई और भोलाई अँगरेज़ी भाषा के ज्ञाता हो जायँगे।

इस प्रान्त के "आर्यों" में अँगरेज़ी भाषा जाननेवाले सब से अधिक हैं। उसके बाद जैनों में, फिर मुसल्मानों में, फिर हिन्दुओं में। हिन्दुओं में १० हज़ार मनुष्यों में सिर्फ़ ४७ मनुष्य अँगरेज़ी लिख-पढ़ सकते हैं और मुसलमानों में ८१। हिन्दू तो अपनी "हिन्दुई" से ही बहुत कुछ उदासीन हैं, अँगरेज़ी तो समुद्र पार की भाषा है।

[दिसम्बर १९२३.

अनाज की फ़सलों का विवरण

सरकार ने ज़मीन की नाप-जोख और फ़सलों इत्यादि का हिसाब रखने के लिए जो महकमा क़ायम कर रक्खा है, उसका अँगरेज़ी नाम है—लैंड-रिकार्ड्स का महकमा। हर तरह की ज़मीन से सम्बन्ध रखने-वाले काग़ज़ात और नक़्शों आदि का काम भी इसी महकमे के सिपुर्द है। पटवारियों के रजिस्टर—जिन्सवार, ख़सरा, खतौनी इत्यादि—की जाँच भी यही महकमा करता है। इस महकमे के भी अध्यक्ष हर साल अपनी रिपोर्ट लिखते और प्रकाशित करते हैं।

इस महकमे की रिपोर्ट में देहातियों, विशेष करके काश्तकारों के जानने योग्य बहुत बातें रहती हैं। यदि वह ठीक तौर पर तैयार की जाय तो उससे और लोग भी फ़ायदा उठा सकते हैं। परन्तु, खेद है, इन रिपोर्टों को लिखने में सर्व-साधारण के सुभीते का बहुत कम ख़याल रक्खा जाता है। पहले तो ये रिपोर्टें प्रान्त की भाषा—हिन्दी या उर्दू—में नहीं लिखी जातीं। फिर इनमें आराज़ी (ज़मीन) की नाप एकड़ों में दी जाती है। पटवारियों के काग़ज़ात में तो नाप बीघे, बिस्वे में दी जाय। लोगों को जो पट्टे और परचे मिलें उनमें भी बीघे, बिस्वे ही लिखे जायँ। पर सरकारी रिपोर्टों में एकड़ों का ही निष्कण्टक राज्य रहे! इस नीति की बलिहारी! फिर एक बात और भी है। कौन फ़सल कितने मन या कितने टन हुई, इसका लेखा इस रिपोर्ट में नहीं दिया जाता। सिर्फ़ औसत बता दिया जाता है। बताया जाता है यह कि गेहूँ की पूरी फसल की पैदावार यदि १०० मान ली जाय तो रिपोर्ट के साल वह ९० हुई, या ९९ हुई, या १०१ हुई! बस। बताइए, इससे कैसे पता चल

सकता है कि इस प्रान्त में हर साल कितना गेहूँ, जौ या बाजरा आदि हुआ। यदि यह मालूम हो जाता तो पता लग जाता कि प्रान्त की आबादी के हिसाब से फ़ी मनुष्य कितना अनाज पैदा हुआ। पर इस सुभीते की तरफ़ किसी का ध्यान नहीं जाता और रिपोर्ट में वही एकड़, वही औसत, वही फ़ी सदी पैदावार के अङ्कों की भर-मार रहती है।

सरकारी हिसाब-किताब का साल न चैत्र से शुरू होता है, न मेष की संक्रान्ति ही से शुरू होता है और न सरकार के पहले महीने जनवरी ही से शुरू होता है। वह शुरू होता है अप्रैल से और ख़तम होता है मार्च के अन्त में। अर्थात् उसमें ९ महीने तो एक साल के रहते हैं और ३ महीने दूसरे, अर्थात् अगले, साल के। इसी हिसाब से लैंड-रेकार्ड्स अर्थात् कागज़ात-देही, के महकमे के डिपुटी डाइरेक्टर, श्रीयुत ब्रिज (ब्रज ?) लालजी, ने अपनी पिछली रिपोर्ट, १९२२–२३ की लिखकर प्रकाशित कराई है। मतलब यह कि उसका सम्बन्ध उन फ़सलों आदि की पैदावारों से है जो अप्रैल १९२२ से मार्च १९२३ तक इस सूबे में हुई थीं।

अच्छी पैदावार का होना न होना महाराज मघवा के हाथ में है। उसका हिसाब-मात्र रखना डिपटी साहब के हाथ है। रिपोर्ट के साल पानी खूब हुआ। इससे ज़मीन प्रायः सभी जोती-बोई गई। दो चार ज़िलों में पानी मतलब से अधिक बरस गया। इससे रुपये में आने दो आने ख़रीफ़ की फ़सल नहीं बोई जा सकी। पर वह कसर रबी की फ़सल से काफ़ी से भी अधिक निकल गई। वह जितनी बोई जानी चाहिए थी, उससे भी ज़ियादह बोई गई। सो ख़रीफ़ की कमी रबी की अधिकता से पूरी ही नहीं हो गई; वह बढ़ भी गई। अतएव कहना चाहिए कि अनाज की पैदावार के लिहाज़ से पिछला साल बहुत अच्छा बीता। दो लाख एकड़ ज़मीन ख़रीफ़ बोने से रह गई थी। उसके कोई चौगुने रकबे, अर्थात् १५ लाख एकड़ में, रबी अधिक बोई गई।

१९२२ में बाजरा १०० के बदले ११५ एकड़ में बोया गया। मतलब यहाँ फ़ी सदी से है। वह पहले फी सदी १४७ तक में बोया जाता रहा है। सो वह कम हुआ। हाँ गन्ना खूब हुआ—१०० की जगह ११३ में। कुल फसल के हिसाब से कोई तीन लाख एकड़ में बाजरा कम बोया गया, पर गन्ना दो लाख एकड़ में अधिक। परन्तु आश्चर्य यह है कि पिछले साल बाजरा तो महँगा रहा ही, गुड़-राब भी महँगी बिकी। बाजरा तो इस साल सस्ता है; गुड़ का हाल कुछ समय बाद मालूम होगा। आशा तो नहीं कि वह भी सस्ता बिके। ज्वार बहुत कम हुई और कपास उससे भी कम। कोई डेढ़ लाख एकड़ में कपास बोई गई। उसकी पैदावार १०० में ५७ ही हुई। इस साल शायद और भी कम हुई होगी। इसी से रूई रुपये की नौ दस छटाँक बिक रही है। तथापि रूई के महँगे होने के और भी कारण हैं।

रबी की पैदावार का औसत बहुत ही अच्छा रहा। जौ, अलसी और सरसों कम हुईं, और सब चीज़ें खूब हुईं। पौने दो लाख एकड़ में गेहूँ और साढ़े दस लाख में चना अधिक बोया गया। गेहूँ की पैदावार का औसत फी सदी १०२ और चने का १२५ पड़ा।

जोती-बोई गई ज़मीन में से १ करोड़ २ लाख एकड़ ज़मीन की खेती की आब-पाशी हुई—वह सींची गई। परन्तु सब कितनी जमीन जोती-बोई गई, इसका हिसाब रिपोर्ट में नहीं। सींची गई ज़मीन में से ५० फी सदी कुओं से, २५ फ़ी सदी नहरों से और बाकी तालाबों तथा झीलों आदि से सींची गई।

१९२१—२२ में आगरा-प्रान्त में ११,०५७ और अवध में ३,८९२ पुख़्ता कुवें तैयार हुए थे। पर १९२२—२३ में क्रम से ९,१६१ और ३,४५६ ही तैयार हुए। वर्षा यथेष्ट होने से अधिक कुवें बनाने की ज़रूरत शायद नहीं हुई। इसी से शायद कच्चे कुवें भी कम खोदे गये। १९२१—२२ की अपेक्षा रिपोर्ट के साल उनमें फ़ी सदी १५ की कमी हुई।

डिपटी डाइरेक्टर साहब ने अपनी रिपोर्ट में अनाज के निर्ख की भी तालिका दी है। निर्ख कानपुर का है। दो-चार चीज़ों का बाज़ार-भाव नीचे दिया जाता है। एक रुपये की कौन चीज़ का कब, क्या भाव था, इसका हिसाब यह है—

महीना	गेहूँ	जौ	चना	मोटा चावल
जून—२२	५½ सेर	८¾ सेर	७¼ सेर	४¾ सेर
सितम्बर—२२	६½	१०	८¼	५¼
जनवरी—२३	७¾	१४	११½	६½
मई—२३	८	१४½	१४½	५¾

सो गेहूँ १२ महीने में ड्योढ़ा सस्ता हो गया और चने का भाव तो दूने पर जा पहुँचा। जौ भी खूब बढ़ा। चावल भी सस्ता हुआ, पर बहुत नहीं। वह ड्योढ़े से कम ही रहा। जनवरी २३ में कुछ अधिक सस्ता हुआ था। पर मई में उसका भाव फिर चढ़ गया। अस्तु। जौ और चना सस्ता होने से ग़रीब आदमियों को विशेष सुभीता हुआ, यह सन्तोष की बात हुई; क्योंकि उसी के खानेवाले यहाँ अधिक हैं, गेहूँ-चावल के कम।

[फरवरी १९२४.

सरकारी उद्यान

गवर्नमेंट ने इस प्रान्त के बड़े बड़े शहरों में बाग़ लगा रक्खे हैं। बाग़ से मतलब उद्यान या पुष्प-वाटिका से है। फूल-बाग़ों में फूल के वृक्षों के साथ फलदार वृक्ष भी बहुधा लगाये जाते हैं। यदि केवल फूल ही फूल हों और वे बेचे जायँ तो ख़र्च नहीं निकल सकता। परन्तु फलदार वृक्ष लगाने और फलों की बिक्री का प्रबन्ध होने से उद्यान का ख़र्च निकल सकता है; शर्त यह है कि प्रबन्ध ठीक हो और प्रबन्ध-कर्त्ता अपने काम में दक्ष हो।

शहरों की बस्ती घनी होती है। वहाँ आबादी इतनी अधिक होती है कि स्वच्छ वायु बहुधा नसीब नहीं होती। दिन भर काम-काज करने पर सायङ्काल मनुष्य श्रान्त हो जाता है। उस समय किसी शान्ति-दायक और स्वच्छ-वायु-पूर्ण स्थान में घण्टे आध घण्टे बैठने या टहलने से चित्त प्रसन्न हो जाता है, थकावट दूर हो जाती है और फूलों तथा हरे-भरे पौधों को छूकर आई हुई वायु स्वास्थ्य को लाभ पहुँचाती है। इसी लिए शहरों में उद्यानों की आवश्यकता होती है। फलदार वृक्ष न होने से भी इस उद्देश्य की सिद्धि हो सकती है। तथापि उद्यानों को रक्षित रखने में ख़र्च पड़ता है। अतएव गवर्नमेंट यदि फूलों के साथ फलदार-वृक्षों से भी अपने उद्यानों की शोभा बढ़ावे और ऐसा प्रबन्ध करे कि फूलों, फलों और पौधों की बिक्री से ख़र्च निकल जाय तो सोने में सुगन्ध उत्पन्न हो जाय।

खेद है, इस प्रान्त की गवर्नमेंट ने अब तक इस ओर बिलकुल ही ध्यान नहीं दिया था। उसने तो दो एक उद्यान पहाड़ी बस्तियों और पहाड़ों पर भी लगा रक्खे हैं, जिनसे जनता का बहुत ही कम उपकार होता है। उद्यानों का प्रबन्ध भी अब तक बहुत ही लचर था। प्रायः

सभी उद्यानों की आमदनी से खर्च अधिक होता था। अर्थात् उनसे घाटा ही घाटा होता था और अब भी होता है। परन्तु लोगों के बहुत हो-हल्ला मचाने पर उसने, कुछ समय से, उद्यानों की रक्षा और देख-भाल का नया प्रबन्ध किया है। अब उसने उद्यानों का प्रबन्ध महकमा ज़िरात को सौंपा है और उसके निरीक्षण के लिए एक डिपटी डाइरेक्टर भी अलग नियत कर दिया है। एक पहाड़ी उद्यान को उसने बन्द कर दिया है; और दूसरे को महकमा जङ्गलात के अधीन कर दिया है। इसका फल भी अच्छा हुआ है।

उद्यानों की वार्षिक रिपोर्ट पर गवर्नमेंट ने जो मन्तव्य प्रकाशित किया है, उसमें लिखा है कि सन् १९२२–२३ में उनकी दशा पहले से अच्छी रही। १९२१–२२ में ३ लाख २६ हजार रुपया खर्च हुआ था; पर रिपोर्ट के साल केवल २ लाख ६७ हज़ार ही हुआ। आमदनी भी बढ़ी। वह ८० हज़ार से १ लाख ११ हज़ार हो गई। ग़नीमत है। पर घाटा फिर भी रहा।

इस सम्बन्ध में एक बात दिल्लगी की क्या, बड़े अफ़सोस की है। जैसे और महकमों में अफ़सरी करने की योग्यता हिन्दुस्तानियों में नहीं, वैसे ही बाग़ात के महकमे में भी नहीं है। सुपरिंटेंडेंट ही नहीं, माली (Gardeners) तक विलायत से मँगा कर गवर्नमेंट को रखने पड़े हैं। पहले सहारनपुर के बाग़ में कुछ युवकों को उद्यान-विद्या सिखाने का प्रबन्ध किया गया था। सम्भव है, अब भी कुछ लोग वहाँ पर यह विद्या सीखते हों। परन्तु हिन्दुस्तानियों ने यह काम सीखने में दिलचस्पी नहीं दिखाई। एक बात और है। यदि सीखे-सिखाये माली वहाँ से निकलें भी तो उन्हें नौकरी कौन दे? हिन्दुस्तानी अमीरों को उद्यानों से विशेष प्रेम नहीं; और सरकार सब को काम दे सकती नहीं।

[मई १९२५.

कृषि के महकमे की वार्षिक रिपोर्ट

गवर्नमेंट का हर महकमा एक वार्षिक रिपोर्ट लिख कर प्रान्त के गवर्नर के सामने पेश करता है। ये रिपोर्टें अत्यन्त ही नीरस होती हैं। ये लिखी भी इस ढंग से जाती हैं कि साधारण आदमियों को इनसे बहुत कम लाभ पहुँचता है। यह शिकायत मुद्दतों से लोग कर रहे हैं। उस पर गवर्नमेंट ने कहीं अब ध्यान देने का विचार किया है। सब से पहले उसने कृषि के महकमों की रिपोर्ट में सुधार किया है; क्योंकि इस महकमे का सम्बन्ध प्रायः अपढ़ किसानों और देहातियों ही से है। अधिकांश काश्त-कार अँगरेज़ीदाँ नहीं। अतएव ये सुधरी हुई रिपोर्ट से भी लाभ नहीं उठा सकते। तथापि अन्य अँगरेजी-दाँ उसे पढ़ कर अब यह समझ सकेंगे कि यह महकमा क्यों क़ायम किया गया है और यह काम क्या करता है।

३० जून १९२३ ईसवी को जो साल ख़तम हुआ उसकी रिपोर्ट को कृषि-विभाग के डाइरेक्टर लीक ने यथा-शक्ति मनोरञ्जक बनाने की बड़ी कोशिश की है। यह पहली ही सुधरी हुई सरकारी रिपोर्ट है। इसकी कुछ बातों का संक्षिप्त सार सुन लीजिए—

खेती से जो आमदनी होती है, वह तीन अंशों में बँट जाती है। पहला अंश गवर्नमेंट का है। वह मालगुजारी के रूप में वसूल किया जाता है। दूसरा अंश तअल्लुकेदारों और ज़मींदारों की जेब में जाता है। वे अपने उस अंश को काश्तकारों से लगान के रूप में लेते हैं। बाकी बचा तीसरा अंश बेचारे काश्तकारों को, उनकी मिहनत के बदले में, मिलता है।

अच्छा तो सरकार ने जो मालगुज़ारी निश्चित की है, उसे तो वह

जमींदारों से ले ही लेती है। पैदावार कम हो, इसकी वह परवाह नहीं करती। हाँ, यदि अवर्षण आदि के कारण किसी वर्ष कुछ भी न पैदा हो, या बहुत ही कम अनाज पैदा हो, तो चाहे वह भले मालगुजारी मुल्तवी कर दे या भूले-भटके छोड़ भी दे। कभी कभी तो देखा गया है कि सरकार मालगुजारी का कुछ अंश या सर्वांश छोड़ना चाहती है; पर जमींदार साहब ज़बरदस्ती लगान वसूल कर लेते हैं। इस कारण गवर्नमेंट को अपना पहला हुक्म मंसूख भी करना पड़ता है।

सरकार के बाद ज़मींदारों और तअल्लुकेदारों का नम्बर है। उनकी उदारता का उल्लेख हम कर ही चुके। काश्तकार चाहे मरे, चाहे जीता रहे—उसे कुछ बचे या न बचे—वे अपना अंश—अपना लगान—वसूल किये बिना नहीं रहते। सरकारी आमदनी निश्चित है और ज़मींदार की भी निश्चित है। सरकार यदि अपनी आमदनी में तीसरे साल इज़ाफ़ा करती है तो ज़मींदार उतने अरसे में तीन चार दफ़े इज़ाफ़ा करके अपना प्राप्य अंश, लगान, बढ़ा लेते हैं। इस दशा में खेती की उपज कम हो या अधिक, इन दोनों हिस्सेदारों में से किसी का कुछ भी बनता-बिगड़ता नहीं।

अब रहे काश्तकार। वे बेचारे खेती में तरक्की करें तो कैसे करें। आगरा प्रान्त में तो १२ वर्ष तक बराबर ज़मीन जोतने पर उस ज़मीन पर काश्तकार का मौरूसी हक़ हो जाता है। अवध में यह बात भी नहीं। अवध के काश्तकार कभी अपने खेतों को सुरक्षित नहीं समझते। तअल्लुकेदार साहबान अनेक पख़ें लगाकर उन्हें क़ानूनी शिकंजे में कस सकते और ज़मीन से बे-दख़ल कर सकते हैं। इस दशा में काश्तकारी की तरक्की कदापि नहीं हो सकती। यदि कोई ज़मीन की हैसियत सुधार कर कुछ अधिक अनाज पैदा करना चाहे तो करे कैसे? उसे यह डर जो लगा रहता है कि ऐसा न हो जो मैं बे-दख़ल कर दिया जाऊँ और पैदावार बढ़ाने के लिए किया गया ख़र्च व्यर्थ जाय।

खेतों में खाद डाल कर ज़मीन को उर्वरा बनाने, कुवाँ, तालाब आदि खुदा कर सींचने के वसीले पैदा करने और अच्छा बीज बोने ही से पैदावार बढ़ सकती है। ज़मीन है ज़मींदारों की। उन्हें चाहिए था कि वे ये सब काम करने के लिए काश्तकारों की मदद करते। बड़े बड़े चकों में अच्छी अच्छी फसलें—गेहूँ, तम्बाकू, कपास, मूँगफली और आलू वग़ैरह—पैदा करके वे दिखाते कि लो, तुम लोग इस तरह खेती किया करो। परन्तु यह वह नहीं करते। उन्हें अपने लगान से मतलब। खेती की तरक्की हो चाहे न हो। कुछ ज़मींदारों और तअल्लुकेदारों ने छोटे-छोटे चक (फार्म) खोले जरूर हैं। पर उनसे विशेष लाभ नहीं। और लाभ भी यदि है तो उन्हीं को है। साधारण काश्तकारों को उनसे कुछ भी लाभ नहीं; क्योंकि वे वैसे चक के लिए ज़मीन नहीं प्राप्त कर सकते। सुभीता न होने पर भी यदि कोई काश्तकार कुछ तरक्की करना चाहे तो उसके पास रुपया नहीं। अच्छा बीज वह कहाँ से लावे, कुवें किस तरह खुदावे और मेस्टन हल के दाम किससे लेकर दे? फिर किसी के पास १० बीघे ज़मीन, किसी के पास १५ बीघे। इतनी कम ज़मीन होने के कारण आलू, तम्बाकू, हल्दी आदि वह बोना चाहे तो कहाँ बोवे। जौ-चना और ज्वार-बाजरा न बोवे तो खाय क्या? और दस-पन्द्रह बीघे तो इन्हीं चीजों को बोने के लिए चाहिएँ।

विघ्नों और रुकावटों की इस परम्परा को देखकर लोगों को समझ लेना चाहिए कि इस प्रान्त में खेती की उन्नति करना कितना कठिन है। सरकार ने इन सब कठिनाइयों का उल्लेख करके यह सूचित किया है कि इस प्रान्त में खेती की दशा जो अच्छी नहीं, उसका दोष सरकार के सिर नहीं मढ़ा जा सकता। यह सब सच ज़रूर है। कसर इतनी है कि सरकार काश्तकारों की अपेक्षा ज़मींदारों को अधिक दाद देती है। वह यदि पुरानी सनदों की दुहाई न देकर कम से कम पुराने काश्तकारों की ज़मीन पर उन्हें मौरूसी हक़ दे देती और यह निश्चय कर देती कि इतने

से अधिक लगान न बढ़ाया जाय तो किसानों का थोड़ा बहुत भला ज़रूर हो जाता। परन्तु उसने यह भी नहीं किया। अतएव उसकी प्रजा-वत्सलता में किसान यदि सन्देह करें तो वे दोषी नहीं ठहराये जा सकते।

इन कठिनाइयों के होते हुए भी, सरकार कहती है कि उसने खेती की तरक्की के लिए ये ये काम किये हैं—

(१) कृषि की शिक्षा के लिए उसने कालेज और स्कूल खोल रक्खे हैं।

(२) गेहूँ, चना, ज्वार, बाजरा आदि के बीज रखने और किसानों के हाथ बेचने के लिए उसने जगह जगह बीज-भण्डार कायम कर दिये हैं।

(३) कृषि-विषयक जाँच करने के लिए उसने ऐसे कई विद्वान् नियत कर दिये हैं जो इस बात की खोज किया करते हैं कि किन ज़रियों से और किस तरह खेती की पैदावार बढ़ाई जा सकती है।

(४) जहाँ कुवें नहीं हो सकते, वहाँ पाताल फोड़ कर पानी निकालने के लिए उसने मिस्त्री और इंजिनियर नियत कर रक्खे हैं। बुलाने और खर्च देने से वे कुवें तैयार कर सकते हैं।

(५) खेती के आधार गायों और बैलों आदि की अच्छी नसलें पैदा करने की योजना भी उसने कर दी है। इसके लिए प्रान्तवासियों को चाहिए कि वे सरकार को धन्यवाद दें और प्रार्थना करें कि हुजूर, इन सुभीतों से हमें विशेष लाभ तब तक नहीं, जब तक बे-दख़ली के डर का भूत हमारे सिर से नहीं उतार लिया जाता और हमारे लगान के निर्ख की हद नहीं बाँध दी जाती।

सरकार ने एक काम और भी किया है। उसने अनेक चक अर्थात् फार्म खोल रक्खे हैं। वहाँ उन्नत प्रणाली से खेती होती है। यह उसने इसलिए किया है कि लोग भी उसी तरह खेती करें। परन्तु दो चार को छोड़ कर इन सभी चकों से घाटा ही घाटा होता है। यह बात स्वयं डाइरेक्टर साहब की रिपोर्ट ही कह रही है। और न भी हो तो चक

खोलना और उन्नत खेती करना निरीह और निरक्ष किसानों के बूते की बात नहीं। वह उनकी पहुँच के सर्वथा बाहर है।

रिपोर्ट के साल सरकार के इस महकमे में १९¼ लाख रुपया खर्च हुआ और आमदनी हुई सिर्फ ३¼ लाख की! बात यह है कि आमदनी बढ़ाने के लिए उसके पास साधन ही नहीं।

[मई १९२४.

सूबे आगरा का क़ानून काश्तकारी

जो जिस चीज़ का मालिक है, वही उसकी निगरानी भी अच्छी तरह कर सकता है। किराये के मकान में रहनेवाले उसकी मरम्मत की अधिक परवा नहीं करते। करते भी हैं तो उतनी ही जितनी से उनके आराम में बाधा न पड़े। यदि मकान रहने लायक नहीं रह जाता तो उसे छोड़कर वे और किसी मकान को किराये पर ले लेते हैं। किरायेदार और मालिक मकान, इन दो ही का सम्बन्ध होने पर भी, दोनों के स्वार्थ में कभी एकता नहीं होती। मालिक मकान अधिक किराया लेना और मरम्मत के लिए कम ख़र्च करना चाहता है। किरायेदार की इच्छा सदा इसकी उलटी होती है। अतएव दोनों में बहुधा नहीं पटती। इस दशा में यदि और भी कोई अपना सम्बन्ध जोड़ने के लिए कूद पड़े—यदि नगर विशेष की म्यूनीसिपैलिटी भी किराये के कुछ अंश पर अपना हक प्रगट करने लगे—तो कोढ़ में खाज का दृश्य उत्पन्न हुए बिना न रहे। तीन तीन हकों में परस्पर आकर्षण-विकर्षण होने पर बेचारे किरायेदार की दुर्गति का अनुमान सहज ही में किया जा सकता है।

हिन्दुओं के प्राचीन ग्रन्थों के अनुसार जमीन का मालिक वही है जो उसे जोतने-बोने लायक बनाता है और उस पर फ़सल पैदा करता है। उससे जो आमदनी काश्तकार को हो, उसका कुछ अंश पाने का मुस्तहक़ राजा ज़रूर है, क्योंकि वह काश्तकार और उसके जान-माल की रक्षा करता है। पर वह उस ज़मीन का मालिक होने का दावा नहीं कर सकता। परन्तु ये पुरानी बातें और पुराने विचार हैं। इन्हें अब कोई नहीं पूछता।

अब इस देश के राजा हैं अँगरेज अथवा उनके देश इँगलैंड के राजेश्वर। इन लोगों का दावा है कि सारी ज़मीन हमारी है। उनके इस दावे को भारतवासी तर्क द्वारा भ्रमपूर्ण साबित कर सकते हैं और कर भी चुके हैं। पर इससे कुछ होता-जाता नहीं। क्योंकि सबल सरकार उनके तर्क को हवा में उड़ा देती है। यदि बात यहीं तक रहती—यदि ज़मीन का सम्बन्ध काश्तकार और राजा ही से होता—तो भी ग़नीमत थी। परन्तु यहाँ तो इन दोनों के बीच में एक और मध्यस्थ भी कूद पड़े हैं। वे हैं ज़मींदार, नम्बरदार, तअल्लुकेदार और राजे-महाराजे। अनेक कारणों से इन लोगों को ज़मीन की ठेकेदारी सी मिल गई है। सूबे अवध और आगरे का अधिकांश इन्हीं लोगों की ठेकेदारी में है। गवर्नमेंट ने इनके हक को मान लिया है। वह कहती है कि ज़मीन के मालिक यही हैं। ये जिसे चाहें, ज़मीन को लगान या किराये पर दें। हम तो इनसे, मालगुजारी के रूप में, इनकी आमदनी का कुछ अंश लेकर ही क़नात करेंगे। हाँ, माल-गुजारी, लगान या किराये के सम्बन्ध में क़ानून जरूर बना देंगे, जिससे तहसील-वसूल, पट्टे और बे-दखली वगैरह का काम बाक़ायदा हुआ करे।

अब, देखिए, जहाँ तीन तीन स्वार्थों का परस्पर संघट्टन होगा, वहाँ बेचारे काश्तकारों या किरायेदारों के हकों की कहाँ तक रक्षा हो सकेगी! सरकार तीस चालीस वर्ष बाद ज़मीन की नई नाप-जोख करती है और कहती है कि यह "बन्दोबस्त" हो रहा है। इस बन्दोबस्त से मालगुजारी बढ़ जाती है। वह बढ़ी हुई रकम ज़मींदारों को देनी पड़ती है और सरकारी ख़जाने में जाती है। जमींदार अपने रुपये-पैसे का सदावर्त तो बाँटते नहीं। वे उससे भी अधिक रक़म अपने पट्टेदार किसानों से वसूल कर लेते हैं। बन्दोबस्त की यह बला तब से जारी है जब से अँगरेज़ी राज्य आगरा और अवध के सूबे में हुआ। यदि यह रफ्तार प्रलय पर्य्यन्त ऐसी ही रही तो किसी दिन प्रति बीघे ज़मीन का लगान शायद उतना ही हो जाय जितने सेर अनाज उसमें पैदा हो। बम्बई के पिछले गवर्नर

साहब ने फरमाया था कि यहाँ खेती की खूब तरक्की हो रही है। यदि उनके कथन में कुछ सत्यांश है तो सौ-पचास वर्ष बाद यहाँ के काश्तकार धनाधिपति कुबेर का मुक़ाबला करने योग्य ज़रूर हो जायँगे।

काश्तकारों की अपेक्षा ज़मींदार और तअल्लुकेदार अधिक शिक्षित और अधिक शक्तिशाली हैं। अतएव उनकी पहुँच भी सरकार तक अधिक है। वे हर तरह से अपनी आराम-तकलीफ की बातें उनके कानों तक पहुँचा सकते हैं। और इस ज़माने में रोने-धोने, हल्ला-गुल्ला मचाने और अर्ज़-मारूज करने से जितना काम निकलता है, उतना चुप रहने से नहीं निकलता। किसान प्रायः अपढ़ और अशिक्षित हैं। उनमें सङ्गठन की शक्ति नहीं। इसी से जब जब क़ानून लगान या क़ानून मालगुज़ारी में तरमीम होती है, तब तब ज़मीन के ठेकेदार ज़मींदार ही बाज़ी मार ले जाते हैं। उनके लाभ की बातें यदि १० हो जाती हैं तो किसानों के लाभ की दो-एक मुश्किल से हो पाती हैं; क्योंकि उनकी आवाज़ कानून बनाने-वालों तक नहीं पहुँचती। और पहुँचती भी है तो अत्यन्त धीमे सुर में। कौंसिल में उनका पक्ष लेनेवाले भी बहुत ही थोड़े मेम्बर हैं। जो हैं भी वे उनके कष्टों और उनकी असुविधाओं से काफ़ी जानकारी नहीं रखते।

जब किसानों के दुख-दर्द की कहानियाँ सुनते-सुनते सरकार ऊब उठती है, तब वह जाँच शुरू करती है। जाँच से यदि किसानों की शिका-यतों में वह कुछ सत्यांश पाती है तो कानून में रद्दोबदल कर देती है। पर रद्दोबदल करते समय कौंसिल में ज़मींदारों के प्रतिनिधि अनेक अड़ंगे लगाते हैं। फल यह होता है कि लाभ का बहुत ही कम अंश किसानों के पल्ले पड़ता है।

अवध के क़ानून लगान में तरमीम हुए तीन वर्ष हो गये। उससे किसी विषय में काश्तकारों को यदि थोड़ा सा लाभ पहुँचा है तो उसके साथ ही अन्य विषयों में उनकी बहुत सी हानि भी हो गई है। परन्तु सरकार को इस बात का बड़ा नाज़ है कि क़ानून में तरमीम हो जाने से

अवध के किसानों को, आगरा प्रान्त के किसानों की अपेक्षा अधिक सुभीते हो गये हैं। परन्तु सरकार का यह कोरा भ्रम है, इसमें ज़रा भी सन्देह नहीं।

अवध के किसानों के सुभीते का उल्लेख सरकार ने अपने एक वक्तव्य में किया है। उसका नम्बर है १८८६ 1 ए० और तारीख़ है २८ अप्रैल १९२४। वह एक सरकारी रेज़ोल्यूशन है और सरकार ही के प्रान्तिक गैज़ट में प्रकाशित हुआ है। इस मन्तव्य के द्वारा सरकार ने १० आदमियों की एक कमिटी बना दी है। यह कमिटी आगरा प्रान्त के टेनेन्सी ऐक्ट (क़ानून लगान या काश्तकारी) के दोषों पर विचार करेगी। फिर वह जो तरमीमें करने की ज़रूरत समझेगी, उनका मसविदा तैयार करके सरकार के दरबार में पेश करेगी। इसके बाद, सुभीते के साथ, वह मसविदा क़ानूनी कौंसिल में उपस्थित किया जायगा। वहाँ उसके सम्बन्ध में मनमानी उधेड़-बुन हो चुकने पर उसे क़ानून का रूप प्राप्त होगा।

आगरा प्रान्त का वर्तमान क़ानून काश्तकारी (Agra Tenancy Act) १९०१ ईसवी में "पास" हुआ था। उसका नम्बर है II (दो)। उसे बने कोई २३ वर्ष हुए। उस प्रान्त के किसानों पर वहाँ के ज़मींदार तरह तरह के ज़ोर-जब्र करते थे। वे जब चाहते थे, उन्हें बे-दख़ल कर देते थे। इज़ाफ़ा करने में भी मनमानी करते थे। इन्हीं और दूसरी भी अनेक शिकायतों को दूर करने के लिए इसकी सृष्टि हुई थी। इसकी रू से ज़मींदारों को कम से कम प्रायः सात वर्ष के लिए किसानों को ज़मीन का पट्टा देना पड़ता है। जिस ज़मीन पर किसान बराबर १२ वर्ष तक काबिज़ रहता है, उस पर उसका हक़ मौरूसी हो जाता है। पर इतने सुभीतों से भी वहाँ के किसान सन्तुष्ट नहीं। उनकी शिकायतों को दूर करने के लिए इस क़ानून का तरमीम-शुदह मसविदा १९१८ ईसवी ही में प्रकाशित हो चुका था। पर तब से वह खटाई में पड़ा रहा। इस

कार्य्य-तत्परता और कृपक-वत्सलता के लिए सरकार को शतशः धन्यवाद। खैर, सरकार का अब यह कहना है कि वह इस पिछले मसविदे में उल्लिखित सुभीतों की अपेक्षा भी अधिक सुभीते कर देने के लिए तैयार है। उसका आशय यह जान पड़ता है कि जैसे उसने अवध के किसानों को सुखी और सन्तुष्ट कर दिया है, वैसे ही वह आगरा प्रान्त के किसानों को भी करना चाहती है। अवध के किसान ज़मीन को यदि १०० वर्ष तक भी बराबर जोतें तो भी उसपर उनका मौरूसी हक़ नहीं हो सकता। उधर आगरे के किसानों को वह बारह ही वर्ष में प्राप्त हो जाता है तो क्या सरकार आगरा प्रान्त के किसानों का वह मौरूसी हक़ छीन तो नहीं लेना चाहती? यदि नहीं तो वह उन्हें और किस प्रकार अवध के किसानों के बराबर सुखी करना चाहती है?

कुछ भी हो, आगरा प्रान्त के किसानों को चाहिए कि वे अपना सङ्गठन करें और अभी से सावधान हो जायँ। अन्यथा इस सारे आयोजन से उन्हें बहुत ही कम लाभ पहुँचने की सम्भावना है। कमिटी शीघ्र ही अपना काम शुरू करनेवाली है। उसके प्रेज़िडेंट हैं फ्रीमैंटल साहब और सेक्रेटरी हैं लेन साहब। पण्डित ब्रजनन्दनप्रसाद मिश्र, पण्डित बैजनाथ मिश्र, लाला सीताराम आदि ६ हिन्दुस्तानी जन भी उसके मेम्बर हैं।

[जुलाई १९२४.

पागलखानों के सम्बन्ध की रिपोर्ट

जिस अँगरेज़ी गवर्नमेंट का आधिपत्य आज कोई डेढ़ सौ वर्ष से भारत पर है, उसे बहुत लोगों ने नौकर-शाही नामज़द किया है। उनका कहना है कि इंग्लैंड के राजेश्वर के नौकर ही यहाँ राज्य करते हैं। अतएव यहाँ की राज-पद्धति नौकरशाही के सिवा और कुछ नहीं। भारतवासियों का मरना जीना उन्हीं नौकरों के हाथ में है। इस नौकरशाही की शासन-पद्धति में दोष हो सकते हैं; परन्तु फिर भी उस बेचारी से जो कुछ बन पड़ता है, करती ही है। देखिए, उसने भारतवासियों के लाभ के लिए एक नहीं, तीन तीन पागलखाने इस प्रान्त में खोल रक्खे हैं। पागलपन के रोगियों की नस नस तक के पहचाननेवाले बड़े बड़े डाक्टर इन पागलखानों की निगरानी करते हैं। वे पागलों का पागलपन दूर करने की चिकित्सा भी करते हैं; और जो सीख सकते हैं, उन्हें कारीगरी सिखा कर उनसे दरियाँ, कालीन, चटाइयाँ और आसन आदि कितनी ही काम की चीज़ें भी तैयार कराते हैं। वहाँ रक्खे जाने से एक तो कुछ पागलों का रोग दूर हो जाता है; दूसरे वे कोई न कोई कारीगरी सीख कर चार पैसे पैदा करने योग्य भी हो जाते हैं। यह क्या कम लाभ की बात है?

परन्तु दोषदर्शियों की बुद्धि की बलिहारी! वे औरों के गुणों का गान तो करते नहीं; दोषों ही को दिखाते फिरते हैं। वे कहते हैं, वह कुछ नहीं; नौकरशाही अपना कर्तव्य पालन अच्छी तरह नहीं करती। वह सज़ा-याफ्ता पागल कैदियों को भी अपने पागलखानों में बन्द करती है और सर्व-साधारण पागलों को भी। साधारण पागलों में अनेक पागल भले घरों, यहाँ तक कि अमीर घरों, तक के होते हैं। खर्च देने पर सरकार उनको भी अपने पागलखानों में रख लेती है और उनकी चिकित्सा का प्रबन्ध करती है। उदाहरणार्थ, उन्माद की दशा में खुशी चमार ने अपनी

जोरू की नाक काट ली। सज़ा हो जाने पर वह भी बरेली के पागलखाने में रक्खा गया और करोड़ीमल का पागल लड़का हज़ारी भी। वहाँ उन दोनों को एक ही इमारत में रहने का सौभाग्य प्राप्त हुआ। भला यह कहाँ का न्याय है? लखपती का लड़का और चमार एक ही जगह!

दोष-दर्शियों के इस आक्षेप का ठीक ठीक समाधान यद्यपि नहीं किया जा सकता, तथापि कुछ कहा ज़रूर जा सकता है। अच्छा तो कल्पना कीजिए कि चीनियों या जापानियों का राज्य—भारत का तो नाम ही न लीजिए—यदि इंगलैंड में हो जाय तो वहाँ क्या दशा होगी। अँगरेजों की भाषा, उनकी सामाजिक स्थिति, उनकी रुचि, उनकी वेश-भूषा आदि से क्या राज्य के कर्मचारियों की सहानुभूति होगी? और क्या वे इन सब बातों के सम्बन्ध में अङ्गरेज़ों को सन्तुष्ट कर सकेंगे? क्या वे लोग पहले अपने हानि-लाभ को न देखकर अंगरेजों ही के हानि-लाभ को देखेंगे? क्या वे जो आराम और सुभीते अपने देश-वासियों के लिए प्रस्तुत करेंगे, वही इंगलैंड के भी लिए? यह तो सम्भव नहीं। क्योंकि "अव्वल खेश, बादहू दरवेश"। विदेशी होने के कारण जिस तरह उनसे बनेगा, अपना आधिपत्य अक्षुण्ण रक्खेंगे। हजारीमल को यदि चुन्नी चमार के साथ रहना पड़े तो उनकी बला से। यदि यह दृष्टान्त ठीक हो तो भारतवासियों को वर्तमान ही स्थिति से सन्तुष्ट रहना चाहिए। यदि उनका राज्य इँगलैंड में होता तो क्या वे अङ्गरेजों को उतने ही सुख-चैन से रखते जितने सुख-चैन से रक्खे जाने की आशा वे अङ्गरेजों से करते हैं? स्वराज्य की माँग दर-पेश है ही। जब मिल जाय तब चुन्नी और हजारी को अलग अलग रखना। तब तक चोरों, खूनियों, डाकुओं आदि के संसर्ग से लक्खू, हजारी और करोड़ी का चरित्र यदि बिगड़े तो लाचारी की बात है।

परन्तु इस इतनी छोटी सी त्रुटि के कारण सरकार को विशेष दोष भी नहीं दिया जा सकता। यह बात शायद अब तक उसके ध्यान में आई ही न थी। अब बहुत करके समालोचकों और दोष-दर्शकों की प्रेरणा से

उसके कान तक इसकी खबर पहुँच गई है। अतएव, १९२१,२२ और २३ ईसवी की त्रैवार्षिक रिपोर्ट में उसने लिखा है कि वह इस विषय में विचार कर रही है। बहुत सम्भव है कि वह सजायाफ्ता या मुजरिम कैदियों को तीन में से किसी एक ही पागलखाने में रक्खे जाने का प्रबन्ध कर दे। यदि ऐसा हो गया तो बाकी के दो पागलखाने सर्व-साधारण पागलों के लिए ही "रिजर्व" रहेंगे।

पागलखानों के सम्बन्ध की रिपोर्ट हर तीसरे साल निकलती है। जो रिपोर्ट हमारे सामने है, वह पिछले तीन वर्षों की है। उसकी कुछ बातें और भी सुन लीजिए। एक बात तो ऊपर टीका-टिप्पणी समेत पहले ही सुना दी गई।

इस सूबे में तीन पागलखाने हैं। एक बरेली में, दूसरा बनारस में, तीसरा आगरे में। उनमें ११३७ पुरुष-जाति और ३१६ स्त्री-जाति के पागलों के लिए जगह है। परन्तु १९२३ ईसवी में पागलों का रोज़ाना औसत १०८४ पुरुषों और २५५ स्त्रियों से अधिक नहीं पड़ा। १९२० में सब तरह के पागलों का रोज़ाना औसत था १३८४। पर १९२३ में वह घट कर १३०१ हो गया।

प्रस्तुत रिपोर्ट १९२१,२२ और २३ ईसवी की है। इसके पहले की रिपोर्ट भी तीन साल की—१९१८,१९,२० की थी। इन दोनों त्रैवार्षिक कालों के अन्त में पागलों की संख्या आदि इस प्रकार थी—

	१९१८-२०	१९२१—२३
भर्ती हुए	१३८२	१०७३
छोड़ दिये गये	९७६	७३८
मरे	५३४	४१९

इससे सूचित हुआ के इस समय पागलखानों में पागलों की संख्या बहुत कम है। १९२३ ईसवी से लेकर अब तक इतने कम पागल और कभी नहीं रहे। पहले फ़ी सदी १२ पागल मरे थे; अब केवल ११ के लगभग मरे हैं। बीमारों की संख्या भी घट गई है। इस सम्बन्ध में

बनारस के पागलखाने की दशा सन्तोषजनक नहीं। औरों की अपेक्षा वहाँ के पागल अधिक मरे हैं। बीमारी भी वहाँ अधिक होती है। विश्वनाथ-पुरी में मरकर शिव-सामीप्य पाने की इच्छा से शायद वहाँ के पागल जान-बूझ कर अपनी मौत बुला लेते हैं।

१९२३ में जितने पागल इन पागलखानों में बन्द थे, उनमें से १८ फ़ी सदी किसी न किसी जुर्म के कारण सज़ा-याफ्ता थे। अर्थात् वे पागल कैदी थे। ऐसे पागलों का रोज़ाना औसत २३७ था। ये लोग आगरे में सब से अधिक थे।

इन पागलखानों का ख़र्च पहले ७,३३,९१६ रुपये था। पिछले तीन वर्षों में बढ़ कर वह ७,६१,२८९ रुपये हो गया। कारण इसका सरकारी डाक्टरों और दूसरे मुलाज़िमों की तनख्वाहों का बढ़ना है।

इन पागलखानों के पागल हाथ से कुछ काम भी करते हैं। वे दरियाँ और क़ालीन वगैरह बुनते हैं। उनकी बिक्री से पहले ३०,७७० रुपये वसूल हुए थे। गत तीन वर्षों में इस मद की आमदनी बढ़कर ४५,९७१ रुपये हो गई। जो पागल वहाँ अपने खर्चे से रहते हैं, उनके लिए पाये गये रुपये में पहले की अपेक्षा, कोई १०½ हज़ार रुपये की कमी रही। मतलब यह कि बाहर के क़ैदी पागलखानों में रहने और दवा कराने कम आये।

प्रान्त के पागलखानों से आमदनी तो दस ही पन्द्रह हजार रुपया साल होती है, पर खर्च लाखों होता है। यह सब प्रजा के सुभीते के लिए। यद्यपि यह खर्च प्रजाजनों ही के पाकेट से आता है, तथापि यदि सरकार इस रुपये को और कामों में खर्च कर दे, पागलों के इलाज-मुआलजे के लिए एक पाई भी न दे, तो हम लोग सिवा रोने-पीटने के और कर ही क्या सकते हैं! अतएव, प्रजावत्सल सरकार को सोलहों आने धन्यवाद का पात्र समझना चाहिए। [जूलाई १९२४.

पागलखानों की त्रैवार्षिक रिपोर्ट

१९२४,२५,२६ ईसवी—गत तीन वर्षों—की पागलखानों की रिपोर्ट, संयुक्त-प्रान्तों के सरकारी गैज़ट में, निकले कुछ समय हुआ। उसे देखकर हमें कालेकाँकर के परम हिन्दी-प्रेमी और "सदा-समर-विजयी" परलोकवासी राजा रामपाल सिंह की याद हो आई। आप अपने दैनिक पत्र "हिन्दोस्थान" में जब इन रिपोर्टों की आलोचना करते थे, तब पागलखाने न लिखकर "बावरालय" लिखते थे। बावरा या बाउर एक ग्रामीण शब्द है, जो इन प्रान्तों के कुछ भागों में बोला जाता है। यह शब्द पागल का पर्यायवाची है और देहातियों को छोड़कर और लोग शायद ही कभी इसका प्रयोग मुँह से या कलम से करते हों। परन्तु राजा साहब को यही शब्द बहुत प्यारा था। किसी किसी शब्द के सम्बन्ध में आपकी वर्ण-स्थापना-पद्धति भी विलक्षणता से खाली न थी। आप "हिन्दोस्तान" या "हिन्दुस्थान" शब्द को या तो अशुद्ध समझते थे या वह उन्हें अरोचक किंवा अप्रिय था। क्योंकि आपने अपने पत्र का नाम रक्खा था—"हिन्दोस्थान"। मालूम नहीं, अरबी, फ़ारसी, तुर्की, हिन्दी या संस्कृत—किस भाषा के व्याकरण के अनुसार आप उसे शुद्ध मानते थे। आपके स्वभाव में और भी कितनी ही विचित्रतायें, स्वतन्त्रतायें या विलक्षणतायें थीं। आप जहाँ पर रहते थे वहीं, कुछ दूर पर, कुछ विला-यती सुअर पले हुए थे। शायद उन्हीं को देखकर एक बार आपने अपनी कवि-मण्डली के कवियों को समस्या दी थी—"जिन शूकर न खावा तिन व्यर्थं जन्म पावा है।" हमें स्मरण आता है, इसकी पूर्त्तियाँ भी की गई थीं। अस्तु। कहाँ से कहाँ चले गये। राजा साहब के बावरालयों ने यह इतनी भूमिका सी लिखा डाली।

सरकार अब तक पागलखानों को लुनैटिक असाइलम्स कहती थी; अब वह उन्हें मेंटल हास्पिटल्स कहने लगी है। पहले के शब्दों का अर्थ था—वे स्थान जहाँ पागल निवास करें। दूसरों का अर्थ होता है—मानसिक (विकारों या रोगों के) अस्पताल। मालूम नहीं, नाम के इस परिवर्तन की कौन ऐसी बड़ी ज़रूरत थी। हाँ, पिछले नाम में सार्थकता कुछ अधिक है। इसी से शायद उसने इसी को पसन्द किया है।

अपने प्रान्तों में तीन पागलखाने हैं—आगरा, बनारस और बरेली में। जिन तीन वर्षों की यह रिपोर्ट है, उनमें पागलों की संख्या इस प्रकार थी—

१९२४—१,३०४

१९२५—१,२२२

१९२६—१,२१३

इससे सूचित हुआ कि पागलों की संख्या में प्रति वर्ष कमी ही होती गई है। पर इससे यह न समझना चाहिए कि पागलपन की बीमारी कम हो गई है; अतएव कम पागल पागलखानों में भरती होते हैं। भरती का हिसाब नीचे देखिए—

१९२४—२९६

१९२५—३२६

१९२६—३४८

सो पागलों की कमी के औसत का कारण, नीरोग होकर या तो अधिक पागलों का अपने अपने घर चले जाना है, या मर जाना! मरे हुओं और घर चले जानेवालों का हिसाब देखिए—

१९२४—३७८

१९२५—३३५

१९२६—३६७

इनमें मृतों और गृह-गतों, दोनों की, संख्यायें सम्मिलित हैं। परन्तु

रिपोर्ट के लेखक ने साफ़ साफ़ लिख दिया है कि १९२४–२६ के बीच मरे हुए पागलों ही की संख्या अधिक थी।

किसी समय आगरे के पागलखाने में अधिक पागल रहते थे। १९१७ ईसवी में उनकी संख्या १००८ थी। पर १९२६ में यह संख्या घट कर ७९० ही रह गई। बाकी के दोनों पागलखानों में पागलों की संख्या तीन और साढ़े चार हो सौ के बीच में रहती आई है और अब भी प्रायः उतनी ही है।

जुर्म करने के कारण सजा पाये हुए मुलज़िम पागल भी इन पागलखानों में रहते हैं। १ जनवरी १९२६ को ऐसे पागलों की संख्या २२० थी। इनके सिवा फौजी गोरे भी, पागल हो जाने पर, यहाँ रक्खे जाते हैं। इस तरह के कोई २५ पागल, १९२६ के आरम्भ में तीनों पागलखानों में थे।

पिछले तीन वर्षों—अर्थात् १९२४, २५ और २६ ईसवी में—सब मिलाकर ९७० पागल इस प्रान्त के पागलखानों में भरती हुए। उनमें से ७३७ हिन्दू, २१० मुसलमान और २२ किरानी थे। इसका अर्थ यह हुआ कि आबादी के तारतम्य के हिसाब से पागलपन का रोग हिन्दुओं को अधिक सताता है; क्योंकि मुसलमानों के मुक़ाबले में उनकी संख्या-३¾ से भी अधिक किंवा चौगुनी से कुछ ही कम है। इससे सूचित होता है कि थोड़ा भी कारण उपस्थित होने पर हिन्दुओं के दिमाग़ में ख़राबी पैदा हो जाती है। कहीं हिन्दुओं के दिमाग़ जन्म या स्वभाव ही से कमजोर तो नहीं होते? इसका कोई विशेष कारण ज़रूर होगा। १९२१, २२ और २३ में तो हिन्दू पागलों की संख्या और भी अधिक, अर्थात् ८२२, थी।

पेशे के हिसाब से काश्तकार सबसे अधिक पागल होते हैं। उसके बाद कँगलों, सरकारी मुलाज़िमों और दूकानदारों का नम्बर है। हिसाब नीचे देखिए—

	काश्तकार	भिखमंगे	सरकारी मुलाज़िम	दुकानदार
१९२१,२२,२३	२२१	११७	१३६	७०
१९२४,२५,२६	१८४	१००	९०	९१

इस तालिका से जान पड़ता है कि अधिक काम करने, पेट भर खाने को न पाने और एक ही जगह बैठे रहने से भी मनुष्यों के दिमाग़ में ख़लल आ जाता है।

पागलपन का रोग २० से ४० वर्ष तक की उम्र के मनुष्यों को अधिक होता है। मर्द अधिक पागल होते हैं, औरतें कम। फी पाँच मर्दों के पीछे एक ही औरत पागल होती है। कारण यह मालूम होता है कि घर-गृहस्थी, इज़्ज़त-आबरू और रोग-शोक आदि से सम्बन्ध रखनेवाली चिन्ता मर्दों ही को अधिक सताती है। यह भी सम्भव है कि पागल स्त्रियों के अभिभावक उन्हें पागलख़ानों में अधिक न भेजते हों।

पिछले तीन वर्षों में इन पागलख़ानों के लिए सरकार को ७ लाख से भी अधिक रुपया ख़र्च करना पड़ा। जो पागल दे सकते हैं, वे कुछ फीस भी सरकार को देते हैं। १९२६ ईसवी में इस फ़ीस से कुछ कम दस हज़ार रुपया सरकार को मिल गया था। जो पागल कुछ काम कर सकते हैं, उनसे काम भी लिया जाता है। उन्हें कई तरह की कारीगरी भी सिखाई जाती है। उन लोगों के काम की बदौलत १९२६ ईसवी में सरकार को कुछ कम १६ हज़ार रुपये मुनाफ़े में मिले। वे लोग कपड़ा बुनते हैं, पगड़ियाँ और पट्टियाँ बनाते हैं, चटाइयाँ बुनते हैं और बाग़ात में भी काम करते हैं। सरकार की इस दयालुता को तो देखिए। वह पागलों का इलाज करती है, उन्हें आराम से रखती है और कारीगरी भी सिखाती है। अच्छे हो जाने पर, कारीगरी सीखे हुए पागल, अपने घर पर, हाथ से काम करके सैकड़ों रुपया पैदा कर सकते हैं। इस पर भी कुछ लोग सरकार से द्रोह करते हुए सुने गये हैं। यदि सचमुच ही कुछ

लोग ऐसे हों तो उन्हें भी किसी पागलखाने में भरती करा देना ही देश के सच्चे शुभ-चिन्तकों का कर्तव्य होना चाहिए।

सरकार की हितैषणा और दीन-दयालुता की एक बात लिखना हम भूल ही गये। उसने पागलों के मनोरञ्जन के लिए भी बहुत से प्रबन्ध कर रक्खे हैं। पागलों के लिए पचीसी, शतरञ्ज और ताश खेलने के लिए वक्त मुकर्रर है। वे लोग फुटबाल और टेनिस भी खेलते हैं। हर रविवार को ढोलक बजती है, मँजीरे की भी किट किट होती है और साथ ही दिल लुभानेवाला गाना भी होता है। जनाबे आली, रण्डियाँ भी कभी कभी पागलखानों में छमाछम करती हुई पधराई जाती हैं। वे नाचते समय अपने हाव-भाव दिखाकर और गाना सुना कर हर कक्षा के पागलों के दिमाग़ को ठिकाने लाने की चेष्टा करती हैं। पढ़ने के लिए पागलों को अख़बार भी दिये जाते हैं। पर एक बात की कमी है। पागलख़ानों में कुछ ग्रामोफ़ोन भी रहने चाहिएँ। उनपर बजाने के लिए और रेकार्डों के साथ एक रिकार्ड, पीछे से बजाने के लिए, यह भी रहना चाहिए—

राज करें अँगरेज़ सदाही।

[अक्टोबर १९२७.

हैज़े की कर्तव्य-परायणता

फ्रांस और जर्मनी आदि देश सभ्य-शिरोमणि हैं। वे जीवन के सुखोपभोग का महत्त्व खूब समझते हैं। वे जानते हैं कि मनुष्य-संख्या बढ़ जाने से सुख से रहने के साधन कम हो जाते हैं; वे मनुष्यों की अधिक संख्या में बँट जाते हैं। जिस कुटुम्ब में स्त्री-पुरुष दो ही आदमी हैं और वार्षिक आमदनी १००) है, उसमें यदि चार आदमी हो जायँ, अर्थात् दो की वृद्धि हो जाय, तो खाने-पीने का सुभीता आधा ही रह जायगा। इसी से वे लोग जनोत्पत्ति का नियमन करते हैं; वे मतलब से अधिक बच्चे पैदा ही नहीं होने देते। इस रोक-थाम की तरकीबें उन्होंने निकाली हैं। इन तरकीबों की जानकारी हासिल करना हो तो तीर्थराज के एक देश-हितैषी और दाम्पत्य-प्रेम के पुरस्कर्ता या उपकारी सम्पादक-शिरोभूषण से पूछ लीजिये। अथवा एक पाञ्चाल-देशीय पण्डित की लिखी हुई किताब पढ़ जाइए। भारत का दारिद्र्य-दूर करने ही के एक-मात्र उद्देश्य से, दीनों के दुःख से द्रवित-हृदय, इन परोपकार-व्रती वीरों ने इन तरकीबों का विस्तृत विवरण हिन्दी भाषा में प्रकाशित कर डाला है।

परन्तु इस देश—विशेष करके इन प्रान्तों—की अधिक जन-संख्या अक्षर-ज्ञान से अछूती होने के कारण उन तरकीबों से फ़ायदा नहीं उठा सकती। इधर ज़मीन की उर्वरा शक्ति कम हो जाने से अनाज कम पैदा होता है; उधर आबादी बढ़ती ही चली जा रही है। कोई ५० वर्ष पहले इस देश की आबादी केवल २८ करोड़ थी। दिन पर दिन उसकी वृद्धि होती देख प्रकृति-देवी ने, दया-परवश होकर, यहाँ प्लेग भेज दिया।

उसने बीस पच्चीस वर्षों में करोड़ों आदमियों को ठिकाने लगा दिया। पर आबादी फिर भी विशेष न घटी। २८ के ३२ करोड़ मनुष्य फिर भी बने ही हुए हैं। युद्ध के द्वारा कुछ कमी हो सकती थी। परन्तु पाक-परवरदिगार ने इस विषय में सहायता करने से इनकार कर दिया। भिखमंगों, कङ्काल मात्र शरीरवालों और नितान्त निर्बल मनुष्यों की आमदनी से उसने अपने लोक को कंगालों की बस्ती बनाने में अपना कुछ भी लाभ न देखा। इस कारण उसके वज़ीर-आज़म यमराज ने उसके दरबार से युद्ध की नामंजूरी का हुक्म निकलवा दिया। इसी से दो एक दफ़े युद्ध के बादल उमड़ आने पर भी वे इधर उधर बिखर गये। मगर जन-संख्या की वृद्धि से होनेवाले संकट अन्त में उस जगन्नियन्ता से भी न देखे गये। अतएव उसने इस वृद्धि को कुछ कम कर देने के इरादे से क्रूरकर्म्मा हैज़े महाराज को इस देश में भेज दिया। कभी कभी भूले भटके वे पहले भी इधर आ जाया करते थे। परन्तु अब, ईश्वरादेश पाने के कारण, वे यहाँ जम कर रहने लगे हैं। किसी न किसी प्रान्त में उन का डेरा लगा ही रहता है। थक जाने पर उनके काम में कुछ निष्क्रियता या शिथिलता देख पड़ती है। पर ज्योंही उन्हें ऊपर से चेतावनी मिलती है, त्योंही वे अपना काम फिर चुस्ती और चालाकी से करने लगते हैं। और प्रान्तों का क्या हाल है, नहीं कह सकते; वहाँ भी शायद उनके सेनानी अपनी कारपरदाज़ी दिखा रहे हों। पर अपने प्रान्त में तो वे अपना काम खुद ही करते हैं। आपको विश्वास न हो तो प्रान्तीय गवर्नमेंट का गैज़ट देख लीजिए। उसमें उनके काम का लेखा-जोखा प्रायः हर हफ्ते प्रकाशित हुआ करता है। १८ जून १९२७ के गैज़ट से मालूम हुआ कि उन्होंने कुछ कम १८०० मानवी प्राणियों पर आक्रमण कर दिया। उनमें से ४०० के करीब तो किसी तरह अपनी जान बचा कर भाग निकले। १४०० को विवश होकर आत्म-समर्पण करना ही पड़ा। वे सब कैद करके यमालय को भेज दिये गये। कुछ शहरों पर आपकी विशेष कृपा-

दृष्टि रही। ऐसे शहरों में कहाँ कितनों ने अपना प्राण-धन उनके हवाले किया, इसका हिसाब नीचे देखिए—

अल्मोड़ा	२६५
बलिया	११०
फ़ैज़ाबाद	२५९
गढ़वाल	२९३
झाँसी	२८८
मेरठ ज़िला	८५
सुल्तानपुर ज़िला	१८८

पहाड़ी ज़िलों की आबोहवा शायद हैज़ा जी को अधिक पसन्द है। इसी से बहुत करके वे वहीं के निवासियों पर अधिक कृपा करते हैं। अहोभाग्य उनके! फिर भी इस तरह आबादी कम होने की नहीं। हफ्ते में डेढ़ हजार ही आदमी यदि कम हुए तो कुछ न हुए। साल में अट्ठारह बीस हज़ार की कमी एक प्रान्त में हो जाना तो दाल में नमक के बराबर भी न हुआ। काम ज़रा ज़ोरों से चलना चाहिए।

कुछ लोगों का ख़याल है कि इस तरह नर-नाश होना मुनासिब नहीं। आदमियों को अपनी मौत मरना चाहिए और समय पर मरना चाहिए। परन्तु यह दलील हमें तो कुछ जँचती नहीं। घुल घुल कर मरने या आधे पेट रह कर जिन्दगी बसर करने की अपेक्षा तो अकाल और कम उम्र ही में मर जाना अच्छा है। मरना तो एक दिन है ही—

अद्य वाऽब्दशतान्ते वा मृत्युर्वै प्राणिनां ध्रुवः।

तब फिर, आज ही मर जाने से किसी की क्या हानि?

सन्तोष की बात इतनी ही है कि प्रान्तिक कौंसिल के मेम्बर भी लक्षणों से इसी सिद्धान्त के पक्षपाती मालूम होते हैं। अभी पिछले जून में कौंसिल का जलसा कई रोज़ तक लगातार होता रहा। उसमें उन लोगों ने गवर्नमेंट पर तरह तरह से आक्रमण-प्रत्याक्रमण और आक्षेप-

प्रत्याक्षेप किये। हाई कोर्ट के बाबुओं तक की तनख्वाह बढ़ाने के लिए घण्टों सिर-तोड़ विवाद हुए। कोई अभयचरण मुकुर्जी नाम के एक बङ्गाली महाशय किसी कालेज में लड़के पढ़ाते हैं। उनकी ऊँची जगह छिन जाने पर भी उन लोगों ने आकाश-पाताल एक कर दिया। पर जिस जन्म-मृत्यु की संख्या घटने-बढ़ने पर कुछ लोग बे-पर की हाँका करते हैं, उसके विषय में कुछ भी विशेष वाद-विवाद की ज़रूरत उन्होंने न समझी। और समझते भी कैसे? भगवान ने उन्हें बुद्धि दी है! सरकार बहादुर की बदौलत उसके स्कूलों और कालेजों में उन्होंने शिक्षा पाई है! भगवती लक्ष्मी की बदौलत और अपने पूर्व जन्मों के पुण्य-प्रताप की कृपा से श्रीमान् और आरोग्य-निधान बने हुए हैं। भला ऐसों से कहीं प्लेग और हैजे आदि के तुच्छ नियन्त्रण के सम्बन्ध में भाषण-विभ्राट् करने की नादानी हो सकती है?

कुछ लोग शायद कहेंगे कि मनुष्य ही न रहेंगे तो देश ही उजड़ जायगा। निवेदन यह है कि आज २५ वर्षों से करोड़ों आदमी हैजे, प्लेग और बुखार के शिकार हो गये। फिर भी देश आबाद है और उसकी आबादी घटने के बदले बढ़ रही है। अतएव उजड़ जाने की शङ्का कोरी कल्पना के सिवा और कुछ नहीं।

यदि यह कहा जाय कि गवर्नमेंट जब रिआया को अपनी सन्तति समझती है, तब उसको चाहिए कि वह उसे नीरोग रखने और दवा-पानी पहुँचाने की भी चेष्टा करे। इसका उत्तर यह है कि वह यह सब कुछ करती है, पर जहाँ तक उसकी पहुँच है, वहीं तक। आगे का काम औरों का है। इस सूबे में कोई ६०० अस्पताल हैं। उनमें से २५० दवाखानों को चलाने के लिए वह अपने खजाने से लाख-पचास हज़ार ही नहीं, पूरे साढ़े पाँच लाख रुपये हर साल खर्च कर देती है। वह और करे ही क्या? क्या सभी दवाखानों का खर्च वही दे? तो फिर और महकमों को वह कैसे चलावे? चाहिए तो यह था कि जिन डिस्ट्रिक्ट बोर्डों को उसने

अपने देश-भाइयों पर "स्वराज्य" करने का अधिकार दे रक्खा है, वही यह सारा खर्च चलाते। पर वे लोग इतने निकम्मे और इतने कठोर-हृदय हैं कि अपनी तरफ़ से केवल ३५० दवाखाने जारी कर सके हैं और इस काम के लिए केवल २८ लाख रुपया खर्च करते हैं। अगर इन लोगों को अपने ही भाई-बन्दों पर कुछ तर्स आता तो ये ज़रूर ही अधिक खर्च करते। पर ये भी उसी सिद्धान्त के पृष्ठ-पोषक मालूम होते हैं जिसका उल्लेख ऊपर एक श्लोकार्द्ध में किया जा चुका है।

सभी कामों में सरकार से सहायता माँगना अकर्मण्यता का सूचक है। माँगना—याचना करना—भी क्या कोई अच्छी बात है? मँगबो भलो न बाप सों जो विधि राखे टेक।

डिस्ट्रिक्ट बोर्डों को हज़ार दफ़े गरज़ हो तो गाँव गाँव में न सही, बड़े बड़े कसबों ही में, दवाखाने खोलें; गश्ती दवाखानों का प्रबन्ध करें; और ज़रूरत समझें तो कलकत्ते की बर्मन-कम्पनी से अर्क-कपूर की दो चार हज़ार शीशियाँ खरीद करके देहाती मदरसों और पटवारियों को बाँट दें और उन्हें हिदायत करें कि हैज़ा फूटने पर वे उनसे मरीज़ों का इलाज किया करें।

पर हमारी प्रार्थना तो यह है कि प्रकृति या परमेश्वर, हैजा, प्लेग और जूड़ी-बुखार को किसी मतलब से—आबादी कम करके सुख-समृद्धि बढ़ाने के मतलब से—भेजता है। अतएव उसके इस सदुद्देश्य के विघात का प्रयत्न करना मनुष्य के लिए सम्भव नहीं। अतएव गवर्नमेंट और डिस्ट्रिक्ट बोर्डों को दोष न देकर हम लोगों को भाग्य के भरोसे चुपचाप बैठे रहना चाहिए। क्योंकि—भाग्यं फलति सर्वत्र न विद्या न च पौरुषम्।

[अक्टोबर १९२७.

विवेचना-खण्ड

प्रारम्भिक शिक्षा की उन्नति के मार्ग में कंटक

संयुक्त-प्रान्तों में प्रारम्भिक शिक्षा की बुरी दशा है। बहुत ही कम लड़के प्रारम्भिक शिक्षा पाते हैं। जो पाते हैं, उनमें से भी अनेक लड़के वर्ष ही दो वर्ष में मदरसा छोड़ देते हैं। सारे हिन्दुस्तान में शिक्षा की कमी है। और देशों से हिन्दुस्तान का मुक़ाबिला करने पर इस कमी का रूप बड़ा ही भयङ्कर मालूम होता है। इसी तरह इस देश के प्रान्तों से हमारे प्रान्तों का मुक़ाबिला करने पर भी यह कमी बहुत ही सन्तोषजनक जान पड़ती है। बङ्गाल, मदरास और बम्बई प्रान्तों की तो बात ही नहीं, ब्रह्म देश से भी हमारा प्रान्त प्रारम्भिक शिक्षा में पिछड़ा हुआ है। इन पूर्वोक्त प्रान्तों में जो शिक्षा प्रारम्भ दशा में, दी जाती है, वह इन प्रान्त-वासियों ही की भाषा और इन्हीं की स्वदेशी लिपि के द्वारा दी जाती है। अतएव वहाँ प्रारम्भिक शिक्षा की दशा अच्छी होनी ही चाहिए। हमारे प्रान्तों में यह बात नहीं। इसी से प्रारम्भिक शिक्षा की इतनी बुरी दशा है। शिक्षा की इस कमी के और भी कारण हैं। पर एक कारण, और बहुत बड़ा कारण, यह है कि संयुक्त प्रान्तों के देहाती मदरसों में देवनागरी अक्षरों के साथ विदेशी, फ़ारसी अक्षर, भी जारी हैं। उर्दू में जो शिक्षा दी जाती है, वह फ़ारसी अक्षरों के द्वारा दी जाती है। यह बात प्रारम्भिक शिक्षा के विस्तार-मार्ग में कंटक हो रही है। जिन नागरी अक्षरों को लड़के एक ही महीने में अच्छी तरह सीख सकते हैं, उनके बदले फ़ारसी के अस्वाभाविक अक्षर सीखने में उन्हें छः महीने लग जाते हैं। यह

क्लिष्टता आगे भी लड़कों का पिण्ड नहीं छोड़ती। इन असम्पूर्ण और क्लिष्ट अक्षरों के द्वारा शिक्षा मिलने से, जो बातें छोटे छोटे लड़के एक वर्ष में सीख सकते हैं, उन्हें सीखने में उनको दो दो तीन तीन वर्ष लग जाते हैं। फिर भला, हमारे प्रान्तों में यदि शिक्षा की दशा शोचनीय हो तो क्या आश्चर्य! देवनागरी अक्षरों में हिन्दी की शिक्षा प्राप्त करने का सरकार ने देहात में सर्वत्र प्रबन्ध कर दिया है। उसकी गलाई नहीं। पर हिन्दी और उर्दू दोनों के पढ़ाने का प्रबन्ध होने और उर्दू कचहरी की भाषा होने से कुछ लोग उर्दू के दोष न समझ कर ही उसमें अपने लड़कों को शिक्षा दिलाते हैं। फल यह होता है कि महीनों का काम बरसों में होता है; और शिक्षा-प्रचार के काम में व्याघात आता है। अतएव गवर्नमेंट को चाहिए कि प्राइमरी शिक्षा हिन्दी ही के द्वारा दी जाने का प्रबन्ध करे। देहात में तो मुसलमान भी हिन्दी ही भाषा और देवनागरी ही अक्षरों को पसन्द करते हैं। अतएव राजा और प्रजा, देश और प्रान्त, सबके लिए यही हितकर है कि प्रारम्भिक शिक्षा देवनागरी ही लिपि के द्वारा दी जाय। इन प्रान्तों की गवर्नमेंट ने प्रारम्भिक शिक्षा के सम्बन्ध में, जो मन्तव्य, अभी हाल में, प्रकाशित किया है, उससे सूचित होता है कि वह इस शिक्षा के विस्तार को बढ़ाना चाहती है। अतएव उसे चाहिए कि देवनागरी लिपि के द्वारा ही शिक्षा देने का प्रबन्ध करे। तभी उसकी विशेष वृद्धि होगी और बहुत जल्दी होगी। जहाँ मुसल्मानों या अन्य ऐसे लोगों की बस्ती काफ़ी हो जो फ़ारसी लिपि ही को पसन्द करते हों, वहाँ उस लिपि के द्वारा भी शिक्षा देने का सुभीता कर दिया जाय; पर सर्वत्र नहीं। कोई कारण नहीं कि हर मदरसे में फ़ारसी और नागरी लिपि सिखाने का प्रबन्ध करके छोटे छोटे बच्चों से एक महीने की मंजिल छः महीने में तै कराई जाय। प्रारम्भिक शिक्षा समाप्त होने पर अरबी, फ़ारसी, नागरी जो जिस लिपि को पसन्द करे, उसे उसी लिपि में शिक्षा प्राप्त करने की स्वतन्त्रता अवश्य रहे। पर उसके पहले नहीं। समझदार और दूरन्देश

मुसल्मानों को भी इसमें आपत्ति न होनी चाहिए। क्योंकि बिलग्रामी जैसे विद्वानों ने इस बात को स्वीकार किया है कि फ़ारसी अक्षरों ने मुसलमानों के शिक्षा-विस्तार में बड़ी बाधा डाली है। यदि उनकी यह कामना हो कि उनके लड़के थोड़े ही परिश्रम से बहुत बातें सीख लें तो तअस्सुब छोड़ कर उन्हें भी देवनागरी ही लिपि को मान देना चाहिए। उनका कर्तव्य है कि अपने समाज, अपने प्रान्त, अपने देश और अपने बच्चों की बेहतरी के लिए वे ऐसा ही करें।

[जुलाई १९१२.

देशी भाषाओं के द्वारा शिक्षा-प्राप्ति का महत्व

कुछ समय हुआ, मदरास के सब से बड़े पादड़ी, अर्थात् लार्ड बिशप, ने बँगलोर में एक व्याख्यान दिया था। व्याख्यान था विश्वविद्यालयों के विषय में। उसमें उन्होंने जो विचार व्यक्त किये, वे बड़े ही उदात्त और उदार हैं। आपने और और बातों के सिवा यह भी कहा कि विश्वविद्यालयों में देशी भाषाओं में शिक्षा दी जानी चाहिए। पहले पहल जब विश्वविद्यालयों की स्थापना हुई थी, तब अङ्गरेजी भाषा के द्वारा शिक्षा देने का कारण शायद विवशता थी। उस समय हमारी भाषायें यथेष्ट उन्नत न थीं। अथवा अधिकारियों को किसी कारण से उनमें शिक्षा देना उचित नहीं जँचा। परन्तु अब यह बात नहीं। भारतवासियों को तीन हज़ार मील दूर के देश की भाषा में शिक्षा देना अस्वाभाविक है। ऐसी शिक्षा आदर्श शिक्षा नहीं। यद्यपि इस देश के अनेक शिक्षित जन अङ्गरेज़ों ही के सदृश अङ्गरेज़ी लिख सकते हैं और बोल भी सकते हैं, पर यह बात सब के लिए नहीं कही जा सकती। अंग्रेजी में इतनी योग्यता प्राप्त कर लेना कि हृदय में जो विचार उठें, अङ्गरेजी ही में उठें, बहुत कठिन है। और यदि ऐसा हो भी जाय तो भी अँगरेजी में इतना बड़ा पण्डित होने के लिए बहुत परिश्रम और बहुत समय दरकार है। यदि देशी भाषाओं में शिक्षा दी जाय तो समय और श्रम की बहुत बचत हो। उस समय और श्रम के सद्व्यय से और उपयोगी काम किया जा सकता है। अपने देश की भाषाओं के साहित्य और कविता के परिशीलन से इस देश के निवासियों के संस्कार, विचार और सदाचार

में जितनी उन्नति हो सकती है, उतनी अँगरेजी भाषा के साहित्य के परिशीलन से नहीं। अँगरेजी द्वारा प्राप्त हुए भावों का हृदय पर कभी उतना असर नहीं हो सकता जितना कि मातृभाषा द्वारा प्राप्त किये गये भावों का। जब तक विश्वविद्यालयों में अङ्गरेजी भाषा के द्वारा शिक्षा का क्रम जारी रहेगा, तब तक शिक्षा के सच्चे फल से अधिकांश भारतवासी वञ्चित ही रहेंगे। वर्तमान शिक्षा का असर छोटे छोटे गाँवों और क़सबों में रहनेवालों पर कभी पड़ने का नहीं।

ऐसे उदार विचारों के लिए पादड़ी महोदय को अनेक धन्यवाद। अङ्गरेजी के अनन्य भक्तों पर क्या आप के इन वचनों का कुछ असर होगा? आशा तो नहीं। इन भक्तों का यह हाल है कि वे घर पर अपने मित्रों के साथ बात-चीत करते समय भी अँगरेजी ही झाड़ते हैं। यदि कोई उनसे अपनी बोली में कुछ कहे तो गुस घृणा-पूर्वक उसकी तरफ से मुँह फेर कर अङ्गरेजी-प्रेमी की तरफ मुखातिब हो जाते हैं। यदि पेच में पड़ कर अपनी बोली बोलते भी हैं तो बीच बीच में अँगरेजी के शब्द अवश्य ही मुँह से निकालते हैं। इसे मजाक न समझिए। अभी उस दिन खुद हमारे ही स्थान पर एक ऐसा दृश्य हुआ। विलायत से लौटे हुए एक कुलीन कनवजिया जी ने यह अभिनय किया था। अङ्गरेजों से अङ्गरेजी बोलिए; जो लोग आप की भाषा न समझ सकें, उनसे बोलिए; चाहे तो दफ्तर में भी अङ्गरेजी ही झाड़िए; पर घर पर अपने भाइयों से अँगरेजी में बात-चीत क्यों? ऐसे लोगों से क्या कभी यह आशा की जा सकती है कि ये अपनी भाषा में कुछ लिख कर अपने अशिक्षित अर्ध-शिक्षित भाइयों की ज्ञान-वृद्धि करेंगे? इन्हें तो यदि हम हिन्दी में पत्र लिखते हैं तो भी वे उसका उत्तर अङ्गरेजी ही में देते हैं। खुद हमारे ही एक आत्मीय का यह हाल है।

[नवम्बर १९१२.

क्या वर्तमान शिक्षा से सामाजिक नीति में कुछ सुधार हुआ है ?

यह प्रश्न बड़े महत्त्व का है। अब तक सब लोगों का यही विश्वास था—और, यह विश्वास भविष्यत् में बहुत समय तक बना ही रहेगा—कि लिखना-पढ़ना सीखने से सामाजिक नीति सुधर जाती है और मनुष्य शीलवान् बन जाता है। इसी विश्वास के आधार पर अपराधियों की जाँच करनेवालों ने यह सिद्धान्त प्रगट किया है कि निरक्षर और अशिक्षित लोगों में अपराधियों की संख्या अधिक होती है। इटली देश के प्रोफ़ेसर लोमब्रोसो ने अपनी एक पुस्तक में लिखा है कि जिन लोगों के शरीर का आकार—उदाहरणार्थ नाक, सिर और चेहरे की रचना—अमुक तरह की होती है, वही अधिक अपराध करते हैं। किसी व्यक्ति, समाज या जाति की नीति की परीक्षा करने के लिए यह जानना आवश्यक है कि वह अपराध, गुनाह या जुर्म से मुक्त है या नहीं। जिस समाज या जाति में अपराधियों की संख्या बहुत कम होती है, वह निस्सन्देह नीतिमान् कही जा सकती है। परन्तु यह बात समझ में नहीं आती कि शरीर-रचना के साथ अपराधों का क्या सम्बन्ध है। शरीर-रचना की दृष्टि से, विश्वविद्यालय में शिक्षित मनुष्य और अपराधी के दिमाग में कोई भेद नहीं देख पड़ता। इसी विषय पर विलायत के डाक्टर गोरिङ्ग ने एक पुस्तक प्रकाशित की है। आपने विलायत में जरायम-पेशा समझी जानेवाली अनेक जातियों के आदमियों की जाँच करके यह सिद्ध कर दिया है कि शरीर-रचना के साथ जुर्मों का कोई सम्बन्ध नहीं। यहाँ तक तो सब ठीक

हुआ। कोई विशेष आश्चर्य्य की बात न देख पड़ी। परन्तु जब गोरिंग साहब मुजरिमों के विषय में जाँच करने लगे, तब उन्हें यह मालूम हुआ कि निरक्षर और अशिक्षित लोगों की अपेक्षा साक्षर और शिक्षित लोगों ही में अपराधियों की संख्या अधिक है। विलायत में, फ़रवरी १९१० से नवम्बर १९११ तक, २०० नक़बज़नी के और २५० चोरी के मुकद्दमे रजिस्टर में दर्ज हुए। नक़बज़नी में १६६ (अर्थात् ८३ सैकड़ा) और चोरी में १७२ (अर्थात् ६९ सैकड़ा) ऐसे आदमी पाये गये जिन्होंने अच्छी शिक्षा "Good Education" पाई थी। सारांश यह कि शिक्षित लोगों ही में अपराधियों की संख्या अधिक पाई गई। यह सचमुच आश्चर्य्य और खेद की बात है! अपराध अथवा अनीति का सम्बन्ध शरीर-रचना के साथ है या नहीं, इस बात से कई गुना अधिक महत्त्व शिक्षा और नीति का है। सामाजिक नीति की दृष्टि से गोरिंग साहब की बातें विचार करने योग्य हैं। यदि लिखे-पढ़े और शिक्षित लोगों में भी अपराधियों की कमी नहीं है तो यह प्रश्न उपस्थित होता है कि वर्तमान शिक्षा से सामाजिक नीति में कुछ सुधार हुआ है या नहीं? सोचने की बात यह है कि वर्तमान समय के 'शिक्षित' जन नीतिमान् और शीलमान् हैं या नहीं?

[जनवरी १९१४.

मातृ-भाषा में शिक्षा-प्राप्ति का महत्व

मदरास में लार्ड बिशप (सबसे बड़े पादरी), डाक्टर हेनरी ह्वाइट-हेड, की राय है कि इस देश के स्कूलों ही में नहीं, कालेजों में भी, मातृ-भाषा ही के सहारे सब तरह की शिक्षा देना उचित है। उन्होंने इस विषय में एक लेख मदरास के हिन्दू नामक पत्र में प्रकाशित कराया है। उसका आशय यह है—

अँग्रेजी भाषा में शिक्षा देने से अनेक हानियाँ हैं। उससे विद्यार्थियों के दिमाग़ पर बेजा बोझ पड़ता है। उससे अधिकांश विद्यार्थियों की वह शक्ति, जिसकी प्रेरणा से नये नये विचार सूझ पड़ते हैं, बिलकुल ही मारी जाती है। स्वतन्त्र विचारों का बीज ही उनके हृदय में नष्ट हो जाता है। फिर, जो कुछ वे अँग्रेजी के द्वारा सीखते हैं, उसे अच्छी तरह समझ ही नहीं सकते। स्कूलों के अध्यापक स्वयं ही अँग्रेजी में पारङ्गत नहीं होते। इस कारण विद्यार्थियों की शिक्षा में बाधा पड़ती है। अँग्रेजी में शिक्षा प्राप्त करने से अँग्रेजी जाननेवाले लोगों का दल अँग्रेजी न जानने-वालों से पृथक् होता जाता है। दोनों दलों में सहानुभूति और एकजीवता कम होती जाती है। जातीयता को इससे बड़ा धक्का पहुँचता है। अँग्रेजी के कारण ही देशी भाषाओं की उन्नति नहीं होती। सुशिक्षित लोग अँग्रेजी ही में अपने मनोभाव प्रकट करते हैं। फल यह होता है कि उनके उच्च भावों और विचारों से अँग्रेजी न जाननेवाले वञ्चित रह जाते हैं। इससे बढ़ कर क्या हानि हो सकती है ? अधिकांश भारतवासी अँग्रेजी नहीं जानते। वे सारे के सारे शिक्षितों की शिक्षा और विद्या से दमड़ी भर भी लाभ नहीं उठा सकते।

शिकायत इस बात की है कि देशी भाषाओं की शिक्षा दी कैसे जाय, आवश्यक पुस्तकें तो हैं ही नहीं। विज्ञान के पारिभाषिक शब्द भी नहीं हैं। भाषायें भी कोड़ियों हैं। किस किस में शिक्षा दी जाय ? इन सब एतराज़ों में कुछ भी सार नहीं । आप यहाँ की भाषाओं में शिक्षा देना आरम्भ कीजिए; छः ही महीने में पाठ्य पुस्तकों के ढेर लग जायँगे। बाइबल का तर्जुमा भारत की सभी भाषाओं में हो गया है। उसके लिए पारिभाषिक शब्द कहाँ से आये ? भाषायें अनेक अवश्य हैं, पर कुछ अधिक खर्च करने से यह कठिनता भी दूर हो सकती है। कितनी ही भाषायें परस्पर बहुत कुछ मिलती-जुलती हैं। तब तक प्रधान प्रधान भाषाओं के द्वारा ही शिक्षा-दान का काम आरम्भ कीजिये । जिस लड़के की भाषा तामील है, वह अँग्रेज़ी की अपेक्षा तिलेगू भाषा में अधिक सरलता से शिक्षा प्राप्त कर सकता है। हाँ, राजनैतिक दृष्टि से अँग्रेजी पढ़ने की आवश्यकता पर बहुत कुछ कहा जा सकता है। पर हम यह कहाँ कहते हैं कि अँग्रेजी की पढ़ाई बन्द कर दी जाय। नहीं, अँग्रेजी खूब पढ़ाई जाय । पर उसकी शिक्षा भाषा की हैसियत से दी जाय—मातृभाषा की प्रधानता रहे, अँग्रेजी की गौणता । सारे उपयोगी विषय और विज्ञान मातृ-भाषा में सिखाये जायँ। अँग्रेजी सिर्फ इस उद्देश्य से पढ़ाई जाय जिसमें पढ़नेवाले उसमें आसानी से बात-चीत कर सकें, उसमें अपने मन के भाव व्यक्त कर सकें और उसे अच्छी तरह समझ लें । मातृ-भाषा में और सब विषयों की शिक्षा देने से अँग्रेजी भाषा सीखने में तो और भी सुभीता होगा। इस क्रम के स्वीकार से बड़े लाभ होंगे। मूर्खता कम हो जायगी। अधिकांश भारतवासी पश्चिमी देशों की विद्या और विज्ञान से परिचित हो जायँगे । देशी भाषाओं के साहित्य की वृद्धि होगी । पारस्परिक सहानुभूति बढ़ जायगी । विद्यार्थियों के दिमाग पर बोझ कम पड़ेगा। उनकी तन्दुरुस्ती न बिगड़ेगी । थोड़े ही समय में वे बहुत बातें सीख सकेंगे।

बिशप महोदय के कथन का सारांश इतना ही है। आपका कथन अक्षरशः सच है। कोई देश अपनी भाषा को उन्नत किये बिना उन्नत नहीं हो सकता। अभागा भारतवर्ष ही एक ऐसा देश है जहाँ के निवासी अङ्गरेज़ी का अल्प ज्ञान प्राप्त करके ही अपने को बृहस्पति समझने लगते हैं। और प्रान्तों की हम नहीं कहते, हमारे प्रान्त में तो सिर्फ संस्कृत और हिन्दी जानना मूर्खता और अज्ञता की सनद समझी जाती है। कुछ लोग तो ऐसे भी हैं जो अपनी मातृभाषा हिन्दी में लिखने और बात-चीत करनेवालों से घृणा तक करते हैं। उन्हें वे मनुष्य ही नहीं समझते। वे बोलेंगे तो अँगरेज़ी, लिखेंगे तो अँगरेज़ी, पढ़ेंगे तो अँगरेज़ी! हिन्दी का कोई शब्द मुँह से निकल जाने पर शायद ये लोग अपने आपसे भी मन ही मन घृणा करते होंगे। ये अपनी भाषा भूल जाने की कोशिश में हैं। जब कभी लाचार होकर बोलते भी हैं, तब उसके उच्चारण की जान बूझ कर वह दुर्दशा करते हैं कि सुन कर दुःख होता है। अँगरेज़ तो अपनी भाषा बोलने पर गर्व करते हैं; और हम उसे भूल जाने पर! यह सब वर्तमान शिक्षा-पद्धति की अस्वाभाविकता ही का फल है। अतएव उसके संस्कार की बड़ी आवश्यकता है।

[मई १९१४.

देश-भक्ति की बात

आज-कल देश-भक्ति, देश-हित और देश-प्रेम आदि शब्द बहुत अधिक सुनाई पड़ते हैं। स्वदेश, स्वदेशी, स्वदेश-प्रेम और स्वदेशहितैषणा के गीत गाये जाते हैं; पुस्तकें लिखी जाती हैं; अख़बारों में कवितायें प्रकाशित होती हैं। परन्तु इस बात का विचार बहुत कम लोग करते होंगे कि हमारी भक्ति और हमारे प्रेम के आस्पद देश का अर्थ क्या है। देश कहते किसे हैं? किसकी भक्ति करने—किसका हित-साधन करने—से मनुष्य देश-भक्त कहा जा सकता है? नगर, क़सबे, गाँव, पेड़, पहाड़, जङ्गल, नदियाँ, तालाब, मकान, मन्दिर, मसजिद आदि का समूह ही देश नहीं। ये सब देश के अन्तर्गत हैं अवश्य; पर "देश" के साथ जिस "भक्ति" का ग्रन्थि-बन्धन हुआ है, उस भक्ति का सम्बन्ध एक मात्र इन्हीं से नहीं। इस भक्ति और इस हित का सम्बन्ध देश में रहनेवालों से है; पेड़, पहाड़, नगर और क़सबे आदि से नहीं। अच्छा तो देश में रहते कौन हैं? देश में रहते हैं कोई ७० फ़ी सदी कृषक—किसान, खेतिहर—; ११ फ़ी सदी उद्योग-धन्धा करनेवाले; ६ फ़ी सदी बनिज—व्यापार और महाजनी करनेवाले। बाक़ी १३ फ़ी सदी में आपके वकील, डाक्टर, बैरिस्टर, मास्टर, डिपटी कलेक्टर आदि हैं। पर इस 'आदि' में भिखमंगों, वेश्याओं, खानगी नौकरों, पुलिस और पलटन के जवानों और अनिश्चित पेशेवालों ही की संख्या अधिक है। गिनती में वह १२ फ़ी सदी से भी अधिक हैं। अतएव सुशिक्षित कहानेवाले भारतवासियों का औसत सैकड़े पीछे एक भी नहीं पड़ता। मर्दुमशुमारी की रिपोर्ट यही कहती है। इस दशा में, यदि देशभक्ति का अर्थ देश में रहनेवालों पर भक्ति करने से है, तो देश-

वासियों में अधिक संख्या किसानों ही की है। परन्तु देश की उन्नति के लिए अब तक जो प्रयत्न किया गया है और इस समय भी जो किया जा रहा है, उसके कितने अंश का सम्बन्ध किसानों से है? हर साल जो यह कांग्रेस होती है, उसने आज तक किसानों पर अपनी कितनी भक्ति प्रकट की है? उसके 'पास' किये हुए प्रस्तावों में कितने प्रस्ताव ऐसे हैं जिनसे किसानों को लाभ पहुँचने की सम्भावना हो? अथवा प्रान्तिक सभाओं ही ने इन बेचारों के लिए क्या किया है? कांग्रेस के जो प्रतिनिधि इस समय विलायत की हवा खा रहे हैं, वे इन लोगों की कौन कौन सी शिकायत सुनाने के इरादे से वहाँ गये हैं? यदि ये ७० फी सदी कृषक दुर्भिक्ष और अत्याचार से पीड़ित होकर नष्ट हो जायँ तो फिर देश की क्या दशा हो? तो भी क्या यह देश 'देश' रह जायगा? जब देश ही उत्सन्न हो जायगा तो सैकड़ों सुरेन्द्र, सैकड़ों मालवीय और सैकड़ों गोखले की स्पीचों से भी वह अपनी पूर्वावस्था को प्राप्त न होगा। इसलिए कि यदि कृषकों से लगान मिलना बन्द हो जाय तो बड़े बड़े राजा-महाराजों और तअल्लुके-दारों की दुर्गति का ठिकाना न रहे, सरकार के शासन-चक्र का चलना बन्द हो जाय, वकीलों और बैरिस्टरों के गाड़ी-घोड़े बिक जायँ, और व्यापारियों तथा महाजनों को शीघ्र ही टाट उलटना पड़े। जिस अन्न के बिना कङ्गाल से चक्रवर्ती राजा तक का काम नहीं चल सकता, उसके उत्पादक किसानों की संख्या जिस देश में कुल आबादी की ¾ हो, उनकी उन्नति की कुछ भी चेष्टा न करके देश-भक्ति और देश-प्रेम का नाम लेना इन शब्दों की विडम्बना करना है। कांग्रेस का प्रतिनिधि-दल विलायत गया है। किस लिए? कौंसिल के क़ायदों में संशोधन कराने। कौंसिल में दस पाँच हिन्दुस्तानी मेम्बरों के अधिक बैठने ही से जैसे हिन्दुस्तान धन-धान्य से परिपूर्ण हो जायगा। ७० फी सदी देशवासी भूखों मर रहे हैं, अत्याचार से पीड़ित किये जा रहे हैं, मूर्खता के गढ़े में पड़े तड़प रहे हैं! कुछ फिक्र नहीं। वे देश के बाहर हैं! उनका बहिष्कार करने से भी

देश-भक्ति में बाधा नहीं आ सकती !!! हमारे देश-भक्तों की क्या यही धारणा है ?

× × × ×

इन ७० फी सदी किसानों की दुर्गति का ज्ञान शहरों में मेज़-कुरसी लगाकर बैठने और मोटर कार तथा फिटनों पर घूमनेवालों को नहीं हो सकता। इन लोगों का हाहाकार इनके गन्दे गाँवों में घूमने, इनके साथ रहने और इनसे बात-चीत करने से हो सकता है। प्रजा के प्रतिनिधि बनने का दम भरनेवाले कितने माननीय महाशय वर्त्तमान कौंसिलों में ऐसे हैं जिन्हें इन बेचारों की दुर्गति का ज्ञान हो ? हर साल हज़ारों रुपया नज़राने के नाम से इनसे ऐंठा जाता है। फी रुपया एक आने के कानून को पैरों तले कुचल कर, हर सातवें वर्ष, रुपये पीछे दो-दो, चार-चार आने ही नहीं, किन्तु कभी कभी बारह बारह आने तक इन पर इज़ाफ़ा किया जाता है। कभी कभी सात वर्ष बीतने के पहले ही इस तरह के इज़ाफ़े और नज़राने की नौबत आ जाती है। आज जिस जमीन का लगान ५ रुपया बीघा है, चौदह या इक्कीस ही वर्ष बाद बढ़ कर वह दूना हो सकता है ! खुश्क-साली में यदि गवर्नमेंट कुछ मालगुजारी माफ करना चाहती है तो अवध के जमींदार और तअल्लुकेदार माफ़ी मंजूर नहीं फ़रमाते। और, कानून ऐसा है कि गवर्नमेंट माफ़ी मंजूर करने और काश्तकारों को उतना ही लगान छोड़ देने के लिए प्रजावत्सल ज़मींदारों को मजबूर नहीं कर सकती। यदि ये कृषक-बन्धु अनिच्छा से गवर्नमेंट के पेच में पड़ भी जाते हैं तो उजाड़ में आबादी और परती जमीन में सरसब्जी दिखानेवाले नकशे पेश करते हैं। काश्तकार निरन्न हो कर मर जायँ, कुछ परवा नहीं। उनके हल-बैल बिक जायँ, कुछ परवा नहीं। देश छोड़ कर फ़ीजी, जमाइका और ट्रिनिडाड को चले जायँ, कुछ परवा नहीं। उन्हें रुपये से काम ! प्रजा के प्रतिनिधि बतावें, इसके लिए उन्होंने क्या किया ? जिस कानून की रू से इन जमींदारों को यह अखतियार

हासिल है कि गवर्नमेंट की इच्छा रहते भी ये यदि चाहें तो मालगुजारी माफ या मुल्तवी करा लेने से साफ इनकार कर दें, उसमें परिवर्तन कराने के लिए इन माननीयों ने कितने प्रस्ताव कौंसिल में किये? कितने प्रश्न कौंसिल में पूछे? कितने डेपुटेशन लेकर लाट साहब के दरबार में हाजिर हुए? कोकेन की बिक्री बन्द या कम करने, छोटे छोटे बच्चों के साधु न बनाये जाने, देव-दासियों की प्रथा का उच्छेद करने से शायद लाख में एक आदमी को लाभ पहुँचेगा। उस लाभ के लिए तो ये लोग इतने व्यतिव्यस्त; पर जो ये फी सदी ७० कृषक मर्म्म-कृतान्तक कष्ट सह रहे हैं, उनके नफे-नुकसान का इन्हें कुछ भी ध्यान नहीं। फिर भी ये महोदार महाशय इन किसानों के प्रतिनिधि कहे जाने से लज्जित नहीं होते! चुनाव के समय इन्हें शपथ-पूर्वक प्रतिज्ञापत्र लिख देना चाहिए कि साल में कम से कम एक महीना हम अपने हलके या जिले में घूम कर प्रजा की स्थिति का ज्ञान प्राप्त करेंगे और उनके दुःख दूर करने की चेष्टा भी करेंगे। यदि ये ऐसा न करें तो ये कौंसिल के मेम्बर न चुने जायँ। तभी इनको अपने कर्त्तव्य का ज्ञान होगा। अभी तो इनमें से कितने ही सज्जन ऐसे हैं जो प्रजा की दुःख-दर्द भरी कहानी सुन कर भी अनसुनी कर जाते हैं। ऐसे एक महाशय से हमारा परिचय कोई २० वर्ष से है। उनको हमने एक बात लिख भेजी। उन्होंने उस पत्र की पहुँच तक लिखने की उदारता और सज्जनता न दिखाई! आप का शुभ स्थान संयुक्त प्रान्त के दक्षिणी भाग में है। प्रजा के ऐसे पक्षपातियों की बात सुनने और उनका उत्तर देने में ये शायद अपना अपमान समझते हैं। इन्हीं के जैसे धुक्कड़ वकील, डाक्टर, बैंकर, ज़मींदार और राजे आदि लिखें, और अँगरेज़ी में लिखें तो ये उनके पत्र का शायद उत्तर दें और उस पर विचार करने की कृपा करें!!!

× × × ×

हिन्दुस्तान में फी सदी ६ आदमी कुछ गोद-गाद लेते हैं। बाकी

९४ आदमी अपढ़ हैं। अँगरेजी भाषा के ज्ञान का तो यह हाल है कि सौ में मुश्किल से एक आदमी अङ्गरेजी लिख, पढ़ और समझ सकता है। हमारे प्रान्त की दशा तो और भी गई-गुज़री है। यहाँ तो सौ में ½ आदमी भी अँगरेजी नहीं जानता। फिर भी अँगरेजी का यहाँ इतना पक्षपात! वक्तृतायें होंगी तो अँगरेजी में, लेख लिखे जायँगे तो अँगरेजी में, पत्र-व्यवहार होगा तो अँगरेजी में। ९९½ के सुभीते की रत्ती भर भी परवा नहीं; ½ के सुभीते का ख़याल रखना ही देश-भक्ति और देश-हित-चिन्ता की पराकाष्ठा है! अकारण अङ्गरेजी भाषा में पत्र लिखने के पक्ष-पातियों के प्रतिकूल हम अनेक बार अपना वक्तव्य प्रकाशित कर चुके हैं। उस दिन बिहार प्रान्त के एक सज्जन ने हमें अङ्गरेजी में चिट्ठी लिखी। उसके अन्त में आपने फ़रमाया कि असावधानता के कारण उन्होंने अँगरेज़ी से काम लिया; माफ़ किये जायँ। उसका उत्तर हमने हिन्दी में दिया। पर आपने उस उत्तर का जो प्रत्युत्तर भेजा, वह फिर भी अँगरेजी में। और, इस दफ़े माफी की दरख्वास्त भी नहीं! जब हमारे अँगरेजी-दाँ हिन्दी-साहित्य-सेवियों का यह हाल है तो माननीयों की मनस्विता का कहना ही क्या है। अँगरेजी से अनभिज्ञ ९९½ आदमियों की बदौलत माननीयता का तमग़ा लटका कर भी वे ½ ही आदमी की समझ में आने-वाली अँगरेजी भाषा लिख और बोल कर अपने कर्त्तव्य से छुट्टी पा जाते हैं। ऐसे लोग कदापि प्रजा के प्रतिनिधि नहीं माने जा सकते। गवर्नमेंट सच कहती है कि ये मुट्ठी भर अँगरेजी-दाँ, सभाओं और कानफ्रेंसों में, जो कुछ कहते हैं, सब अपनी ही तरफ से कहते हैं। इनका वक्तव्य सर्व-साधारण का वक्तव्य नहीं। इसी से इनकी बातों का बहुत कम असर गवर्नमेंट पर पड़ता है। यदि ये लोग प्रजा के सच्चे प्रतिनिधि होना चाहते हैं तो इन्हें प्रजा की बोली बोलना चाहिए; प्रजा जिस भाषा को समझे, उसी में अपने व्याख्यान देना या सुनाना चाहिए; देहात में घूम-फिर कर प्रजा का सच्चा हाल जानना चाहिए—उन्हें उन्हीं की भाषा में

सदुपदेश और शिक्षा देना चाहिए। यदि हमारी सभाओं और कानफ्रेंसों की कारवाई हमारी निज की भाषा में होने लगे तो उनमें शामिल होने-वालों की संख्या बहुत बढ़ जाय, वक्ताओं की वक्तृताओं की प्रतिध्वनि दूर दूर तक सुनाई दे, बहु-संख्यक लोगों का अज्ञान दूर हो जाय और कार्य्य-कर्त्ताओं की शक्ति भी अधिक हो जाय। फल यह हो कि गवर्नमेंट पर ऐसी सभाओं का असर अवश्य पड़े। शक्ति-सञ्चय के लिए इसकी बड़ी ही ज़रूरत है; क्योंकि शक्तिमान् ही की जीत होती है, शक्ति-हीन की नहीं।

[जूलाई १९१४.

माननीय मेम्बरों की बात

कौंसिल के मेम्बर माननीय (Honourable) कहाते हैं। ये लोग जिसके प्रतिनिधि (Representative) बन कर मान्यता का पद प्राप्त करते हैं, उनकी कुछ खबर भी रखते हैं या नहीं? यदि नहीं रखते या बहुत ही कम रखते हैं तो इनकी मान्यता से प्रजा को क्या लाभ? इस देश में कुल आबादी का ९० फी सदी भाग देहात में रहता है। और, माननीय महाशय रहते हैं नगरों में। इस ९० फी सदी भाग की इन्हें खबर हो तो कैसे हो? देहात में ये घूमेंगे नहीं, देहातियों की बोली ये बोलेंगे नहीं, देहातियों की भाषा के अखबार ये पढ़ेंगे नहीं! पर नाम-मात्र के लिए इन्हीं देहातियों के प्रतिनिधि बनने के लिए लालायित ये अवश्य रहेंगे। देहातियों को इतनी तमीज नहीं कि वे अपने मन का प्रतिनिधि चुनें; या जिसे चुनें, उससे अभिलषित प्रतिज्ञा करा लें। देहातियों के नायक बनकर जो लोग इन्हें चुनते हैं, उनमें देशहितैषिता की मात्रा राम का नाम ही समझिए। उनमें से कितने ही तो खुद ही इस बात को नहीं समझते कि प्रतिनिधि में कौन कौन से गुण होने चाहिएँ। इसी से कौंसिल में अयोग्य प्रतिनिधि पहुँच जाते हैं, जो अधिकांश प्रजा का कुछ भी हित-साधन नहीं करते; और यदि करते भी हैं तो बहुत थोड़ा। और, उस थोड़े का सम्बन्ध भी प्रजा के बहुत ही थोड़े अंश से रहता है। जहाँ म्यूनिसिपैलिटियाँ हैं, वहाँ के लोग अधिक शिक्षित हैं। उनके प्रतिनिधियों को वहाँवालों के सुख-दुःख की खबर भी अधिक रहती है। वे यदि चाहें तो कौंसिल में बिना विशेष परिश्रम के भी प्रजा का काम कर सकते हैं। परन्तु जो लोग डिस्ट्रिक्ट

बोर्डों की तरफ़ से चुने जाते हैं, वे यदि देहात की सैर न करें और अपनी भाषा के अखबार न पढ़ें तो वे प्रजा के काम कैसे कर सकते हैं? उन्नाव के जिले में एक मौजा भगवन्तनगर है। उसमें किये गये अत्याचारों का वर्णन उस दिन हिन्दी के अखबारों में पढ़ कर हमारे रोंगटे खड़े हो गये। यह अत्याचार बहुत समय से होता चला आ रहा है। अब प्रश्न यह है कि जिस माननीय मेम्बर की सीमा में वह मौजा है, उसे उसकी खबर थी या नहीं? यदि न थी तो अखबारों में इसका हाल प्रकाशित होने पर भी उसे खबर हुई या नहीं? यदि ये माननीय महाशय हिन्दी के अखबार नहीं पढ़ सकते, या नहीं पढ़ते, या नहीं पढ़ना चाहते तो, इन्होंने प्रजा के सुख-दुःख का वृत्तान्त जानने की और कौन सी युक्ति निकाली है? चुनाव के समय 'वोट' लेने के लिए तो ये लोग अपने एजंट जगह जगह भेजते हैं और बहुत कुछ खर्च भी करते हैं; पर प्रजा की तकलीफ़ों का हाल जानने के लिए इन्होंने कितने एजंट रख छोड़े हैं? जो मेम्बर हिन्दी से नफ़रत करता है—जो हिन्दी अखबार नहीं पढ़ता—वह कौंसिल का मेम्बर होने का मुस्तहक नहीं। क्योंकि प्रजा के दुख-दर्द की बातें अधिकतर इन्हीं अखबारों में प्रकाशित होती हैं। चुनाव के समय यदि हिन्दी के अखबार इन बातों की चर्चा करके माननीय मेम्बरों के कर्त्तव्यों का ज्ञान उन्हें और उनको 'वोट' देनेवालों को भी करा दिया करें तो बहुत अच्छी बात हो।

अच्छा, ये लोग यदि देहात की खबर नहीं रखते तो अपने शहर की भी तो खबर नहीं रखते। वर्त्तमान मेम्बरों में अनेक महाशय वकील हैं। कचहरियों में घूसखोरी के जो नित नये दृश्य उन्हें देखने को मिलते हैं, उन्हें वे बुरा समझते हैं या नहीं? उनसे प्रजा को कुछ कष्ट मिलता है या नहीं? यदि इन प्रश्नों का उत्तर "हाँ" है तो वे बतावें कि इन कष्टों से प्रजा को बचाने के लिए उन्होंने कब कब कितने प्रयत्न किये। उनकी आँख के सामने ही प्रजाजन उलटे उस्तरे से मूँड़े जाते हैं। उन्हीं की

बदौलत आपको मान्यता मिली है, पर आप उन्हें बचाने के लिए उँगली तक उठाने की ज़रूरत नहीं समझते। फिर आप अपने को समझतं किस मर्ज़ की दवा हैं? कर्तव्य-पालन की इस अवहेलना का कहीं ठिकाना है!

माननीय मेम्बर यदि अपना कर्तव्य-पालन करना चाहें तो साल में कम से कम एक बार देहात में घूमें और देहातियों की भाषा से घृणा न करके उसे पढ़ने का यत्न करें। वे एक इश्तहार छपा कर क्यों न बाँट दें कि जिसे जो कुछ कहना हो, अपनी भाषा में लिख कर उन्हें भेज दिया करे। मसनद पर बैठे बैठे मेम्बरी करने से कर्तव्य-पालन नहीं हो सकता। ज़रा विलायत की तरफ़ आँख उठा कर देखें; अपने को प्रजा का सेवक समझें, स्वामी नहीं।

देहात में निरक्षरता का समुद्र उमड़ रहा है। कोसों मदरसों का नाम नहीं। देहातियों को यह भी नहीं मालूम कि मदरसा खोलने के लिए किसको लिखना चाहिए। कौंसिल में उनका कोई प्रतिनिधि भी है, इसका ज्ञान होने के लिए तो अभी ५० वर्ष और चाहिए। जिन पर जान-माल की रक्षा का भार, वे कभी गश्त करने भी नहीं निकलते; चौकीदार ही देहातियों का छोटा लाट है। देहात की परती ज़मीन को ज़मींदार उठाते चले जा रहे हैं; पशुओं के चरने के लिए बीघा भर भी नहीं रहने पाती। गन्दगी का यह हाल है कि कूड़े के ढेर मकानों के चबूतरों से लगे हुए हैं। यह भारत इन्हीं गन्दे गाँवों के अस्तित्व के कारण आबाद है। इन्हीं के सुधार से भारत का सुधार होगा। पर इसकी दशा सुधारने की ओर कितने सुधारकों का ध्यान आकृष्ट हुआ है? याद रहे, इन्हीं को सुधारने और इन्हीं में शिक्षा-प्रचार करने से भारत की उन्नति होगी। यह बात ध्रुव सत्य है।

[जूलाई १९१४.

देहात में बीमारी

शहरों और क़सबों में बीमारी से जितने आदमी मरते हैं, देहात में उससे कम मरते हैं। देहात में लोग खुली हवा में रहते हैं, सादा भोजन करते हैं, परिश्रम के काम करते हैं। अतएव देहाती प्रायः दीर्घजीवी होते हैं। उस दिन तन्दुरुस्ती और सफ़ाई के महकमे की रिपोर्ट में देखा तो लिखा था कि जिन बड़े बड़े शहरों में म्युनिसिपैलिटी की दया से पक्की मोरियाँ पानी के निकास के लिए और नल का पानी पीने के लिए है, वहाँ, कहीं कहीं, हजार पीछे, साल में, पचास साठ आदमी तक मरते हैं। पर उन्हीं शहरों या जिलों की देहात में जहाँ सफाई का कोई प्रबन्ध नहीं, उससे कम मौतें होती हैं। यदि देहात में दारिद्य का अखण्ड राज्य न होता और यदि देहात में दवा-पानी का सुभीता होता तो, वहाँ गन्दगी रहने पर भी, और भी कम मौतें होतीं। मर्दुम-शुमारी की रिपोर्टों में यदि देहात में रहनेवाले वैद्यों की संख्या ज़िलेवार दिखाई जाती तो मालूम हो जाता कि कितने मौजों पीछे एक वैद्य का परता पड़ता है। हमारा अनुमान तो यह है कि इन प्रान्तों में पचास गाँव पीछे एक सद्वैद्य का परता भी शायद ही पड़े। जहाँ पर बैठे हुए यह नोट हम लिख रहे हैं, वहाँ पाँच कोस के इर्द-गिर्द में कोई अच्छा वैद्य नहीं। प्लेग और हैज़े की बात हम नहीं कहते। अतीसार, संग्रहणी, जूड़ी और बुख़ार का भी अच्छा इलाज करनेवाले वैद्य ढूँढ़ने से भी नहीं मिलते। सरकारी शफ़ा-ख़ाना सदर में कहीं दस, कहीं बीस, कहीं चालीस मील पर। पास-पड़ोस के गाँवों में वैद्यराज का वास नहीं। इस दशा में देहातियों की

दुर्गति का वर्णन नहीं हो सकता। महीनों से मौसमी बुख़ार से ज्वरग्रस्त देहातियों को देखकर पत्थर का भी कलेजा फट सकता है। घर में अन्न नहीं, तन पर वस्त्र नहीं, खेत की रखवाली तथा खेती का अन्य काम करनेवाला दूसरा आदमी नहीं। आप महीनों से जूड़ी-बुख़ार के शिकार हो रहे हैं। शरीर की हड्डियाँ निकल आई हैं। चलते समय पैर काँपते हैं; हाथ से लोटा नहीं उठता। इसे काल्पनिक वर्णन न समझिए। ये आँखों देखी बातें हैं।

गवर्नमेंट प्रजा की माँ-बाप है। उसे अपनी सन्तति-तुल्य प्रजा की आरोग्य-रक्षा का उचित प्रबन्ध करना चाहिए। परन्तु २० आदमियों के कुटुम्ब में यदि ५ आदमी एक ही साथ बीमार पड़ जायँ तो उन पाँचों की चिकित्सा का उचित प्रबन्ध होना जिस तरह कठिन क्या असम्भव सा है, उसी तरह गवर्नमेंट के लिए गाँव गाँव डाक्टर मुक़र्रर करना और शफ़ाख़ाने खोलना भी असम्भव है। बहुत होगा तो गवर्नमेंट हर तहसील और हर छोटे छोटे क़सबे में एक एक अस्पताल खोल देगी। परन्तु इतना सुभीता होने के भी अभी कोई लक्षण नहीं। इस दशा में विचार यह करना चाहिए कि किया क्या जाय जो देहातियों की प्राण-रक्षा हो; और देहातियों की रक्षा करना मानो देश की रक्षा करना है। क्योंकि देश अधिकतर इन्हीं से आबाद है। बिना प्रतिकार के लाखों आदमी जो हर साल बुख़ार की बलि पड़ते चले जाते हैं, उनकी रक्षा न हो सकेगी। एक पैसे की कुनैन की पुड़िया से काम नहीं चल सकता। वह डाकख़ाने जाने पर ही मिल सकती है। यह सच है कि मुखियों और पटवारियों को भी उसके बंडल तहसीली कचेहरी से मुफ़्त मिलते हैं; पर ये भले आदमी उन्हें जैसे के तैसे रख छोड़ते हैं, खोलते भी नहीं; बीमारों को बाँटना तो दूर की बात है। ऐसी सैकड़ों पुड़ियायें एक पटवारी के घर से निकलवा कर इस नोट के लेखक ने बीमारों को बाँटी हैं। इसका कारण मूर्खता के सिवा और कुछ नहीं। देहातियों को अङ्गरेज़ी दवाओं पर श्रद्धा भी बहुत

कम है। धूर्त वैद्यों की दी हुई मिट्टी को वे रौप्य भस्म समझ कर खुशी से खा लेंगे, पर मैगनेशिया और कुनैन को छुवेंगे भी नहीं।

हमारी वैद्यक विद्या की इस समय बड़ी ही अवनति है। उसकी तरफ बहुत कम लोगों का ध्यान है। जो लोग चिकित्सा का पेशा करते हैं, उनमें से अधिकांश शहरों ही में रहते हैं। पर वे भी सब के सब अच्छे वैद्य नहीं। अधिकतर विज्ञापनबाज़ हैं और येन-केन-प्रकारेण पैसा एँठने ही के लिए उन्होंने दुकानें खोल रक्खी हैं। नसीब में लिखे विधि के वाक्य बतानेवाले ज्योतिषियों और एक रुपये में चुटकी भर सफ़ेद चूर्ण खिला कर शेर को पछाड़ने की शक्ति देनेवाले वैद्यों से भगवान् ही बचावे। इन लोगों ने तो वैद्य-विद्या के ऊपर से लोगों का विश्वास और भी उठा दिया है। इधर देशी वैद्यों का यह हाल, उधर देशी डाक्टरों की प्रभुता धीरे धीरे क्षीण हो रही है। नये नये कानूनों और क़ायदों के शिकंजे में वे कसे जा रहे हैं। उनका पेशा बढ़ने की अपेक्षा अब दिन पर दिन कम ही होने के लक्षण दिखा रहा है। अतएव यही मौक़ा अपनी वैद्य-विद्या को आश्रय देने का है। अरिष्ट और आसव बनाने की स्वतन्त्रता छिन जाने और डाक्टरों की रजिस्टरी होने के प्रतिकूल प्रार्थनायें और "विनन्ती-पत्र" भेजिए; कोई मना नहीं करता। वैद्यों का रोज एक मेला कीजिए। कोई मना नहीं करता। वैद्यों की डाइरेक्टरी बनाइए, वैद्यक पर पुस्तकें लिखिए, व्याख्यानों द्वारा वैद्य-विद्या का महत्व समझाते फिरिए; कोई मना नहीं करता। परन्तु साथ ही कृपा करके वैद्य-विद्या पढ़िए भी, अनुभव भी प्राप्त कीजिए, जड़ी-बूटियों को पहचानना और रासायनिक औषधियाँ तैयार करना भी सीखिए। इन बातों की शिक्षा के लिए दो-चार स्कूल या पाठशालायें भी खुल जायँ तो और भी अच्छा हो। अब तक बड़े-बड़े शहरों में जो कोड़ियों वैद्य दुकानें खोले हुए बैठे हैं, उनमें से कुछ को अपने अपने साइन बोर्ड उतार कर देहात में चले जाना चाहिए। शहर की अपेक्षा देहात में कम आमदनी न होगी। यदि

कोई अच्छा वैद्य किसी ऐसे मौज़े में आ रहे जिसके आस-पास दो चार कोस में कोई वैद्य न हो तो उसे काफ़ी आमदनी होना कोई बड़ी बात नहीं। हमारे एक मित्र झाँसी में रहते हैं। वे, कुछ दिन हुए, अपने जन्म-ग्राम आये। आप वैद्य-विद्या भी जानते हैं; दवायें तैयार रखते हैं और देते भी हैं। आप विज्ञापनबाज़ नहीं। सिर्फ़ आठ रोज़ में, घर पर चुपचाप बैठे बैठे, उन्हें पन्द्रह बीस रुपये की आमदनी हो गई। एक बहुत छोटे गाँव से ही उन्हें ९ रुपये मिल गये। यह इस बात का प्रमाण है कि देहात में वैद्यों की ज़रूरत है; पर अच्छे वैद्यों की, धूर्तों की नहीं। देहात में व्यवसाय करने से हजारों आदमियों की प्राण-रक्षा होगी। अपनी चिकित्सा से लोगों का विश्वास जो उठ रहा है, वह न उठेगा। आमदनी भी होगी। सवारी के लिए इक्के और पालकी-गाड़ियाँ अवश्य न मिलेंगी। पर जिन ऋषियों ने एक मात्र परोपकार और लोक-कल्याण की प्रेरणा से हमारे आयुर्वेद की सृष्टि की थी, उनकी सन्तति को उनके इस उद्देश्य को भी तो कोई चीज़ समझना चाहिए।

[अक्टोबर १९१४.

हिन्दी-शिक्षा के विस्तार की महत्ता

शिक्षा-प्राप्ति और ज्ञान-सम्पादन का सबसे बड़ा साधन भाषा है। शिक्षा यदि अपनी भाषा—मातृ-भाषा—में दी जाय तो इस साधन का महत्त्व और इसका प्रभाव और भी अधिक हो जाय। चींटी से लेकर विशालकाय हाथी तक और रजःकण से लेकर हिमालय तक, एक भी पदार्थ संसार में ऐसा नहीं जिसका सम्पूर्ण ज्ञान आज तक किसी ने प्राप्त किया हो। ज्ञान की सीमा नहीं। ज्ञान-सागर की थाह नहीं; वह अगाध है; मर्यादा-रहित है। इस दशा में ज्ञान-साधन यदि सर्व-श्रेष्ठ होगा, तभी कुछ सफलता की आशा की जा सकती है—तभी उसका शतांश सहस्रांश प्राप्त किया जा सकता है। साधन जितना ही कठोर, श्रमसाध्य और दुष्प्राप्य होगा, ज्ञान-सम्पादन में सफलता भी उतनी ही कम होगी। शिक्षा बहुत व्यापक शब्द है। उसमें सभी प्रकार की शिक्षाओं का अन्तर्भाव हो सकता है। शिक्षा का अर्थ सीखना है; और कोई बात सीखना उसका ज्ञान-सम्पादन करना है। इस दृष्टि से ज्ञान और शिक्षा प्रायः एक ही चीज़ हैं।

ज्ञान-बल से बढ़कर और कोई बल नहीं। शारीरिक बल उसके सामने विशेष महत्व नहीं रखता। शरीर-सम्बन्धी बल की अपेक्षा ज्ञान-बल ही श्रेष्ठ है। ज्ञान-शक्ति से जो पदार्थ प्राप्त हो सकता है, शरीर-शक्ति से नहीं। ज्ञान की महिमा का अन्दाज़ा इसी से कर लीजिए कि ईश्वर की प्राप्ति या उसके साक्षात्कार का साधन भी ज्ञान ही है। वर्तमान युद्ध के मैदानों में लाखों सैनिक अपना शरीर-बल खर्च कर रहे हैं। रोज ही जय-पराजय के समाचार आप अखबारों में पढ़ते हैं। पर विजयी पक्ष की जीत का एक मात्र कारण आप सैनिकों की शारीरिक शक्ति न

समझिए। ऐसा समझना बड़ी भारी भूल होगी। विजय का प्रधान कारण ज्ञान-बल ही है। जिन विज्ञानियों, विद्वानों और शास्त्रज्ञों ने युद्ध के विशालाकार जहाज़, कालमर्दिनी तोपें, नरनाशक गोले, टारपीडो और सब-मेरीन आदि का निर्माण किया है, वही इस जीत के मूल और प्रधान कारण हैं। वे यद्यपि युद्ध के मैदान में नहीं, वे यद्यपि किसी एकान्त कोठरी में बैठे हुए शास्त्रीय रहस्यों के उद्घाटन में निमग्न हैं, तथापि जीत का प्रधान कारण उन्हीं का ज्ञान-बल है।

सब तरह की उन्नतियाँ, चाहे लौकिक हों चाहे पारलौकिक, ज्ञान ही की कृपा से होती हैं। अज्ञानियों और अशिक्षितों ने कभी कोई उल्लेख-योग्य उन्नति नहीं की। देश, जाति, समाज, कला-कौशल, वाणिज्य-व्यवसाय आदि से सम्बन्ध रखनेवाली सभी उन्नतियों की जड़ आप शिक्षा और ज्ञान ही को पाइएगा। जिस ज्ञान—जिस शिक्षा—का इतना माहात्म्य है, उसकी प्राप्ति का साधन जितना ही सुलभ हो, उतना ही अच्छा। अतएव हमारा कर्तव्य है कि हम अपने कल्याण के लिए इस साधन को खूब सुलभ कर दें। यह सुलभता मातृभाषा ही के द्वारा हो सकती है। बरसों की राह महीनों में इसी साधन से तै हो सकती है। इस साधन को सुलभ कर देना बहुत कुछ हमारे ही हाथ में है।

अँगरेज़ी राज-भाषा है। उसे तो हमें सीखना ही चाहिए। बिना उसे सीखे हमारा निस्तार ही नहीं। पर उसका व्यापक प्रचार देश में नहीं हो सकता। इस देश में अँगरेज़ी राज्य हुए कोई डेढ़ सौ वर्ष हुए। पर अब तक फ़ी तीन चार सौ आदमियों पीछे कहीं एक आदमी थोड़ी-बहुत अँगरेजी जानता है। इस दशा में गाँव गाँव उसका प्रचार होना सम्भव नहीं। और, अपने देश-भाइयों को अज्ञानान्धकार में पड़े रहने देना पाप है। उनके इस अन्धकार को दूर करने के लिए अपने भाषा-भास्कर के प्रकाश की ज़रूरत है। इस बात को गवर्नमेंट भी मानती है। वह अँगरेज़ी भाषा की शिक्षा का मार्ग तो सङ्कुचित नहीं करना चाहती, पर

एक निर्दिष्ट सीमा के भीतर देशी भाषाओं के द्वारा शिक्षा-दान के मार्ग में बाधा भी नहीं डालना चाहिए।

हमारी भाषा हिन्दी है। उसके प्रचार के लिए गवर्नमेंट जो कुछ कर रही है, सो तो कर ही रही है; हमें चाहिए कि हम भी अपने घरों का अज्ञान-तिमिर दूर करने और अपना ज्ञान-बल बढ़ाने के लिए इस पुण्य-कार्य में लग जायँ। यह काम अनेक प्रकार से हो सकता है। समाचार-पत्र और सामयिक पुस्तकें निकालकर इस तिमिर का परदा कुछ कुछ हटाया जा सकता है। अच्छी अच्छी नई पुस्तकें लिखकर और अन्य भाषाओं के उपयोगी ग्रन्थों का अनुवाद करके सुशिक्षा और ज्ञान की वृद्धि की जा सकती है। स्कूल और पुस्तकालय खोलकर, सभायें और सम्मेलन करके, व्याख्यान और उपदेश देकर भी इस काम की अंशतः पूर्ति की जा सकती है। जो शिक्षित हैं—जिन्होंने ज्ञान-सम्पादन किया है—उन्हीं को इस कल्याणकारी कार्य्य में आगे बढ़ना चाहिए। घर का मुखिया ही बच्चों और अपने से छोटों की शिक्षा का उत्तर-दाता समझा जाता है। यदि वह उनकी शिक्षा का प्रबन्ध न करे तो समाज ही नहीं, ईश्वर भी शायद उसे कर्तव्य-पराङ्मुख समझे। और अपना कर्तव्य न करना अपने अधिकार का दुरुपयोग करना है—अक्षम्य अपराध करना है। कौटुम्बिक नियम तोड़ना पाप समझा जाता है। समाज में जो शिक्षित हैं—दूसरों को शिक्षा देने की जिनमें शक्ति है—उनका दरजा भी घर के मुखिया ही के सदृश है; क्योंकि समाज भी एक प्रकार का विस्तृत घर है और उसके सारे मेम्बर, उसके सारे अङ्ग—उस घर में रहनेवाले हैं। इस दशा में समाज-रूपी घर के मुखिया जनों का कर्तव्य है कि वे उसके मेम्बरों की शिक्षा का यथा-शक्ति प्रबन्ध करें।

अपने देश, अपने प्रान्त, अपने जन-समुदाय के सर्वाङ्गीण कल्याण की यही रामबाण औषधि है। [अप्रैल १९१५.

देशी भाषाओं द्वारा शिक्षा

जिस देश में जो भाषा है, वही वहाँ बोली जाती है। सर्व-साधारण उसी में अपना भाव प्रकट करते हैं। प्रकृति या परमेश्वर की आज्ञा ही ऐसी है। जिस घर के आदमी तामील बोलते हैं, उस घर के बच्चे बँगला तब तक नहीं बोल सकते, जब तक उसकी शिक्षा उन्हें न दी जाय। और, बिना कारण उन्हें बँगला सिखाने की कभी ज़रूरत नहीं पड़ती। अपने घर, अपने प्रान्त या अपने देश की भाषा छोड़कर अन्य भाषा लोग तभी सीखते हैं जब कोई विशेष कारण उपस्थित होता है। जब मुसलमानों के हाथ में इस देश का शासन-सूत्र आया, तब हम लोगों ने केवल इसलिए फ़ारसी सीखी जिसमें शासनकर्ताओं की बात हम, और वे हमारी, अच्छी तरह समझ सकें, राज्य के कार्य्य में सुभीता हो और छोटे-बड़े सब तरह के राजकीय पदों पर हम नियुक्त हो सकें। ब्रिटिश राज-सत्ता होने पर जो हमें अँगरेज़ी सिखाई जाती या सीखनी पड़ती है, उसका भी प्रधान कारण यही है; और कारण गौण हैं, मुख्य नहीं। हिन्दी, उर्दू, बँगला, मराठी, गुजराती, तामील और तैलङ्गी आदि भाषायें गोंडों, भीलों और आसाम प्रान्त के पहाड़ी असभ्यों की भाषायें तो हैं नहीं जो यह कहा जा सके कि सब तरह के विचार या भाव प्रकट करने की शक्ति उनमें नहीं। उनमें शक्ति की कमी नहीं। यदि वे राज्य-मान्य हो जायँ और यदि उनका प्रचार बढ़ जाय तो उनके साहित्य की उन्नति होने में देर न लगे। यह कदापि मानने योग्य बात नहीं कि शिक्षा केवल अङ्गरेज़ी भाषा के द्वारा ही दी जा सकती है। यदि यह बात होती तो फ्रांस, जर्मनी और रूस में उसका आदर होता। जो ज्ञान और जो शिक्षा उन देशों की भाषाओं में न दी

जा सकती, उसके लिए वे भी अँगरेज़ी ही का अवलम्बन करते। पर ऐसा नहीं हुआ। वे तो क्या, अनुन्नत टर्की और फारिस तक ने उसे आश्रय नहीं दिया। जापान तो अपनी ही भाषा द्वारा उच्च शिक्षा प्राप्त करके पचास ही वर्ष में पूर्ण सभ्य हो गया। अतएव इसमें सन्देह नहीं कि केवल राजकार्य्य के सुभीते के लिए ही अँगरेज़ी भाषा सीखने की हमें जरूरत है।

१७ मार्च १९१५ को बड़े लाट की कौंसिल में मद्रास के श्रीयुत रायनिंगर ने यह प्रस्ताव उपस्थित किया कि माध्यमिक शिक्षा विशेष करके देशी भाषाओं द्वारा ही दी जाय। इस पर विरोधों की झड़ी लग गई। राजा कुशलपाल सिंह और पण्डित मदनमोहन मालवीय आदि कुछ मेम्बरों को छोड़ कर और सभी देशी मेम्बरों ने प्रतिकूलता प्रकट की। बाबू सुरेन्द्रनाथ बनर्जी तक विपक्ष में खड़े हो गये। विपक्षी महाशयों ने जो कुछ कहा, उसके खण्डन की आवश्यकता नहीं; क्योंकि उनके वक्तव्य में हमें सबल, साधारण और तर्क-संगत उक्तियों का प्रायः अभाव ही देख पड़ता है। कैसे दुःख की बात है कि जिस बात पर हमारी सारी उन्नतियों का बहुत कुछ दारोमदार है, उसी की इस प्रकार अवहेलना की जाय और हमारे ही प्रतिनिधियों के द्वारा यह अवहेलना हो। इसे दुर्भाग्य के सिवा और क्या कहें! ज्ञान-प्राप्ति का एक मात्र साधन अँगरेजी भाषा नहीं, इसे गवर्नमेंट भी प्रकारान्तर से स्वीकार करती है। प्रारम्भिक शिक्षा देशी भाषाओं द्वारा ही दी जाती है। माध्यमिक शिक्षा देनेवाले अँगरेज़ी के कई क्लासों में भी देशी भाषा द्वारा ही अधिक शिक्षा दी जाती है। उसके आगे वह घटने लगती है और इतिहास, भूगोल, गणित और विज्ञान सब अँगरेज़ी ही में पढ़ाये जाते हैं। समझ में नहीं आता कि इसकी क्या ज़रूरत है? ये विषय हमें अपनी ही भाषा में क्यों न पढ़ाये जायँ? अँगरेज़ी पढ़े बिना हमारा गुज़र नहीं। अतएव वह पढ़ाई जाय और अवश्य पढ़ाई जाय। पर जो विषय अपनी भाषा में हम आसानी से

अपने बच्चों को पढ़ा सकते हैं, उन्हें भी अँगरेजी में पढ़ा कर छोटे-छोटे बच्चों का समय और स्वास्थ्य न खराब किया जाना चाहिए। गवर्नमेंट का कथन है कि १२ वर्ष की उम्र तक बच्चों को शिक्षा उन्हीं की भाषा में दी जाय। यह ठीक; पर इसके आगे भी अपनी ही भाषा में बच्चे क्यों न शिक्षा पावें, इसका कोई कारण भी तो बताया जाय। गवर्नमेंट की नीति यह होनी चाहिए कि जहाँ तक सम्भव हो, सभी शिक्षा, विशेष कर माध्यमिक शिक्षा, देशी ही भाषाओं द्वारा दी जाय। सब विषयों पर पुस्तकें तैयार नहीं, यह तर्क किसी काम का नहीं। यदि न भी हों तो प्रजा के लाभ के लिए गवर्नमेंट को आवश्यक पुस्तकें तैयार कराना चाहिए और शिक्षा-प्रचार और ज्ञान-वृद्धि के लिए देशी भाषाओं द्वारा शिक्षा देने के मार्ग को खूब प्रशस्त कर देना चाहिए।

रायनिंगर महाशय का प्रस्ताव अभी ऐसा ही पड़ा रहेगा। वर्तमान युद्ध समाप्त होने पर वह प्रान्तिक गवर्नमेंटों के पास भेजा जायगा। उनकी सलाह ली जायगी। सब के वक्तव्य सुनकर तब निर्णय किया जायगा कि उसकी क्या गति हो। धनवान् चाहें तो एक हाई-स्कूल खोल कर सारी शिक्षा अपनी ही भाषा में देने का प्रबन्ध कर सकते हैं। उनका दिखाया हुआ इस तरह का नमूना विपक्षियों की दलीलों का सब से अधिक प्रभावशाली उत्तर होगा। पर—"न नौ मन तेल होगा, न राधा नाचेंगी"।

[अप्रैल १९१५.

देशी भाषा और डाक्टरी शिक्षा

कलकत्ते की वंगीय साहित्य-परिषद् ने बंगाल गवर्नमेंट के पास एक आवेदनपत्र भेजा है। आवेदन-पत्र में गवर्नमेंट से डाक्टरी स्कूलों में बँगला द्वारा शिक्षा दिलाने की प्रार्थना की गई है। आवेदन-पत्र की मुख्य मुख्य बातों का सारांश हम नीचे देते हैं—

(क) बंगाल के डाक्टरी स्कूलों में बँगला भाषा द्वारा ही शिक्षा दी जाय।

(ख) उक्त स्कूलों में बँगला ही की पाठ्य-पुस्तकें नियत हों।

(ग) परीक्षा के समय हर विषय के प्रश्न-पत्रों के उत्तर विद्यार्थी बँगला ही में लिखें।

(घ) यदि वर्तमान विद्यालयों में बँगला द्वारा शिक्षा देने में सुभीता न हो तो कम से कम ढाके और कलकत्ते में डाक्टरी का एक एक विद्यालय ऐसा स्थापित किया जाय जिसमें हर विषय की शिक्षा केवल बँगला ही द्वारा दी जाय।

एक समय था जब बंगाल में डाक्टरी शिक्षा बँगला ही में दी जाती थी। अब भी कलकत्ते के कैम्पबेल मेडिकल स्कूल में पढ़नेवाली स्त्रियाँ प्रश्न-पत्रों के उत्तर बँगला ही में लिखती हैं। पुरुष-विद्यार्थी भी रसायन और शरीर-शास्त्र से सम्बन्ध रखनेवाले पर्चों के उत्तर बँगला में लिख सकते हैं। इस दशा में कोई कारण नहीं कि सभी विषयों के उत्तर वे बँगला ही में न लिखें और सारी डाक्टरी शिक्षा बँगला ही में न दी जाय। शिक्षकों और लेक्चर देनेवालों के सुभीते पर न ध्यान देना चाहिए; ध्यान देना चाहिए शिक्षा पानेवाले छात्रों के सुभीते पर। अँगरेजी में

दिये गये लेक्चर कम अँगरेज़ी जाननेवाले छात्रों की समझ में अच्छी तरह नहीं आ सकते। यह बहुत बड़ा दोष है। हमारे प्रान्त में डाक्टरी का जो स्कूल आगरे में है, उसमें भी पहले कितनी ही पुस्तकें हिन्दी-उर्दू भाषाओं में जारी थीं। लेक्चर भी प्रायः देशी ही भाषाओं में होते थे। हम ऐसे कितने ही डाक्टरों को जानते हैं जिनका अँगरेजी-भाषा-ज्ञान राम का नाम ही समझिए। पर वे अच्छे डाक्टर हैं; उनका बड़ा नाम है।

जैसा कि हम कई दफे लिख चुके हैं, हर तरह की शिक्षा विद्यार्थियों ही की मातृ-भाषा में विशेषकर देनी चाहिए। अच्छी पुस्तकें प्राप्य नहीं, यह एतराज़ ठीक नहीं। गवर्नमेंट यदि देशी भाषाओं में शिक्षा दी जाने की आज्ञा दे दे तो बहुत जल्द पुस्तकें तैयार हो सकती हैं।

[अप्रैल १९१५.

भारत में शिक्षा की दशा

इस देश में निरक्षरता ही का आधिपत्य है। हिसाब लगाया गया है कि यदि किसी एक गाँव में मदरसा है तो तीन गाँवों में नहीं। यदि १०० में १५ लड़के मदरसे जाते हैं तो ८५ लड़के गाय-भैंस चराते या गिल्ली-डंडा खेलते हैं। आबादी के लिहाज़ से हर आदमी पीछे आठ आने भी शिक्षा के लिए नहीं खर्च किया जाता। यह स्थिति बहुत ही शोक-जनक है। चाहिए था कि प्रारम्भिक शिक्षा मुफ्त और अनिवार्य कर दी जाती। पर वह तो दूर रहा, फ़ीस लेकर भी और अपने बच्चों को शिक्षा देना या न देना माता-पिता की इच्छा पर छोड़ देने पर भी, शिक्षा-प्राप्ति का यहाँ यथेष्ट सुभीता नहीं।

योरप और अमेरिका में प्रारम्भिक शिक्षा मुफ्त दी जाती है। साथ ही माँ-बाप अपने बच्चों को स्कूल भेजने के लिए क़ानूनन् मजबूर कर दिये गये हैं। जहाँ शिक्षा का इतना आधिक्य, वहाँ तो उसकी प्राप्ति के लिए इतना ज़ोर दिया जाता है; और जहाँ मूर्खता का इतना राज्य, वहाँ इन बातों की आवश्यकता ही नहीं समझी जाती।

योरप और अमेरिका के प्रारम्भिक मदरसों में चार चार हज़ार तक विद्यार्थी शिक्षा पाते हैं। माध्यमिक (Secondary) स्कूलों में भी कहीं कहीं छात्रों की संख्या एक, दो, तीन और चार हज़ार तक है। पर हमारे यहाँ शायद ही किसी स्कूल में पाँच सौ लड़के शिक्षा पाते हों। यहाँ शिक्षा-प्रचार पर कम ज़ोर दिया जाता है, स्कूलों की इमारतों पर अधिक। निरक्षरता दूर करना कम आवश्यक है; जो कुछ बच्चे पढ़ें, उन्हें खूब पक्का

कर देना बहुत अधिक आवश्यक। यहाँ तो लड़कों की संख्या तक निश्चित कर दी जाती है। बस उतने ही लड़के भरती हो सकते हैं। अधिक भरती होना चाहें तो नहीं हो सकते। किसी किसी परीक्षा में तीन वर्ष लगातार फेल हो जाने पर लड़के निकाल तक दिये जाते हैं।

शिक्षा के अधिक प्रचार की बाधक रुपये की कमी बताई जाती है। पर निवेदन यह है कि यदि अधिक खर्च न कर सकने के कारण शिक्षा सुलभ नहीं की जा सकती तो स्कूलों के लिए सुन्दर और नमूनेदार इमारतें बनवाने के लिए क्यों अधिक रुपया खर्च किया जाता है? शिक्षालय शिक्षादान के लिए हैं, भवन-निर्म्माण-कला के नमूने दिखाने के लिए नहीं। प्राचीन भारत में जो सहस्रशः विद्वान् हो गये हैं, उन्होंने नमूनेदार पक्की इमारतों में शिक्षा न पाई थी—जंगलों में, झोपड़ों में, यहाँ तक कि पेड़ों की छाया में बैठ कर शिक्षा पाई थी। हमें पक्के स्कूल और मदर्से न चाहिए; हमें फूल-बाग़ न चाहिए, हमें पोलो और क्रिकेट के मैदान न चाहिए। चाहिए हमें शिक्षा, जो इनके बिना भी दी जा सकती है।

अशिक्षा-राक्षसी के प्रभाव से पिता अपने पुत्र को पत्र नहीं लिख सकता। भाई अपने भाई को अपना सुख-दुख नहीं सुना सकता। पति अपने जी की बात पत्नी पर नहीं प्रकट कर सकता। पक्की शिक्षा से इन्हें क्या लाभ? इनको आप बीस तक पहाड़े और जोड़-बाकी सिखा दीजिए। इनको आप हिन्दी की दो रीडरें पढ़ा दीजिए। इन्हीं की इनको ज़रूरत है। पक्की शिक्षा के ये अभी अधिकारी नहीं। ज़िला-स्कूलों और कालेजों में शिक्षा पाये हुए हज़ारों युवक जो पेट पर हाथ रक्खे मारे मारे फिर रहे हैं, उन्हीं को उनकी पक्की शिक्षा ने कहाँ तक सहारा दिया है?

हमें चाहिए कि हम शिक्षा के महत्त्व को समझें और उसकी प्राप्ति के लिए प्रयत्न करने में कोई बात उठा न रक्खें। खुद भी कुछ खर्च करें। परिश्रम से न डरें। उपाय भर अपने पड़ोसियों और महल्ले अथवा गाँव-वालों की शिक्षा का यथा-शक्ति प्रबन्ध करें। और तरह न सही तो इसी

तरह थोड़ी बहुत निरक्षरता दूर हो। हमारी ग़रीबी का, हमारे दुःखों का, हमारी हीनताओं का सब से बड़ा कारण मूर्खता है। उसे दूर करने ही से और सब दुःख-कष्ट दूर होंगे। इसमें सन्देह नहीं; यह ध्रुव सत्य है।

[मई १९१५.

कर देने और खर्च करनेवालों के अधिकार

देवदत्त ने किसी शहर में कपड़े की एक बहुत बड़ी कोठी खोली। उसने उसकी निगरानी के लिए चार चौकीदार रक्खे। रेल पर माल चढ़ाने और स्टेशन से माल छुड़ाने के लिए दो गुमाश्ते भी रक्खे। तक़ाज़ा वसूल करने के लिए भी एक आदमी रक्खा। उसका काम चल निकला। धीरे धीरे और लोगों ने भी वहाँ कोठियाँ खोल दीं। उनको भी आवश्यकतानुसार आदमी रखने पड़े। देवदत्त सबसे अधिक समझदार था। उसने सोचा कि यदि सब कोठीवाले मिलकर चौकीदार और गुमाश्ते आदि रक्खें तो ख़र्च कम पड़े। काम न होने पर अभी जो लोग बेकार बैठे रहते हैं, वे काम में लगे रहें। उसकी सलाह सब ने मान ली। चन्दा हुआ। दस कोठीवालों ने पचास पचास रुपया मासिक चन्दा लिखा। पाँच सौ रुपये हुए। उनसे यथेष्ट चौकीदार गुमाश्ते और दूसरे मुलाज़िम रक्खे गये। सबके ऊपर एक मुनीब मुक़र्रर हुआ। काम धड़ाके से चलने लगा। सब का काम वक्त पर होने लगा। ख़र्च में भी बहुत बचत हुई। कुछ दिनों बाद मुनीम जी उन पाँच सौ रुपयों को अपना ही माल समझने लगे। वे मन-माना ख़र्च करने लगे। किसी की तनख्वाह बढ़ा दी, किसी की घटा दी। कहीं चौकीदार बढ़ा दिये, कहीं गुमाश्ते कम कर दिये। बात यह थी कि रुपया उन्हीं के पास आता था और वही सबको तनख्वाह बाँटते थे। आदमियों को मुक़र्रर करने और उन्हें बरख़ास्त कर देने का काम भी उन्हीं के सिपुर्द था। फल यह हुआ कि चन्दा देनेवाले व्यवसायियों को तकलीफ़ मिलने लगी। इस पर एक दिन उन लोगों ने मुनीम जी को उनके कर्तव्य की याद दिलाई, अपने और उनके सम्बन्ध

की व्याख्या कर दी, अपने अधिकार की मर्य्यादा भी उन्हें बता दी। तब तो मुनीम जी के कान खड़े हो गये। सब बात उनकी समझ में आ गई। और वे फिर अपना काम अच्छी तरह करने और अपनी जिम्मेदारी समझने लगे। यदि वे मीन-मेख लगाते और चन्दा देनेवालों की बात न सुनते तो क्या होता, यह बताने की ज़रूरत नहीं।

जो कर दिया जाता है, वह भी एक प्रकार का चन्दा ही है। उसका मतलब भी प्रायः वही है जिसका स्थूल निर्देश ऊपर किया गया है। कर इसी लिए दिया जाता है कि उसकी सहायता से कर देनेवालों के जान-माल की रक्षा की जाय, उनके सुख-चैन के साधनों की वृद्धि की जाय, उनकी तकलीफ़ें दूर की जायँ और उन्हें आराम से रहने के लिए सब तरह के सुभीते कर दिये जायँ। फ़ौज इसी लिए रक्खी जाती है; पुलीस भी इसी लिए रक्खी जाती है। रेलें, तार, नहरें और सड़कें भी इसी लिए बनाई जाती हैं। स्कूल, कालेज, शफ़ाख़ाने और कचहरियाँ भी इसी लिए हैं। इस दृष्टि से जो लोग कर देते हैं, उनको यह अधिकार होना चाहिए कि अपने दिये हुए रुपये के जमा-ख़र्च की वे जाँच करें, जिस मद में जितना ख़र्च करना चाहें करें, जिस ख़र्च को चाहें तोड़ दें और जिसको चाहें बढ़ा दें। जिन लोगों के हाथ में कर का रुपया रहता है, वे कर देने-वालों के एजंट मात्र हैं। वे उनके मुनीम जी हैं, और कुछ नहीं। कर देने-वाले लाखों-करोड़ों होते हैं। वे सभी जाँच का काम नहीं कर सकते। उनमें से अधिकांश जाँच करने की योग्यता भी नहीं रखते। अतएव वे अपने प्रतिनिधियों द्वारा यह काम कराते हैं।

यद्यपि बात ऐसी ही है, तथापि कर देनेवाले बहुधा अपने अधिकार को अच्छी तरह काम में नहीं ला सकते। कहीं उनमें इतनी शक्ति नहीं, कहीं इतनी समझ नहीं, कहीं उनके प्रतिनिधियों की चलती नहीं। इस दशा में ख़र्च करनेवाले मनमानी करते हैं। और मनमानी शक्ति, मनमाने अधिकार तथा मनमाने प्रभुत्व में उपाय भर कोई मनुष्य कमी

नहीं होने देता। क्योंकि मनुष्य-जाति इनकी दास है। इसका एक मात्र उपाय शिक्षा है। कर देनेवाले यदि शिक्षित हो जायँ और अपने अधिकार यदि उनकी समझ में आ जायँ तो उनकी इच्छा के अनुकूल कार्य्य होने के मार्ग में जो बाधायें आती हैं, उनके दूर होने में देर न लगे। अतएव हर जाति, हर देश और हर प्रान्त में शिक्षा-विस्तार की सब से अधिक ज़रूरत है।

[मई १९१५.

रेलवे का प्रबन्ध किसके हाथ में रहना चाहिए

भारतवर्ष में कितनी ही रेलवे लाइनें हैं। उनमें से कुछ की मालिक तो सरकार है, कुछ की कम्पनियाँ और कुछ के देशी राज्य। सरकारी रेलवे का मूल धन इस समय ५,५२,००,००,००० रुपया है। १९१३-१४ ईसवी में भारत की समस्त रेलों की आमदनी ६३ करोड़ रुपये थी और खर्च कोई ३३ करोड़। अर्थात् ३० करोड़ रुपये की बचत थी। परन्तु सरकार को लाभ सिर्फ़ छः ही करोड़ रुपये हुआ। कुछ ऊपर २४ करोड़ रुपये वार्षिक सूद के रूप में विलायत चले गये। १९१३-१४ में कोई छः लाख आदमी रेलों में मुलाज़िम थे। भारतवर्ष की कुल रेलों की लम्बाई ३५ हज़ार मील है। इसमें से २६ हज़ार मील सरकार के, ५ हजार मील कम्पनी के और ४ हजार मील देशी राज्यों के अधीन है। सरकारी लाइनों का प्रबन्ध दो तरह से होता है—(१) स्वयं सरकार के द्वारा और (२) कम्पनियों के द्वारा। स्वयं सरकार के द्वारा ७,५०० मील लाइन का प्रबन्ध हो रहा है। इस अवस्था के अन्तर्गत ये तीन रेलवे लाइनें हैं—(१) नार्थ वेस्टर्न रेलवे, (२) अवध और रुहेलखण्ड रेलवे और (३) ईस्टर्न बँगाल रेलवे। शेष का इन्तज़ाम सरकार ने कम्पनियों को सौंप रक्खा है। कम्पनियाँ ठेके पर काम करती हैं। किन किन कम्पनियों को ठेका दिया गया है और वह कब ख़तम होगा, इसका विवरण सुनिए—

कम्पनियों के नाम	ठेके की समाप्ति का समय	मीलों में लम्बाई
(१) ईस्ट इण्डियन रेलवे	१९१९ ईसवी	२,७१७
(२) तिरहुत स्टेट रेलवे (बँगाल और नार्थ-वेस्टर्न रेलवे कम्पनी इसका काम करती है।)	१९१९ ,,	७८८

कम्पनियों के नाम	ठेके की समाप्ति का समय	मीलों में लम्बाई
(३) आसाम बंगाल रेलवे	१९२१ ईसवी	८९६
(४) ग्रेट इंडियन पेनिनशुला रेलवे	१९२५ ,,	३,०२५
(५) बर्मा रेलवे	१९२८ ,,	१,३४१
(६) मद्रास और सदर्न मराठा रेलवे	१९३७ ,,	३,१३२
(७) बांबे बरौदा और सेन्ट्रल इंडिया रेलवे	१९४२ ,,	३,६३७
(८) साउथ इंडियन रेलवे	१९४५ ,,	१,७५२
(९) बंगाल नागपुर रेलवे	१९५० ,,	२,६७३

सरकार ने १८७८ ईसवी में गारंटीड रेलवे ख़रीदना शुरू किया और १९०८ ईसवी में आखिरी गारंटीड रेलवे खरीदी गई।

पूर्वोक्त विवरण से पाठक जान गये होंगे कि भारत में किन रेलों का प्रबन्ध किसके द्वारा हो रहा है और इस कारोबार में किसको कितना लाभ हुआ।

पिछली २७ जून को भारत सरकार ने एक सरकुलर निकाला है—इस हेतु से कि सरकारी (State) रेलों का प्रबन्ध कम्पनी ही के अधिकार में रहे या सरकार के, इस विषय पर सर्वसाधारण की राय ली जाय। इस पर कम्पनी के तरफ़दारों की ओर से कम्पनी के प्रबन्ध का समर्थन बड़े ज़ोरोशोर से होने लगा। उन्होंने अपने पक्ष की पुष्टि में छोटे-बड़े, उचित-अनुचित, १० कारणों की एक सूची बना दी और कम्पनी के प्रबन्ध की खूब प्रशंसा की। उन कारणों में से पहले छः कारण सामान्य हैं; पिछले चार का सम्बन्ध भारतवर्ष से बहुत घनिष्ट है।

प्रयाग से अँगरेजी में एक मासिक पत्र निकलता है। उसका नाम है—हिन्दुस्तान रिव्यू। उसकी दिसम्बर १६ की संख्या में इस विषय पर एक लेख निकला है—सरकार बनाम हिन्दुस्तानी रेलों का कम्पनी-प्रबन्ध। उसे लिखा है मिस्टर एस० वी० डोराई स्वामी, बी० ए० ने। आपने उसमें बड़ी ही योग्यता से पूर्वोक्त कारणों का खण्डन किया है।

आपने दिखाया है कि ये कारण निस्सार, निर्मूल और लोगों की आँखों में धूल झोंकनेवाले हैं।

कम्पनी के तरफ़दार चाहे जितना चिल्लायँ, कम्पनी-प्रबन्ध के कुफल प्रत्यक्ष हैं। कम्पनी के प्रबन्ध की हानियों के ज्ञान से लोग अपरिचित नहीं। उसके दुष्परिणाम स्वयं-प्रकाश्य हैं। इससे नफ़े की वह रक़म जो सरकार को मिलनी चाहिए, सूद के रूप में, विलायत चली जाती है। यह बात हम नहीं कहते, भारत-सरकार के भूतपूर्व परामर्शदाता इञ्जिनियर सर गिल्डफ़र्ड मोल्सवर्थ (Sir Guildford Molesworth) साहब स्वयं ही कहते हैं। ईस्ट इंडिया एसोसिएशन में आपने कहा है—"कुछ ऊपर २४ करोड़ रुपया, प्रति वर्ष, सूद के नाम से, विलायती महाजनों की जेबों में चला जाता है। यदि सरकारी प्रबन्ध हो तो यह रुपया इस देश की पैदावार और उद्योग-धन्धों की उन्नति आदि कल्याणकारी कामों में लग सके।"

३० वर्ष पहले, लार्ड रिपन के ज़माने में, इन्हीं गिल्डफर्ड साहब ने कहा था कि सरकारी प्रबन्ध से खर्च कम और आमदनी ज़ियादह होगी। इससे सरकार और प्रजा दोनों को लाभ होगा। कम्पनी के प्रबन्ध से, सरकारी रेलों के कर्मचारी जितनी हानि होना बताते हैं, वास्तव में उससे भी कहीं अधिक हानि हुई है।

बम्बई के प्रसिद्ध व्यापारी सर इबराहीम रहिमतुल्ला के शब्दों में सरकारी प्रबंध से ये लाभ हैं—

(१) शेयरों का जो मुनाफ़ा कम्पनियों को मिलता है, वह बच जायगा।

(२) आजकल माल का महसूल इतना बढ़ा-चढ़ा है कि उससे स्वाभाविक रीति पर व्यापार नहीं चल सकता। सरकारी प्रबन्ध में यह बात न होगी।

(३) इस देश के उद्योग-धन्धों की वृद्धि और उन्नति होगी।

(४) अन्तर्जातीय व्यापार बढ़ जायगा।

(५) सभी रेलों का काम, लन्दन में, बोर्ड आव् डाइरेक्टर्स के द्वारा होता है। परंतु भारत-सरकार का प्रबन्ध हो जाने पर यह काम भारत ही में होगा। अतएव उसे भारतीय लोगों की सम्मति भी लेनी होगी।

इसके अतिरिक्त और भी लाभ हैं; पर वे किसी न किसी रूप में प्रायः इन्हीं में समाविष्ट हो जाते हैं।

मान लिया कि सरकारी व्यवस्था लाभकारिणी है और कम्पनी की हानिप्रद। अब प्रश्न यह है कि सरकार को रेलों का शासन अपने अधीन करना किस तरह चाहिए। कम्पनियों को सरकार ठेका दे चुकी है। इस दशा में दो उपाय हो सकते हैं। कुछ लोगों की राय है कि जब जिस कम्पनी का ठेका ख़तम हो, उसका शासन सरकार अपने हाथ में ले ले। कुछ लोगों का ख़याल है कि इससे सरकार की हानि होगी। पिछले ५०–६० वर्षों तक सरकार खूब हानि उठा चुकी है। अतएव एक नया क़ानून बनाकर उसके अनुसार दो वर्ष की मीयादी नोटिस कम्पनियों को दे दी जाय और मीयाद के बाद कुल कम्पनियों से रेलों का काम सरकार ले ले। जापान, प्रशिया, इटाली, स्विटज़रलैंड इत्यादि देशों ने ऐसा ही किया है। चाहे आज सरकार रेलों को अपने क़ब्ज़े में ले ले, चाहे कल और चाहे दस बीस वर्ष बाद, यह निर्विवाद है कि रेलों का प्रबन्ध सरकार द्वारा होना ही लाभदायक है।

[मई १९१७.

आयुर्वैदिक और यूनानी कालेज की आवश्यकता

मेडिकल कालेज, मेडिकल स्कूल और मेडिकल प्रैकटिशनर अभी कल के हैं। इनके प्रादुर्भाव के पहले इस देश के तीस करोड़ निवासियों की रोग-चिकित्सा कौन करता था? केवल वैद्य और हकीम। हकीमों के अस्तित्व के पहले यह काम केवल वैद्य करते थे। आयुर्वेद-विषयक अनन्त ग्रन्थों के नष्ट हो जाने पर भी अब भी इस विषय के सैकड़ों ग्रन्थ विद्यमान हैं। उनके अवलोकन से मालूम होता है कि किसी समय यह विद्या इस देश में बहुत उन्नति को प्राप्त थी। विदेशी नरेश यहाँ के वैद्यों को बड़े बड़े पुरस्कार देकर अपने यहाँ बुलाते थे। अरब, फ़ारिस, चीन और तिब्बत के विद्वान् यहाँ के आयुर्वेद-ग्रन्थों का अनुवाद अपनी अपनी भाषाओं में करके उनसे लाभ उठाते थे। पर अब वह समय नहीं। इन चिकित्सा-प्रणालियों का आदर करनेवाले नहीं रहे। वैद्यों और हकीमों को यथेष्ट वृत्ति देकर उनका सम्मान करनेवाले अब कोई विरले ही पाये जाते हैं। देश की गवर्नमेंट डाक्टरी चिकित्सा की पृष्ठपोषक है। उसी की सहायता से वह प्रजा के रोग-निवारण का यत्न करती है। इस दशा में जो यूनानी और वैद्यक चिकित्सायें बिलकुल ही नष्ट नहीं हो गईं, यही क्या कम सौभाग्य की बात है। परन्तु कारणवश अवनति को प्राप्त होने पर भी किसी वस्तु के आन्तरिक गुण नहीं नष्ट हो जाते। जिन्होंने पश्चिमी वैद्यक-विद्या में पारदर्शिता प्राप्त करके भी आयुर्वेद का अध्ययन किया है, वे जान गये हैं कि इस चिकित्सा में अनेक गुण हैं। उसकी भित्ति विज्ञान पर अवस्थित है। वह इस देश के निवासियों की प्रकृति के अनुकूल है।

थोड़े ही खर्च से लोग इस चिकित्सा से लाभ उठा सकते हैं। जहाँ डाक्टरों की पहुँच नहीं, वहाँ यही चिकित्सा अधिकांश प्रजा की प्राण-रक्षा करती और उसकी रोग-जात पीड़ा दूर करती है। विपक्षी आक्षेप करते हैं कि इस चिकित्सा में जूड़ी और बुख़ार, अतीसार और संग्रहणी, कामला और हलीमक के लिए दवायें हो सकती हैं। परन्तु देशी वैद्य और हकीम चीर-फाड़ का काम तो नहीं कर सकते। पर किसी बात की विस्मृति से उसका अत्यन्ताभाव नहीं सिद्ध होता। अभ्यास बना न रखने से सर्जरी-पास डाक्टर भी अच्छी तरह चीर-फाड़ नहीं कर सकते। और यदि सौ दो सौ वर्ष तक डाक्टरों को यह काम बिलकुल ही न करना पड़े तो डाक्टरी की इस शाखा की भी वही दशा हो जो आयुर्वैदिक सर्जरी की हुई है। जिस देश में चक्रवर्ती राजा थे, जिस देश में लाखों सैनिक युद्ध में मरते-कटते थे, जिस देश के देहाती नाई तक साधारण चीर-फाड़ का काम करते थे, वहाँ सर्जरी का प्रचार न था, यह कौन स्वीकार करेगा? पुराने ग्रन्थ और पुराने शस्त्र इस बात का अब भी प्रमाण दे रहे हैं कि आयुर्वेद की यह शाखा भी इस देश में थी और बहुत उन्नतावस्था में थी। अनेक अवरोधक कारणों से लोग उसे भूल गये हैं। और भूली बात, फिर भी याद आ सकती है। पश्चिमी देशों की सर्जरी खूब उन्नत है; पश्चिमी डाक्टरी ने भी विशेष उन्नति की है। पर इससे यह सिद्ध नहीं होता कि हमारी चिकित्सा-प्रणाली हेय, अतएव भूल जाने योग्य है। गवर्नमेंट के डाक्टरी महकमे के सबसे बड़े अफ़सर, सर पार्डी लुकिस तक ने, भरे कौंसिल में, यह स्वीकार किया है कि हमारी चिकित्सा-प्रणाली हँसकर उड़ा देने की चीज़ नहीं। अभी उस दिन एक लड़के के दिमाग़ में कुछ फितूर हो गया। उसे ऐलोपैथिक दवायें दी गईं; कुछ लाभ न हुआ। होमियोपैथिक चिकित्सा की गई; वह भी कार-गर न हुई। पर एक टके की वच और शंखपुष्पी ने उसे नीरोग कर दिया। यदि यह बात मान भी ली जाय कि डाक्टरी चिकित्सा ही सर्वोत्तम चिकित्सा है, तो भी तो वह सब कहीं प्राप्य नहीं।

लाखों, करोड़ों देहातियों को उससे लाभ पहुँचाना, गवर्नमेंट के लिए इस समय सम्भव नहीं। यह बड़े खर्च का काम है और इतना खर्च वह नहीं कर सकती।

यही सोचकर इस प्रान्त के कौंसिल में, १० अप्रैल १९१७ को, माननीय सुखवीरसिंह ने एक प्रस्ताव उपस्थित किया। उन्होंने सलाह दी कि गवर्नमेंट लखनऊ में एक यूनानी और एक वैद्यक कालेज खोलने की कृपा करे। इसका समर्थन प्रजा-पक्ष के अनेक मेम्बरों ने किया। पर गवर्नमेंट ने इस प्रस्ताव को स्वीकार न किया। माननीय मिस्टर ओ-डोनल ने कहा—पहले यह बात मालूम हो जानी चाहिए कि ये दोनों चिकित्सा-प्रणालियाँ वैज्ञानिक आधार भी रखती हैं या नहीं। तब कालेज खोलने का विचार ठीक होगा। अभी तो, बहुत समय तक, ऐसे कामों के लिए गवर्नमेंट के पास रुपये का होना भी सम्भव नहीं। बड़े कौंसिल में "पास" हुए एक प्रस्ताव के अनुसार गवर्नमेंट आव् इंडिया इस बात की जाँच कर रही है कि इन चिकित्सा-प्रणालियों की स्थिति वैज्ञानिक आधार पर मानी भी जा सकती है या नहीं। उसका नतीजा तो मालूम हो जाने दीजिए; तब देखा जायगा। फल यह हुआ कि यह प्रस्ताव "पास" न हो सका।

पर मदरास की गवर्नमेंट ने इस प्रान्त की गवर्नमेंट से कुछ अधिक उदारता दिखाई है। वहाँ एक महाशय ने उस दिन यह प्रस्ताव किया कि गवर्नमेंट आयुर्वैदिक और यूनानी चिकित्सा-प्रणालियों की जाँच के लिए किसी योग्य अफ़सर की योजना करे। इस प्रार्थना को वहाँ की गवर्नमेंट ने मान लिया है। आशा है, मदरास की गवर्नमेंट और गवर्नमेंट आव् इंडिया की जाँच का फल अच्छा ही होगा।

[जून १९१७.

मातृभाषा और अँगरेज़ी

कलकत्ता-विश्वविद्यालय के गुण-दोषों की जाँच और उसके पाठ्य-विषयों आदि में संशोधन करने की आवश्यकताओं पर विचार करने के लिए जो कमीशन बैठा था, उसकी रिपोर्ट प्रकाशित हुए कई महीने बीत गये। रिपोर्ट बहुत बड़ी है। बड़ी बड़ी कोई १३ जिल्दों में है। उसकी पहली ५ जिल्दें बड़े काम की हैं। कमीशन ने अपने विचार यद्यपि कलकत्ता-विश्वविद्यालय ही के विषय में प्रकट किये हैं, तथापि उन विचारों से इस देश के अन्यान्य विश्वविद्यालय भी लाभ उठा सकते हैं। शिक्षा-दान और शिक्षा-ग्रहण आदि विषयों का विचार कमीशन ने अनेक दृष्टियों से किया है। अतएव उसकी रिपोर्ट प्रत्येक शिक्षा-प्रेमी के देखने योग्य है। कमीशन ने बँगला और अँगरेज़ी भाषाओं के महत्त्व और प्रचार के विषय में भी अपनी सम्मति प्रकट की है। उसकी यह सम्मति अन्य प्रान्तिक भाषाओं के विषय में भी चरितार्थ हो सकती है। बँगला की जगह यदि हिन्दी कर दी जाय तो कमीशन की सम्मति इलाहाबाद-विश्वविद्यालय के लिए भी तद्वत् कार्यकारिणी हो जाय। कमीशन की सम्मति है—

बहुत लोग बँगला भाषा के प्रयोग के हृदय से पक्षपाती हैं। पर उनमें से भी बहुत ही कम लोग ऐसे हैं जिनकी राय में बँगला इतनी उन्नत हो गई है कि पश्चिमी शिक्षा की जितनी शाखाओं का अध्ययन विश्वविद्यालय में कराया जाता है, उनमें से अधिकांश की शिक्षा बँगला द्वारा ही दी जा सकती है। अधिक लोगों की राय तो यही है कि एफ़० ए० से लेकर आगे की सारी शिक्षा अँगरेज़ी भाषा ही के द्वारा दी जानी चाहिए।

हमारी राय है कि भारतवर्ष के सभी प्रान्तों के शिक्षित जन दो भाषाओं के ज्ञाता होना पसन्द करते हैं—अँगरेज़ी के भी और अपनी मातृभाषा के भी। यही बात दूसरे देशों के लिए भी कही जा सकती है। अँगरेज़ी साम्राज्य के अन्तर्गत देशों के और दूसरे देशों के भी निवासी यही चाहते हैं। कुछ बातें ऐसी हैं जो उन्हें बहुत प्यारी हैं; उनका सम्बन्ध बाल्यावस्था से मरण पर्य्यन्त उनके साथ अखण्डित रहता है। जातीय भाव और कविता-निर्म्माण की जान यही बातें हैं। इन बातों को तो वे अपनी ही मातृभाषा के द्वारा प्रकट करना चाहते हैं। भारत के भिन्न-भिन्न प्रान्तों में एकता और मेल बना रखने, दूसरे देशों के साथ सम्बन्ध जोड़ने, विद्या और विज्ञान-विषयक विचारों का पारस्परिक परिवर्त्तन करने और जिन भिन्न-प्रान्तीय तथा भिन्न-देशीय व्यापारों और उद्योग-धन्धों की वृद्धि पर इस देश की आर्थिक उन्नति अवलम्बित है, उनके सम्बन्ध में अपने विचार प्रकट करने के लिए लोग अँगरेज़ी भाषा काम में लाना चाहते हैं।

वेल्स के रहनेवाले अपनी भाषा और अँगरेज़ी दोनों बोलते हैं। हम में से जो लोग ग्रेट-ब्रिटन की स्थिति से जानकारी रखते हैं, वे जानते हैं कि वेल्स के विद्यार्थी जब उन विश्वविद्यालयों में भरती होते हैं जिनमें शिक्षा अँगरेज़ी द्वारा दी जाती है, तब उन्हें कुछ भी कठिनता नहीं मालूम होती। बेलजियम और स्विटज़रलैंड आदि देशों में भी साथ ही साथ दो भाषायें प्रचलित हैं। वहाँवालों को भी इससे कुछ कष्ट नहीं होता—उनकी शिक्षा में किसी तरह का व्यत्यय नहीं आता और न उनके बुद्धि-विकास में कुछ रुकावट ही होती है। भारतवर्ष में अँगरेज़ी सीखने के लिए जितना समय स्कूल में ख़र्च करना पड़ता है और जितना काम घर पर करना पड़ता है, उसके आधे ही ख़र्च और काम से योरप के कई बड़े-बड़े देशों के निवासी अपनी भाषा के अतिरिक्त किसी और भाषा का ज्ञान, काम चलाने योग्य, प्राप्त कर लेते हैं। मदरास के कुछ स्कूलों में दो भाषायें प्रचलित हैं। इसका फल सन्तोष-जनक हुआ है। बङ्गाल में भी तदनुसार

काम करने से सफलता प्राप्त हो सकती है। हमारा उद्देश्य यह है कि बङ्गाल का शिक्षित समुदाय दो भाषाओं का ज्ञान प्राप्त करे। परन्तु, साथ ही, इसकी भी बड़ी जरूरत है कि देशी भाषाओं की उन्नति की जाय। इन भाषाओं की उन्नति द्वारा ही पूर्वी तथा पश्चिमी देशों की विद्या और विज्ञान के प्रचार से सर्व-साधारण जनों को लाभ पहुँच सकेगा; और किसी तरह नहीं।

कमीशन ने ये विचार अपनी रिपोर्ट की पाँचवीं जिल्द के एकतालीसवें अध्याय में प्रकट किये हैं। सो, इस कमीशन की राय में भी देशी भाषाओं की उन्नति की बड़ी आवश्यकता है। पर इलाहाबाद का विश्व-विद्यालय इस छूत से अब तक बचा हुआ है; और शायद कुछ समय तक अभी वह इसके सम्पर्क से अपने को अपवित्र करना पसन्द भी न करे।

[जनवरी १९२०.

शासनाधिकार-विषयक दान का प्रथमांश

अँगरेजी शिक्षा के प्रभाव से इस देश ने बहुत सी नई नई बातें सीखी हैं। पश्चिमी देशों में किस तरह का शासन प्रचलित है, बोलने और मनमाना काम करने की कहाँ तक स्वतन्त्रता है, राजा और प्रजा में कैसा सम्बन्ध है, प्रजा के अधिकार कितने और किस तरह के हैं, राजा और प्रजा के कर्तव्य क्या क्या हैं—ये तथा और भी इसी तरह के विचार, आज से तीस चालीस वर्ष पहले ही, इस देश के शिक्षित जनों के मन में आने लगे थे। शिक्षा-प्रचार और पश्चिमी देशों के साथ संसर्ग-वृद्धि होने के साथ ही साथ ये विचार भी दिन पर दिन ज़ोर पकड़ते गये। फल यह हुआ कि हम लोग अपने हानि-लाभ को समझने लगे और वर्तमान शासन की त्रुटियों को दूर करने की चेष्टा भी करने लगे। नेशनल कांग्रेस (जातीय महासभा) इसी चेष्टा का परिणाम है।

देश-शासन-सम्बन्धी अधिकार प्राप्त करने के लिए लेख, वाणी और कार्य्य द्वारा तरह तरह के प्रयत्न हो ही रहे थे और कुछ कुछ—यद्यपि बहुत ही कम—सफलता भी हुई थी कि योरप में महायुद्ध छिड़ गया। इस युद्ध में भारत ने ब्रिटिश साम्राज्य की धन-जन आदि से जो सहायता की, उस सहायता ने शासनाधिकार देने की शक्ति रखनेवालों के पूर्व विचारों में बहुत कुछ परिवर्तन कर दिया। और भी अनेक कारणों ने इस परिवर्तन-सृष्टि में सहायता दी। न्याय, स्वार्थ, नीति आदि ने भी बल लगाया। फल यह हुआ कि पार्लियामेंट को स्पष्ट शब्दों में यह प्रकट करना पड़ा कि भारतवर्ष को धीरे धीरे स्वायत्त-शासन या उत्तरदायित्व-पूर्ण शासनाधिकार दिया जायगा और उसका प्रथमांश दे डालने का

प्रबन्ध भी शीघ्र ही कर दिया जायगा। इसके अनन्तर, थोड़े ही दिनों में, भारत-भाग्य के प्रधान सूत्रधार, सचिव-शिरोमणि, मांटेगू साहब विलायत से भारतवर्ष आये। उन्होंने वाइसराय, लार्ड चेम्सफ़र्ड, की सलाह से एक रिपोर्ट तैयार की। उसमें उन्होंने सिफ़ारिश की कि भारत को किस तरह के और कौन कौन शासनाधिकार दिये जायँ। इसी भित्ति पर क़ानून का एक मसविदा तैयार किया गया। तब विलायत में पारलियामेंट के कुछ मेम्बरों की एक कमिटी नियत हुई। उसने अनेक नामी नामी भारतवासियों तथा अङ्गरेज़ अधिकारियों, व्यवसायियों और नीतिनिपुणों की गवाहियाँ लीं। उन सब के विचारों को उसने पूर्वोक्त रिपोर्ट में प्रकट किये गये विचारों से मिलाया। अधिकांश विचार उसे मिलते-जुलते मालूम हुए। अनन्तर इस कमिटी ने मिस्टर मांटेगू और लार्ड चेम्सफ़र्ड की रिपोर्ट के वक्तव्यों में कुछ थोड़े से परिवर्तन कर के पारलियामेंट से सिफ़ारिश की कि निर्दिष्ट अधिकार भारत को दे दिये जायँ। किये हुए परिवर्तनों से देय अधिकारों का महत्त्व घटा नहीं, और भी बढ़ गया। तब क़ानूनी मसविदे का विचार पारलियामेंट में हुआ। बहुत कुछ कहा-सुनी हुई—अनुकूल अधिक, प्रतिकूल कम। गवर्नमेंट के पक्ष के मेम्बर प्रायः सभी अनुकूल थे। इससे क़ानून के "पास" हो जाने में कुछ भी कठिनता न हुई। इस क़ानून का नाम है—गवर्नमेंट आव् इण्डिया एक्ट—अर्थात् भारत के शासन का निर्देष्टा क़ानून। सर्वान्त में जब यह ऐक्ट सम्राट् पञ्चम जार्ज के सामने पेश किया गया, तब उन्हों ने भी अपनी मंजूरी दे दी। मंजूरी ही नहीं, सम्राट् ने घोषणा भी प्रकाशित कराई। उस के प्रति वाक्य से सम्राट् की उदारता, कृपा, सदाशयता और सहानुभूति प्रकट होती है। आप ने यह क़ानून पास करके भारत में एक नये युग की अवतारणा सी की है। अपने हृदयौदार्य की गुरुता प्रकट करने के लिए आप ने साथ ही साथ यह भी आज्ञा दी है कि सारे राजनैतिक क़ैदी, इस खुशी में, छोड़ दिये जायँ।

हाँ, कोई ऐसा क़ैदी न छोड़ा जाय जिस को छोड़ने से सर्व-साधारण के अमन-चैन में बाधा पड़े। देश-रक्षा के निमित्त अल्प काल के लिए जारी किये गये अन्य क़ानूनों के पेच में पड़ कर जो लोग क़ैद हुए हैं या नज़र-बन्द हैं, वे भी छोड़ दिये जायँ। साथ ही आपने भारत के स्वदेशी नरेशों का भी एक महामण्डल सङ्गठित करने का आदेश दे दिया है।

आप की हार्दिक इच्छा है कि अब से आप की प्रजा और आप के शासनाधिकारी पुरानी बातों को भूल जायँ और दोनों वर्ग अनुकूलता-पूर्वक परस्पर सहानुभूति-जनित व्यवहार करें। ये सब बातें आप की सदिच्छा, प्रजावात्सल्य और अन्तःकरण की कोमलता की परिचायक हैं। नये नरेश-मण्डल और नये कौंसिलों की प्रथम प्रतिष्ठा करने के लिए आप इसी वर्ष, अर्थात् १९२० की हेमन्त ऋतु में, अपने युवराज, प्रिन्स आव् वेल्स, को भारतवर्ष भेजेंगे। इस कृपा के लिए भारतवासी हृदय से आप के ऋणी रहेंगे। आज-कल की पश्चिमी प्रथा के नियमानुसार शासन का सर्वाधिकार प्रजा ही के हाथ में होना चाहिए। अतएव कुछ नीति-निपुणों की राय है कि ये जो नये अधिकार भारत को मिले हैं या जो आगे मिलेंगे, वे उस के जन्मसिद्ध अधिकार हैं। परन्तु उनको आप ही प्राप्त कर लेना भारत के वश की बात नहीं। इस दृष्टि से इन अधिकारों की प्राप्ति दान ही की सीमा के भीतर है, उपार्जन की सीमा के भीतर नहीं। इस विचार से भारत उन लोगों का कृतज्ञ है कि जिन की सहायता, श्रम और सहानुभूति से ये उसे प्राप्त हुए हैं। इन सहायकों में सब से अधिक कृतज्ञता के पात्र हैं सेक्रेटरी आव् स्टेट, मिस्टर मांटेगू और लार्ड सत्येन्द्रप्रसन्न सिंह। इन्होंने, विशेष कर के मन्त्रि-वर मांटेगू ने, भारत पर जो उपकार किये हैं, वे भारतवासियों के हृत्पटल पर सदा अङ्कित रहेंगे।

प्राप्त हुए शासनाधिकारों का स्थूल रूप

नये पास हुए गवर्नमेंट आव् इंडिया एक्ट के अनुसार शासन-कार्य्य अगले वर्ष, १९२१ की जनवरी से, होगा। कौंसिलों के मेम्बरों का चुनाव इसी साल हो जायगा। नये नियमों के अनुसार गवर्नर-जनरल के कार्य-कर्ता कौंसिल में अब कम से कम तीन हिन्दुस्तानी मेम्बर रहा करेंगे। लेजिस्लेटिव असेम्बली अर्थात् बड़े लाट के कानूनी कौंसिल में १४० मेम्बर रहेंगे। उनमें से १०० मेम्बर जन-समुदाय के नेताओं से चुने जायँगे। मतलब यह कि उसमें प्रजापक्ष के मेम्बरों की संख्या अधिक रहेगी। फलतः वे लोग प्रजा के हित के क़ानून, बहुमत के बल पर, "पास" करा सकेंगे। एक और नये, सबसे बड़े, कौंसिल की स्थापना की जायगी। उसका नाम होगा, कौंसिल आव् स्टेट। यह कौंसिल, अपील कोर्ट के सदृश, *निगरानी का काम करेगा। इसके ६० मेम्बरों में से गवर्नमेंट के कर्म्म*-चारी मेम्बरों की संख्या २० से अधिक न हो सकेगी। मतलब यह कि इसमें भी प्रजा-पक्ष के या चुने हुए मेम्बरों ही की संख्या अधिक रहेगी। ज़मा-ख़र्च के सालाना चिट्ठे पर भी प्रजा के प्रतिनिधि अपनी राय का सिक्का जमा सकेंगे, उसमें कतर-ब्योंत करने की राय दे सकेंगे। हाँ, उनकी कतर-ब्योंत से यदि देश-रक्षा या प्रजा के अमन-चैन आदि में विघ्न पड़ने की सम्भावना होगी तो गवर्नर-जनरल प्रजा के प्रतिनिधियों की बात मान लेने को मजबूर न होंगे। इस दशा में उन्हें विवादास्पद आय-व्यय का विचार अपने कार्य्यकारी कौंसिल में पेश करना पड़ेगा। वहाँ उन्हें एक नहीं, तीन-तीन हिन्दुस्तानी मेम्बरों की राय लेनी पड़ेगी। जब तक ये मेम्बर गवर्नमेंट के पक्ष की दलीलों के दुरुस्त होने के क़ायल न हो जायँगे,

तब तक वे सरकारी बात क्यों मानेंगे। मतलब यह कि गवर्नमेंट को मन-मानी घर जानी करने का मौक़ा बहुत ही कम मिलेगा। प्रतिनिधियों की बात यदि गवर्नमेंट न मानेगी तो उसे वह मामला विलायत भेजना पड़ेगा। वहाँ उस पर एक कमिटी विचार करेगी। फिर कमिटी के फ़ैसले का विचार पारलियामेंट में होगा। उसकी अनुकूलता मिलने पर कहीं गवर्नमेंट प्रजा के प्रतिनिधियों की राय पर हरताल लगा सकेगी। ये बहुत दूर की बातें हैं। बहुत ही कम अवसर शायद ऐसे आवें जब बात इतना तूल पकड़े। अन्यथा गवर्नमेंट और प्रजा के प्रतिनिधि मिल-जुल कर सब बातें यहीं तै करेंगे।

प्रान्तीय गवर्नमेंटें अब प्रायः गवर्नरों के शासनाधीन रहेंगी। कार्य्य-सम्पादक गवर्नमेंट में तीन हिन्दुस्तानी मेम्बर रहेंगे। अँगरेज़ सिर्फ़ एक रहेगा। हाँ, गवर्नर भी रहेगा। पर वह बिना बहुत बड़े कारण के हिन्दु-स्तानियों की राय को ताक पर रख कर काम न कर सकेगा। हिन्दुस्तानी कार्य्य-सम्पादक या सलाहकार और हिन्दुस्तानी मन्त्री मिल कर ही शासन की समस्यायें हल करेंगे। मन्त्री कई होंगे। भिन्न-भिन्न महकमे, जो प्रजापक्ष के प्रतिनिधियों के शासनाधीन रहेंगे, उन्हें बाँट दिये जायँगे। यदि गवर्नर किसी विषय में इन लोगों की राय का प्रतिरोध करना चाहेगा तो उसे कारण बताना पड़ेगा और बहुत कुछ भवति न भवति के अनन्तर वह अपने मनोनुकूल काम कर सकेगा। मतभेद होने पर गवर्नर तत्कालीन कौंसिल को बरख़ास्त तो कर सकेगा, पर दूसरे चुनाव के अनुसार बने हुए कौंसिल ने यदि पूर्वनिर्दिष्ट बात को फिर भी पूर्ववत् ही करना चाहा तो गवर्नर साहब को बहुत करके प्रजापक्ष का निश्चय मान ही लेना पड़ेगा। क्योंकि न मानने से निस्तार नहीं। गवर्नर बार-बार कहाँ तक कौंसिल तोड़ा करेगा!

प्रान्तीय क़ानूनी कौंसिल में सर्वथा प्रजापक्ष ही का बोल-बाला रहेगा। सरकारी मेम्बरों की संख्या बहुत कम रहेगी। इससे सिद्ध है कि

प्रजा को थोड़े-बहुत अधिकार दिये ज़रूर गये हैं। प्रान्तीय शासन में तो प्रजा को दख़ल देने और अपने मनोनुकूल काम करने का बहुत ही अधिक अधिकार प्राप्त हो जायगा। रही भारत के प्रधान शासन की बात, सो उसमें भी कुछ कहने और कुछ करने की गुञ्जाइश रक्खी गई है।

राजपक्ष का कहना है कि तुम्हें जो ये अधिकार दिये जाते हैं, उनके अनुसार शासन करके हमें दिखलाओ कि तुम में शासन करने की योग्यता भी है या नहीं। अभी तक तो तुम लोग सिर्फ़ बातूनी ज़मा-खर्च करते रहे हो। दस वर्ष बाद फिर जाँच की जायगी। तब तुम्हारी योग्यता सिद्ध होने पर अधिकार-वृद्धि कर दी जायगी। यदि इस बीच में कुछ गड़बड़ हुआ तो प्राप्ताधिकारों में कमी हो जाने का भी डर है—इसे भी याद रक्खो। हाँ, यदि तुमने दिये हुए काम को सँभाल लिया तो किसी दिन तुम्हारे देश के शासन का सर्व्वाधिकार भी तुम्हें मिल जायगा। पर जल-स्थल की सेना और विदेशों से राजनैतिक सम्बन्ध रखने की शक्ति पार्लियामेंट अपने ही हाथ में रक्खेगी। सो ठीक ही है। जो कुछ कृपा-पूर्वक दिया जा रहा है, वही क्या कम है! यह सब दाता की उदारता ही पर अवलम्बित है।

प्रान्तीय कौंसिलों के मेम्बरों में से कुछ लोग मन्त्री चुने जाँयगे। उनके निरीक्षण में मुख्य मुख्य इतने महकमे रहेंगे—

(१) म्यूनीसिपैलिटी और डिस्ट्रिक्ट बोर्ड।

(२) चिकित्सा-विभाग।

(३) तन्दुरुस्ती और सफ़ाई।

(४) जनन-मरण।

(५) शिक्षा—अँगरेज़ों और अर्द्ध-अँगरेज़ों की शिक्षा तथा कुछ नये विश्वविद्यालयों को छोड़कर।

(६) कृषि।

(७) पशु-चिकित्सा।

(८) रजिस्टरी-विभाग ।

(९) सहयोग-समितियाँ ।

(१०) उद्योग-धन्धों की उन्नति ।

(११) आबकारी ।

(१२) बारिक मास्टरी ।

इनके सिवा और भी कुछ छोटे छोटे महकमे प्रजापक्ष के मन्त्रियों के अधीन रहेंगे । इनको वे चाहें तारें चाहे बोरें; भार उन्हीं पर छोड़ दिया जायगा । गवर्नर उन्हें बरख़ास्त कर सकेगा । तनख़्वाह वे खूब लम्बी-चौड़ी पावेंगे । अतएव जन-साधारण के हित की दृष्टि से न सही, अपने ही स्वार्थ की दृष्टि से उन्हें अपनी योग्यता की पूरी परख करा देने ही से कल्याण की आशा है ।

[जनवरी १९२०.

नये शासन-सुधार में भारत के मुख्य मुख्य अधिकारियों का वार्षिक वेतन

(१) भारत के गवर्नर जनरल ... दो लाख छप्पन हज़ार रुपये

(२) बङ्गाल, मद्रास, बम्बई और संयुक्त-प्रदेश के गवर्नर ... एक लाख अट्ठाईस हज़ार रुपये

(३) भारत के प्रधान सेनापति (कमाण्डर इन् चीफ) ... ... एक लाख रुपये

(४) पञ्जाब और बिहार-उड़ीसा के गवर्नर ... एक लाख रुपये

(५) मध्य प्रदेश के गवर्नर ... ... बहत्तर हज़ार रुपये

(६) आसाम के गवर्नर ... ... छासठ हज़ार रुपये

(७) गवर्नर जनरल के प्रबन्धकर्तृ कौंसिल के मेम्बर (प्रधान सेनापति को छोड़कर) ... ... अस्सी हज़ार रुपये

(८) बङ्गाल, मद्रास, बम्बई और संयुक्त प्रदेश के गवर्नर के प्रबन्ध-कर्तृ-कौंसिल के मेम्बर ... ... चौंसठ हज़ार रुपये

(९) पञ्जाब और बिहार-उड़ीसा के गवर्नर के प्रबन्ध-कर्तृ-कौंसिल के मेम्बर ... ... साठ हज़ार रुपये

(१०) मध्य प्रदेश के गवर्नर के प्रबन्ध-कर्तृ-कौंसिल के मेम्बर ... अड़तालीस हज़ार रुपये

(११) आसाम के गवर्नर के प्रबन्ध-कर्तृ-कौंसिल के मेम्बर ... बयालिस हज़ार रुपये

[जनवरी १९२०.

देहात की सफ़ाई

कुछ लोगों का ख़याल है—और वे कहते हैं कि हमारा यह ख़याल बहुत पक्का और बहुत दुरुस्त है—कि यदि शासन की बागडोर पढ़े-लिखे हिन्दुस्तानियों के हाथ में आ गई तो बेचारे देहातियों की दुर्गति का ठिकाना न रहेगा। वे बे-मौत मर जायँगे। ये शिक्षित भारतवासी ख़ुद तो मालपुवे उड़ायेंगे और देहातियों को मकई की रोटी के टुकड़े भी पेट भर खाने को न देंगे। इन देहातियों के माँ-बाप तो हमी हैं। हम न होते तो ये कब के नष्ट न हो गये होते, तो दाने दाने को मुहताज ज़रूर हो जाते; इनकी कुगति हो जाती। देहातियों के ये अकारण-बन्धु अधिकतर वे लोग हैं जो विदेशी हैं और वाणिज्य-व्यवसाय के लिए इस देश में विराजमान हैं। कितने ही पेंशनयाफ्ता सरकारी मुलाज़िम भी ऐसे ही हैं। कुछ ऐसे लोग भी हैं जो सरकारी मुलाज़िम हैं और बड़े ऊँचे ऊँचे पदों पर प्रतिष्ठित हैं। सम्भव है, इन लोगों का कहना ठीक हो। पर एक बात हमारी समझ में नहीं आती। यही लोग कहते हैं कि गन्दगी से बीमारी पैदा होती है और बीमारी से लोग मरते हैं। फिर ये लोग अपने इन पुत्र-कल्प देहातियों के गाँवों की सफ़ाई का प्रबन्ध क्यों नहीं करते या कराते? ख़ुद कुछ न करें, न सही। कभी सरकार से अनुरोध भी तो नहीं करते कि हुज़ूर! ज़रा इधर भी नज़र डालिए। कूड़े के ढेर गली गली पड़े हुए हैं; मकानों के सामने ही राख और गोबर के टीले लगे हुए हैं; गन्दे पानी की मोरियाँ चारों तरफ़ बह रही हैं; छोटे छोटे गढ़ों में बरसाती पानी सड़ रहा है। उस दिन सफ़ाई के महकमे के कुछ कार-परदाज़ों की एक मीटिङ्ग हुई। उसमें जुलाई से सेप्टेम्बर १९१९ तक के

तीन महीने के ख़र्च का चिट्ठा पेश हुआ। उससे मालूम हुआ कि सरकार ने देहाती सफ़ाई के लिए जो रुपया खर्च करना मंजूर किया था, उसमें से भी बहुत सा रुपया इस काम में नहीं खर्च किया गया। जैसे इस प्रान्त के गाँव, कानपुर की माल रोड सड़क या लखनऊ के कैसरबाग़ के आस-पास की शाह-राहों की तरह साफ़-सुथरे पड़े हों। कहीं सफ़ाई की ज़रूरत ही न हो। नमक मिले हुए पानी से कुल्ले करो, श्लेष्म-ज्वर न होगा; यह दवा तो बताई जाती है। पर नाबदान साफ़ कराने, कूड़ा उठाने और गन्दगी दूर कराने का बन्दोबस्त नहीं किया जाता। रुपया जो लिया गया, वह ख़र्च क्यों नहीं किया गया? खर्च न करनेवालों से इसकी कैफ़ियत तो ज़रा डाँटकर पूछी जाय। अगर कभी कोई कुछ पूछता है तो वही स्वार्थ-तत्पर शिक्षित हिन्दुस्तानी। देहातियों के माँ-बाप बनने का दावा करनेवाले तो शायद ही कभी इस मामले में कान हिलाते हों। पञ्चायत के क़ानून का मसविदा आज न मालूम कितने दिनों से खटाई में पड़ा है। ग्रामीणों के किसी भी अकृत्रिम बन्धु ने सरकार को इस बात की याद नहीं दिलाई। दिलाई तो एक भारतवासी ही ने; और उसी के ज़ोर लगाने से यह मसविदा अब कहीं जाकर कौंसिल में पेश हो पाया है। सो देहातियों के ये अकारण-बन्धु केवल ज़बानी जमा-ख़र्च की बन्धुता रखते हैं। दीन-दुखिया देहातियों के हित का काम करके अपनी वत्सलता बहुत ही कम प्रकट करते हैं। सफ़ाई का मुहकमा अब अगले साल से एक भारतवासी सचिव को आत्म-समर्पण करनेवाला है। देखें, तब भी हमारे गाँवों की गुहार मन्त्री-महोदय के कानों तक पहुँचती है या नहीं।

[मार्च १९२०.

सफ़ाई और तन्दुरुस्ती का काम

चाहे जो देश हो और उसमें चाहे जिस प्रकार की शासन-प्रणाली प्रचलित हो, उसका काम बिना रुपये के एक मिनट भी नहीं चल सकता। इसी से प्रजा को टैक्स या कर देना पड़ता है। उसी टैक्स के रुपये से शासन-कार्य्य चलता है। गवर्नर, कमिश्नर, कलेक्टर, कमाण्डर इत्यादि सरकारी अफ़सर और कर्म्मचारी जो हजारों रुपये हर महीने, तनख्वाह के रूप में, पाते हैं वह सब रुपया आसमान से नहीं फट पड़ता। वह तो उसी टैक्स की बदौलत प्राप्त होता है। यह टैक्स देती है प्रजा। और अधिकांश प्रजा देहात में—गाँवों और क़सबों में—रहती है। कलकत्ता, बम्बई, कानपुर, लखनऊ और बनारस में नहीं रहती। कर से जो रुपया सरकार को मिलता है, उसका अधिकांश लगान और मालगुज़ारी ही से प्राप्त होता है। और यह लगान और मालगुज़ारी देनेवाले भी देहात ही में अधिक रहते हैं। सो यह कहना चाहिए कि शासन का चर्ख़ा चलानेवाले विशेष करके बेचारे देहाती ही हैं। पर ज़रा शासन की ख़ूबी तो देखिए। वाटर-वर्क्स (नलों द्वारा स्वच्छ पानी पहुँचाने के काम) जारी होंगे तो बड़े बड़े शहरों में! स्कूल और कालेज खुलेंगे तो बड़े बड़े शहरों में! हृदय-हारी उद्यान बनेंगे तो बड़े बड़े शहरों में! अस्पताल और शफ़ाख़ाने खुलेंगे तो बड़े बड़े शहरों में! सफ़ाई और तन्दुरुस्ती की निगरानी के लिए हेल्थ आफ़िसर, इन्सपेक्टर और डाक्टर तैनात किये जायँगे तो बड़े बड़े शहरों में। इस सुन्दर, सुहावने और बखानने योग्य सुप्रबन्ध को तो देखिए। कैसी दिल्लगी है! देहाती कूड़े-करकट में लोटा करें, निरक्षरता के गढ़े में पड़े रहें, बीमारी से अध-मरे होकर जीवन व्यतीत करें, एक पुड़िया कुनैन के लिए तरसें, हर्ज नहीं। उनका काम सिर्फ़ लगान और माल-

गुज़ारी देना है। अपने उस रुपये से फ़ायदा उठाने के वे बहुत कम मुस्तहक हैं। मुस्तहक हैं कौन ? लखनऊ, इलाहाबाद और कानपुर वग़ैरह के सेठ-साहूकार, वकील और बैरिस्टर, महाजन और मास्टर तथा और लोग भी जिन्हें इन बड़े बड़े नगरों के नागरिक होने का सौभाग्य, दैव-योग से, प्राप्त है। इनके लिए नये नये ट्रस्ट, नये नये कालेज, नये नये विश्वविद्यालय पहले ही से खुले हुए हैं, और अब भी खुल रहे हैं। शासन के अभ्रंकष प्रासाद या ऊँची इमारत के स्तम्भ यही हैं न ! देहाती नहीं। उनका काम सिर्फ़ कर देना और इन नागरिकों का काम सिर्फ़ उस कर की बदौलत सुखोपभोग करना है ! जान तो कुछ ऐसा ही पड़ता है। क्योंकि न तो उनके लिए ठीक ठीक शिक्षा का प्रबन्ध है, न दवा पानी का प्रबन्ध है और न उनके गाँवों की सफ़ाई का ही प्रबन्ध है। सरकार कृपा करके ज़िले के हाकिमों को रुपया देती है और कहती है कि इसे देहातियों की शिक्षा और देहातों की सफ़ाई में ख़र्च करना। पर हाकिम इतनी तकलीफ़ क्यों गवारा करने लगे। वह रुपया अथवा उसका अधिकांश ज्यों का त्यों रक्खा रहता है। पूछने पर यह कह दिया जाता है, रुपया रक्खा है; क्या कोई खा गया है। क्या कहना है ! क्या ही अच्छी गुर्बा-परवरी है। माँ-बाप समझे जानेवाले इन ग़रीब-परवरों की इस उदारता का वर्णन मनुष्य तो क्या, शेष जी और शारदा माई भी नहीं कर सकतीं। भाई देहातियों, जरा तो ज़बान हिलाओ। कुछ तो सोचो। बात समझ में न आवे तो किसी समझदार से पूछ देखो। अपना काम करो। तुम्हारे करने ही से होगा। तुम्हारे गाँवों में सफ़ाई कराने और तुम्हारे बच्चों को पढ़ाने के काम का बोझ अगले साल से तुम्हारे ही भाई-बन्द अपने ऊपर लेनेवाले हैं। उनसे ठीक समझौता किये बिना किसी की तरफ़दारी न करना। सावधान !

[अप्रैल १९२०.

थोड़ी, सो भी सूखी शिक्षा

बड़े लाट की कौंसिल में, उस दिन, माननीय मिस्टर सच्चिदानन्द सिंह के पूछने पर, गवर्नमेंट ने बताया कि १९१८–१९ ईसवी में कुल हिन्दुस्तान में प्रारम्भिक शिक्षा देनेवाले १५,०२७ मदरसे थे और उनमें ५९,४१,४८२ लड़के शिक्षा पाते थे। इस देश की जन-संख्या यदि ३२ करोड़ मान ली जाय तो यह कहना पड़ेगा कि फ़ी एक सौ निवासियों के पीछे दो बच्चे भी प्रारम्भिक मदरसों में न थे। और, प्रारम्भिक शिक्षा देनेवाले मदरसे अधिकतर देहात ही में हैं। अतएव देहात में जो निरक्षरता देवी का अटल राज्य है, उसके कारणों में से एक कारण शिक्षा-प्राप्ति के साधनों की कमी भी है। मदरसे अधिक हों तो अधिक लड़के-लड़कियाँ शिक्षा पावें। दस-पाँच गाँवों के बीच कहीं एक मदरसा होने से शिक्षा–प्राप्ति में सुभीता नहीं होता। सरकार यद्यपि चाहती है कि देहात में शिक्षा सुलभ हो जाय; पर कहना एक बात है, कर दिखाना दूसरी बात। फिर, इस तरह की शिक्षा मुफ्त नहीं दी जाती। लड़कों को फ़ीस देनी पड़ती है और पुस्तकों तथा काग़ज़, क़लम–दावात के लिए भी पैसे खर्च करने पड़ते हैं। नमक के लिए भी महीने में जो लोग आने दो आने मुश्किल से खर्च कर सकते हैं वे, बताइए, अपने लड़कों के लिए फ़ीस और पुस्तकों आदि का खर्च कहाँ से लावें। उस दिन कौंसिल में सरकार ने इस बात का भी हिसाब बताया कि किस किस देशी राज्य में प्रारम्भिक शिक्षा मुफ्त दी जाती है और किस किस राज्य में उसका प्राप्त करना अनिवार्य है। सरकारी लेखे से प्रकट है कि कम से कम ४८ रियासतें–विशेष करके बम्बई हाते में–ऐसी हैं जो अपने यहाँ प्रा-

रम्भिक शिक्षा मुफ्त देती हैं। फीस के नाम एक कौड़ी भी किसी से नहीं लेतीं। बम्बई प्रान्त की वरिया, धर्म्मपुर, लखतर, लीमड़ी आदि पाँच छः रियासतों में तो माध्यमिक शिक्षा भी मुफ्त ही दी जाती है। औंध, कोल्हापुर, लीमड़ी, मोरवी, बरोदा और माइसोर इत्यादि कई रियासतों में तो प्रारम्भिक शिक्षा प्राप्त करना अनिवार्य्य भी है। सो इस विषय में तो हमारी अनेक देशी रियासतें ही भली। अपनी प्रजा को शिक्षित बनाने के लिए हमारी विपुल-शक्तिशालिनी सरकार से तो वही अधिक दत्त-चित्त हैं। पर सरकार बेचारी करे क्या? उस के सिर पर खर्च कितना है? फ़ौज के लिए वह खूब खर्च न करे तो भारत पर ख़ैबर के रास्ते किसी शत्रु के टूट पड़ने का डर है। रेलें न बनावे तो हम लोग शिमला-सबाथू आदि की सैर कैसे करें; प्रयाग, हरद्वार, पुरी और द्वारका आदि तीर्थों के दर्शन करने कैसे जायँ; ज़रूरत पड़ने पर एक जगह से दूसरी जगह फौज कैसे रवाना करें; माल कैसे ढोवें; हज़ारों रुपया महीना तनख़्वाह पानेवाले बड़े बड़े अफ़सर न रक्खें तो हम लोगों पर शासन कौन करे। इतने, और बहुत ज़रूरी, ख़र्च करने के उपरान्त जो कुछ बच जाता है, उसी में से सरकार को शिक्षा का ख़र्च निकालना पड़ता है। अतएव वह लाचार है। उसका विशेष दोष नहीं। इस कारण, इस कमी के लिए, हमें उसे माफ़ कर देना चाहिए; पर सरकार की एक कमी के लिए माफ़ी देने को जी नहीं चाहता। वह है उसकी सूखी शिक्षा। देहात के प्रारम्भिक मद्-रसों में वह पढ़ाती है भूगोल और इतिहास, अधिकतर किस्से-कहानी, कुछ हिसाब और थोड़ा सा बीज-गणित तथा रेखा-गणित। देहातियों के लिए यह इतनी शिक्षा कुछ विशेष काम की नहीं। लड़के योरप, अमेरिका, चीन और जापान के पहाड़ों, नगरों, नदियों और राज्यों के नाम आदि रट कर बहुत ही कम लाभ उठा सकते हैं। मिडिल स्कूलों के छात्रों के पढ़े हुए बीज-गणित और रेखा-गणित शायद ही कभी काम आते हों। सई नदी कहाँ से निकली है और कहाँ किसमें गिरती है,

इस बात के जानने से शायद छात्रों को कुछ लाभ भी हो; पर मिसीसिपी और वाल्गा के विवरण रटने से उन्हें कुछ भी लाभ नहीं। अधिकारियों को देखना चाहिए कि और देशों में कैसी शिक्षा दी जाती है। हालैंड, बेलजियम और स्विटज़रलैंड देश हिन्दुस्तान के किसी किसी सूबे से भी छोटे हैं। वहाँ क्या ऐसी ही शिक्षा दी जाती है? क्या वहाँ ऐसी ही शिक्षा की बदौलत लोग सुखी और समृद्ध हैं? क्या वहाँ छोटे छोटे क़सबों तक में कृषि, दस्तकारी, व्यापार और व्यवसाय की शिक्षा नहीं दी जाती? जो उन देशों के लिए अमृत, वह भारत के लिए मधुरता-विरहित मठा कैसे? कल्लू काश्तकार के लड़के को भारत के गवर्नर-जनरलों के नाम कण्ठ कर लेने से क्या लाभ? और बल्लू बढ़ई के पोते को औरङ्गज़ेब की राजनीति समझ लेने से हल बनाने में क्या सुभीता? हमें ऐसी शिक्षा न चाहिए। हमारे देहाती भाइयों को ऐसी शिक्षा चाहिए जिसकी बदौलत दिन में दो दफ़े उन्हें खाने को तो मिल जाया करे। किसी ने ठीक कहा है—

"पढ़ो पूत वा इल्म को तत्तो चूल्हो होय।"

हमें आपकी कोरी जुग़राफ़िया और तवारीख रटना अभीष्ट नहीं। हमें तो आप हल और फाल बनाना सिखलाइए; खेत जोतना, खाद डालना, अच्छी खेती करना, तरकारी बोना सिखलाइए। और कुछ आप से न बन पड़े तो हाथी-चिग्घार के रेशों से रस्सियाँ तैयार करना और टोकरियाँ बुनना ही सिखला दीजिए। कपड़े बुनना, खिलौने बनाना, लोहे-पीतल की अनेक व्यावहारिक चीज़ें तैयार करना, व्यापार-व्यवसाय की युक्तियाँ बताना आप अभी न सिखलावें तो न सही; कुछ मोटे ही मोटे उद्योग-धन्धे सिखला दीजिए। देहातियों को किसी तरह शाम तक पेट भर खाने को तो मिले। माइसोर की रियासत के दीवान कान्तिराज उर्स ने, अभी हाल ही में, जो घोषणा की है, उससे ही कुछ सजग हो जाइए। हाई स्कूल से नीचे की सारी शिक्षा ही इस राज्य ने मुफ़्त दी जाने का

निश्चय नहीं किया; उसने कसबों और छोटे छोटे गाँवों तक में कृषि और व्यवसाय-विषयक शिक्षा देने का बीड़ा उठाया है। ऊँचे दरजे के स्कूलों में तो वह तरह तरह की दस्तकारी और उन्नत उद्योग-धन्धों की शिक्षा का भी प्रबन्ध करने जाती है। बात यह है कि ऐसी ही शिक्षा की जरूरत है। सूखी शिक्षा से विशेष लाभ नहीं। अगले साल नये कौंसिलों की मेम्बरी पाने के लिए अनेक अकर्मण्य लोग भी अभी से दौड़-धूप करने लगे हैं। इन हजरतों में से शायद ही कभी किसी ने देहात की सैर की होगी और देहातियों के सुख और सुभीते—आराम और तकलीफ़—का विचार किया होगा। देहाती मरें या जियें, इन्हें माननीयता मिल जानी चाहिए। भाइयो, ज़रा समझ बूझ कर इन को अपना प्रतिनिधि चुनना; क्योंकि तुम्हारी सूखी शिक्षा को कुछ सरस बना देना, किसी अंश तक, इन्हीं महात्माओं के हाथ की बात होगी।

[अप्रैल १९२०.

उदारता में उफान

गवर्नमेंट को सूबे आगरा के ज़मींदारों और अवध के तअल्लुक़ेदारों के हक़ों की रक्षा का अधिक नहीं तो उतना ख़याल ज़रूर है जितना कि इन लोगों के काश्तकारों के हक़ों की रक्षा का है। तथापि अन्य ज़मींदारों की अपेक्षा अवध के तअल्लुक़ेदारों की ओर गवर्नमेंट का ध्यान कुछ अधिक ही रहता है। बात यह है कि पचास साठ वर्ष पहले इन तअल्लुक़ेदारों से गवर्नमेंट का थोड़ा बहुत काम निकल चुका है। एक कारण और भी है। वह यह कि अवध का सूबा पहले आगरे के सूबे से अलग था। इसी से दोनों सूबों के काश्तकारी और ज़मींदारी क़ानून में विशेष अन्तर है। आगरे के सूबे में कुछ समय तक ज़मीन बराबर जोतने से काश्तकार को कब्ज़ेदारी का हक हासिल हो जाता है, अवध में कभी नहीं होता। अवध में हर सात वर्ष बाद काश्तकारों को ईख की तरह दबा कर इज़ाफ़ा रूपी रस निकालने का इख़्तियार तअल्लुक़ेदारों को हासिल है, आगरे के सूबे में नहीं। अवध में काश्तकार यदि तहरीरी इजाज़त न ले ले तो हज़ारों रुपया पुख़्ता कुवाँ बनाने में ख़र्च करने पर भी, बेदख़ल हो जाने पर, तअल्लुक़ेदार साहब से मुआविज़े की शकल में एक हब्बा भी न पावे। पर इस तरह की तहरीरी इजाज़त हासिल करने का क़ानून सूबे आगरे में नहीं। हथियार रखने के क़ानून में भी कुछ ऐसे ही भेद-भाव देखे जाते हैं। इन के सिवा और भी बहुत सी बातें ऐसी ही हैं। यह तअल्लुक़ेदारों का सौभाग्य है, और क्या! ये जो नये कौंसिल अगली जनवरी से सङ्गठित होंगे, उन में भी तअल्लुक़ेदारों की संख्या कुछ अधिक ही रहेगी। अवध के तअल्लुक़ेदार अपने चार प्रतिनिधि प्रान्तीय कौंसिल में भेज सकेंगे, सूबे आगरे के ज़मींदार सिर्फ़ दो! इन लोगों ने अपने प्रतिनिधि अलग भेजने का हक़ हासिल कर लिया है।

यह शायद इसलिए कि इन लोगों को सर्व-साधारण जनों पर विश्वास नहीं। ये मन में डरते होंगे कि बहुत सी बातें ऐसी हैं जिन से इन का तो लाभ है, पर अन्य लोगों की—विशेष कर इन के काश्तकारों की—हानि है। जो चीज़ इन के लिए अमृत, वही काश्तकारों के लिए कालकूट है। ये कहते होंगे, इस दशा में, सर्व-साधारण जनों के मुखिया या प्रतिनिधि हमारे मुखिया कैसे हो सकते हैं? अथवा, सम्भव है, गवर्नमेंट ही ने कुछ सोच समझ कर तअल्लुक़ेदारों और ज़मींदारों के अपने प्रतिनिधि अलग अलग भेजने की ज़रूरत समझी हो। कुछ भी हो, इस विषय में, अलगाव ही के प्रबन्ध से दोनों पक्षों की बेहतरी हो सकती है। यह ठीक; परस्पर न पटे तो अलग ही अलग सही। पर अलग हो कर भी कुछ तअल्लुक़ेदार और ज़मींदार अपने काश्तकारों के—सर्व-साधारण जनों के—मिहमान बन जाना चाहते हैं। सर्व-साधारण जन यदि तअल्लुक़ेदारों या ज़मींदारों की तरफ़ से कौंसिल के मेम्बर बनने का हौसिला दिखावें तो वे शायद पागल समझे जायँ। पागल नहीं तो उपहास-पात्र ज़रूर ही हो जायँ। गवर्नमेंट तो उन की बात भी न सुने। पर, देखते हैं कि कुछ तअल्लुक़ेदार और ज़मींदार साहब अपनी चार चार और दो दो मेम्बरी अपने फ़िरक़ों के लिए अक्षुण्ण रख कर सर्व-साधारण के लिए रक्षित मेम्बरी में से भी कुछ अंश हड़प कर जाने की चेष्टा कर रहे हैं। यह चेष्टा छिपे छिपे नहीं, डङ्के की चोट हो रही है। अखबारों में लेख लिखे जा रहे हैं। इश्तहार बँट रहे हैं। दूतों और एजेन्टों की दौड़-धूप हो रही है। किस लिए? इसलिए कि हमारे अमुक सरकार साहब ही को आप वोट दीजिएगा। सुना साहब! मैं तो आप का विश्वास नहीं करता; इस से अपना चुनाव अलग कराता हूँ। तुम मेरा विश्वास कर लो और मुझे ही अपना प्रतिनिधि बना डालो! अच्छा साहब, आप ही को बनावेंगे। फ़रमाइए, आप अपने इलाके, ज़िले, क़सबे या शहर के लोगों की क्या क्या खिदमतें करेंगे? जवाब इस का कुछ कुछ इस प्रकार दिया जाता है—

हमारे सरकार गाँव गाँव मदरसे खुलवा देंगे, गाँव गाँव दवाख़ाने जारी करा देंगे, पुलिस को क़ानूनी हद के बाहर पैर न रखने देंगे, जगह जगह कचहरियाँ खुलवा देंगे—वग़ैरह वग़ैरह। क्या कहना है! उदारता हो तो ऐसी, ग़ुर्बा-परवरी हो तो ऐसी! हुज़ूर, आप यह तो सब करेंगे ही। इसके लिए आप को पहले ही से धन्यवाद। पर दया करके आप अपने लैंड रेविन्यू एक्ट और रेंट एक्ट की कोई दफ़ा मनसूख़ कराने या उसमें तरमीम कराने की भूल कर भी कोशिश न कीजिएगा। ऐसा न हो कि कहीं आपकी उदारता में उफान आ जाय और आप घर-फूँक तमाशा देखने लगें। उदारता के आवेश में, सम्भव है, आप कुछ का कुछ कर डालें। इससे बेहतर है, आप अपने ही पक्षवालों का प्रतिनिधित्व करें। सर्व-साधारण को, जिनमें अधिकतर आपके काश्तकार ही हैं, उनके भाग्य के भरोसे छोड़ दें। वे चाहते हैं कि आपकी सात सालवाली क़ैद दूर हो जाय; आपके पक्षवाले चाहते हैं, बनी रहे। वे चाहते हैं, लगान या मालगुज़ारी की कोई हद निश्चित कर दी जाय; आपके पक्षवाले चाहते हैं, वह अनिश्चित ही रहे। वे चाहते हैं कि ज़मीन कुछ समय तक जोतने बोने से उनका भी उस पर कुछ अधिकार हो जाय; आपके पक्षवाले चाहते हैं, यह बात कभी न हो। फिर आप ही फ़रमाइए, आप हमारे प्रतिनिधि कैसे हो सकते हैं। आपकी पूर्व दिशा, और सब लोगों की पश्चिम। ज़मीन के सम्बन्ध में जिस बात से आपका लाभ, उसी से औरों की हानि। और ज़मीन ही से इन बेचारों के जीवन-मरण की समस्या हल हो सकती है; पर उसी में आप बाधक हो रहे हैं। यह बात नहीं कि सब तअल्लुक़ेदार या सब ज़मींदार ऐसे ही हैं। नहीं, उनमें कुछ सचमुच ही, उदार और कृषक-वत्सल हैं। पर अधिक संख्या इसके विरुद्ध स्वभाववालों ही की है। अतएव, दयानिधान! आपकी और अन्य सर्व-साधारण की कभी पट नहीं सकती। आप अलग रहें, वे अलग। इसी से दोनों की स्वार्थ-सिद्धि या हित-साधन की सम्भावना है। [जून १९२०.

सरकारी कृषि-क्षेत्र

कृषि की भी विद्या है। कृषि-विज्ञान कोई ५० वर्ष पहले अनुन्नत दशा में था। पर अब वह विशेष उन्नत है; और उसकी उन्नति अधिकाधिक होती जाती है। जिन पश्चिमी देशों ने खेती के काम को विज्ञान की सीमा से आबद्ध कर दिया है, विशेष करके वही उसकी उन्नति के लिए अधिक दत्तचित्त हैं; वही कृषि-विज्ञान विषयक नई नई खोज करके लाभ उठा रहे हैं। भूमि कितने प्रकार की होती है; किस भूमि में कौन चीज़ अधिक पैदा हो सकती है; किस प्रकार की खाद—या किस युक्ति—से भूमि की उर्वरा शक्ति बढ़ती है; आबपाशी के क्या नियम हैं; पैदावार बढ़ाने की क्या तरकीबें हैं; अच्छे बीज से क्या लाभ हैं—इत्यादि बातें ही कृषि-विज्ञान के विचारणीय विषय हैं। इन्हीं विषयों का सच्चा ज्ञान प्राप्त करने के कारण जर्मनी, अमेरिका, कनाडा और आस्ट्रेलिया आदि देश मालामाल हो रहे हैं। भारत के किसान जब रोटी-टुकड़े के लिए मुहताज हो रहे हैं, तब इन देशों के किसान लखपती और करोड़पती हो रहे हैं। यह सब विज्ञान ही की महिमा का फल है। विज्ञान न जानने ही से भारत में बनी शकर महँगी और जावा में बनी शकर यहाँ आने पर भी सस्ती पड़ती है। विज्ञान ही की अनभिज्ञता से एक बीघे में जितना गेहूँ अमेरिका में पैदा होता है, उसका तिहाया भी भारत में नहीं पैदा होता।

हमारा देश कृषि-प्रधान है। यहाँ के ९० फ़ी सदी मनुष्यों के पेट पालने का अवलम्बन खेती ही है। पर उसी की बुरी दशा है। इस दुरवस्था का गौण कारण तो सरकार की भूमि-कर-सम्बन्धिनी नीति है; पर प्रधान कारण है शिक्षा का अभाव या शिक्षा की कमी। क्योंकि

जो लोग शिक्षित हैं, वही विज्ञान-वेत्ता हो सकते हैं। यदि इस देश में, हर तहसील में न सही, हर जिले ही में कृषि-विद्या सिखाने के लिए एक एक स्कूल खोल दिया जाता और इस विद्या के मोटे मोटे सिद्धान्त देहाती मदरसों में भी सिखाये जाते तो कृषि की उन्नति अवश्य होती। पर हम लोगों के दुर्भाग्य से ऐसा प्रबन्ध अब तक नहीं हुआ। कानपुर में एक टुटरूँटूँ कालेज अवश्य है। परन्तु दस बीस बीघे में खेती करने-वाले अपढ़ काछियों, कुरमियों और अहीरों को उस से क्या लाभ?

सरकार ने कृषि-सम्बन्धी एक महकमा खोल रक्खा है। बड़ी बड़ी तनख्वाहें पानेवाले कितने ही साहब लोग उसमें अफसरी करते हैं। अनेक भारतवासी भी, माकूल तनख़्वाहों पर, उनकी मातहती में, अपनी अपनी कारगुज़ारी दिखाते हैं। कुछ लोग कृषि-विषयक खोज में भी लगे हुए हैं और अपनी अपनी खोज के परिणाम सरकारी भाषा, अँगरेजी में, प्रकट कर रहे हैं। पर यह सब होने पर भी जब कृषि की कहने-सुनने लायक उन्नति न हुई, तब सरकार ने कहा कि देहाती कृषकों के लाभ के लिए लाओ नमूनेदार कृषिक्षेत्र जगह जगह खोल दें। जब ये क्षेत्र खुल गये, तब सरकार ने उन में वैज्ञानिक ढंग से गेहूँ, बाजरा, ईख और कपास आदि बोने का प्रबन्ध कर दिया। यह इसलिए कि साधारण कृषक भी सरकार की बताई हुई प्रणाली से खेती करके ग़रीब से अमीर हो जायँ।

उस दिन इन प्रान्तों के लेजिस्लेटिव कौंसिल में एक मेम्बर ने सरकार से पूछा कि आप अपने खोले हुए कृषि-क्षेत्रों की आमदनी और खर्च का हिसाब तो बताने की कृपा कीजिए। उत्तर से मालूम हुआ कि दो को छोड़ कर बाकी के सभी क्षेत्र घाटे में रहे। मुजफ्फरनगर का १०९ एकड़ का क्षेत्र ७,५००) एक साल (१९२०-२१) में खा गया। और आमदनी उससे कितनी हुई? सिर्फ १,७४०) की; अर्थात् ५,७६०) रुपये का घाटा रहा। मैनपुरी के क्षेत्र की आमदनी से खर्च तिगुना पड़ा! कमोबेश यही

हाल और क्षेत्रों का भी रहा। सब क्षेत्रों की आमदनी और खर्च का हिसाब लगाने पर १६,००० रुपये का घाटा हुआ। यदि ये क्षेत्र सरकार के न होकर और किसी के होते और वह जी लगा कर काम देखता तो क्या यही नतीजा होता? यदि वह बाजरा बो देता—या यदि वह उनमें चरी ही बो देता—तो भी उसे घाटा न रहता। वैज्ञानिक कृषि-क्षेत्रों के सिवा सरकार ने कुछ बीज-क्षेत्र—नहीं, बीज-भाण्डार-भी खोल रक्खे हैं। उनमें चुना हुआ अच्छा बीज जमा रहता है। यह इसलिए कि काश्तकार वही बीज मोल लेकर बोवे और मामूली से अधिक पैदावार पैदा करके लाभ उठावे। पर ये सब भी घाटे ही में रहे। सुल्तानपुर ज़िले में एक जगह नौगवाँ है। वहाँ भी बीज-भाण्डार है। अकेले इसी एक भाण्डार को चार हजार रुपये से भी अधिक का घाटा रहा। जो कृषि-क्षेत्र जाँच के तौर पर, इम्तहानन्, खोले गये हैं, उनके घाटे की तो कुछ पूछिए ही नहीं। सरकार ने ये सब क्षेत्र और भाण्डार खोले तो इसलिए हैं कि सरकार की देखा-देखी काश्तकार भी उसी तरह खेती करके और वैसा ही बीज बोकर लाभ उठावें; पर जब उसे खुद ही घाटा होता है, तब अपढ़ किसान उसकी बातों पर कैसे विश्वास कर सकते हैं? सरकार का कहना है कि महकमा ज़िरात के डाइरेक्टरों और अफ़सरों के सरकिल बहुत बड़े बड़े हैं। इस कारण वे क्षेत्रों की निगरानी अच्छी तरह नहीं कर सके। इसी से घाटा हुआ। इस पर हमारी प्रार्थना है कि चाहे आप हर ज़िले के लिए एक एक डाइरेक्टर रख दें और कृषकों के लाख पचास हज़ार रुपये और खर्च कर डालें, विशेष लाभ होने की सम्भावना नहीं। अशिक्षित और निर्धन किसान घर छोड़कर किसानी सीखने दूर नहीं जा सकते। उनकी शिक्षा का यथेष्ट प्रबन्ध कीजिए, उनकी भाषा में कृषि-विज्ञान के स्थूल सिद्धान्त उन्हें सिखाइए, उनके गाँवों के मदरसों से लगे हुए छोटे छोटे क्षेत्र खोलिए, तभी उन्हें विशेष लाभ हो सकेगा, अन्यथा नहीं।

सरकार को तो घाटा रहता है। परन्तु जो तअल्लुकेदार और

ज़मींदार क्षेत्र खोल कर वैज्ञानिक ढंग से खेती करते हैं, उन को लाभ ही होता है। इस से सिद्ध है कि वैज्ञानिक ढंग से खेती करने का सुभीता यदि कर दिया जाय तो साधारण कृषकों को भी लाभ हो। पर अभी इस की विशेष सम्भावना नहीं। इस के लिए अपनी निज की भूमि होनी चाहिए; और दस पाँच बीघे नहीं, अधिक होनी चाहिए। पर काश्तकारों के भाग्य में यह बात नहीं। न उन्हें मौरूसी हक़ ही मिलता है और न चकबन्दी का प्रबन्ध करके ख़ास ख़ास किसानों को कुछ अधिक ज़मीन देने ही का प्रबन्ध होता है। हाँ तअल्लुकेदारों के लिए सभी सुभीते हैं। क्षेत्र खोलने के लिए यदि वे चाहें तो किसानों को बेदख़ल करके उनके जोत की भी जमीन वे छीन सकते हैं। पर तअल्लुक़ेदारों और जमींदारों ही से यह प्रान्त और यह देश आबाद नहीं। उनके सौ दो सौ या हज़ार दो हज़ार क्षेत्र खुल जाने पर भी कृषि की पूरी उन्नति न हो सकेगी। पूरी उन्नति तभी होगी जब साधारण कृषक भी—दस बीस बीघे ज़मीन जोतनेवाला किसान भी—कृषि-क्षेत्र खोलकर वैज्ञानिक ढंग से खेती करने लगेगा। पर देश के दुर्भाग्य से अभी वह समय दूर मालूम होता है। तथापि दूर हो या अदूर, कभी तो वह अवश्य ही आवेगा; क्योंकि

सम्पद्विपद्वापि निसर्गलोला,
कुत्रापि न स्थैर्य्यमुरीकरोति।

[फरवरी १९२२.

नगरों में अनिवार्य शिक्षा देने का विचार

मानसिक और शारीरिक कष्टों का सब से प्रबल कारण अशिक्षा अथवा निरक्षरता है। पढ़े-लिखे आदमी में ज्ञान और बुद्धि-विकास की मात्रा जितनी रहती है, अपढ़ में उतनी नहीं। साक्षर होने से ज्ञानाधिक्य की सहायता से मनुष्य कितने ही रोगों से बच सकता है; अपढ़ों की अपेक्षा अधिक धनोपार्जन कर सकता है; विपत्ति के बादल घिर आने पर उनसे वह अपना बचाव भी अधिक कर सकता है। बात यह है कि—"विद्याविहीनः पशुः"। अपढ़ आदमी मनुष्य नहीं, पशु के सदृश है। इस पशुत्व से बचने और सुख-चैन से रहने के अधिक साधन प्रस्तुत कर सकने के लिए शिक्षा-प्राप्ति और विद्योपार्जन की आवश्यकता मनुष्य-मात्र के लिए है।

परन्तु शिक्षा की कमी होने के कारण भारतवासियों में पशुत्व ही अधिक है, मनुष्यत्व कम। इसी से गोखले आदि के सदृश कितने ही महानुभावों ने आज तक प्रारम्भिक शिक्षा अनिवार्य करा देने के लिए गवर्नमेंट पर बार बार दबाव डाला है। यह दबाव उस पर अब तक डाला जा रहा है। अपने प्रान्त में इसका कुछ फल भी होने के लक्षण दिखाई दे रहे हैं। म्युनिसिपैलिटियों के लिए इस विषय का एक क़ानून भी बन गया है।

जनवरी १९२१ में गवर्नमेंट ने अपने प्रान्त के म्युनीसिपल बोर्डों के सामने एक तजवीज़ पेश की। उसने कहा—कहो, अपने स्कूलों में अनिवार्य शिक्षा जारी कराना चाहते हो या नहीं? चाहते हो तो मुफ़स्सिल तौर पर यह बताओ कि उसका प्रबन्ध किस तरह करोगे? कितना अधिक

ख़र्च दे सकोगे ? कौन कौन सी नई बातें करनी होंगी और उन्हें करने के लिए तुम कहाँ तक तैयार हो ?

उत्तर में ३२ म्यूनीसिपल बोर्डों में अनिवार्य शिक्षा देने—अर्थात् ६ से ११ वर्ष तक के बच्चों को ज़बरदस्ती मदरसों में भरती करने—के विषय में अपनी रज़ामन्दी ज़ाहिर की। पर ये बोर्ड ख़र्च वग़ैरह की तफ़सील ठीक ठीक न बता सके; किसी ने किसी सिद्धान्त का अनुगमन किया, किसी ने किसी का। तब लाचार होकर गवर्नमेंट ने अपने शिक्षा-विभाग के अफ़सरों से कहा कि बोर्डों के भरोसे बैठे रहना ठीक नहीं। जो बातें गवर्नमेंट जानना चाहती है, वे तुम्हीं बताओ तो काम चले। खयाल इतना ही रहे कि सब के लिए सिद्धान्त एक ही रहे और उसी को आँख के सामने रख कर सिफ़ारिशें की जायँ।

शिक्षा-विभाग के लिए यह कौन बड़ी बात थी। ऐसी ऐसी तजवीजें पेश करना और उन्हें कार-आमद करने के लिए रास्ता बताना उसके बायें हाथ का खेल है। उसके अफ़सरों ने गवर्नमेंट की आज्ञा का पालन कर दिया। उनके वक्तव्य का सारांश सुन लीजिए—

(१) जिन नगरों और कसबों में म्यूनीसिपल बोर्ड हैं, वहाँ अभी कोई ८० फ़ी सदी बच्चों को स्कूल जाना पड़ेगा। बाकी २० फ़ी सदी में से कुछ तो मुस्तसना कर दिये जायँगे और कुछ म्यूनीसिपैलिटी के स्कूलों में न जाकर अँगरेज़ी स्कूलों में भरती होंगे।

(२) अनुमान यह है कि १९२२–२३ ईसवी में ७५ फ़ी सदी को, १९२३–२४ में ९० फ़ी सदी को, और १९२४–२५ में १०० फ़ी सदी बच्चों को ज़बरदस्ती स्कूल भेजना पड़ेगा।

(३) ख़र्च वग़ैरह का जो तख़मीना किया गया है, उसमें यह मान लिया गया है कि हर प्रारम्भिक मदरसे में १८९ लड़के पढ़ेंगे और हर ३० लड़कों के लिए एक मुदर्रिस रखना पड़ेगा। मुदर्रिसों को वही तनख़्वाह देनी पड़ेगी जो डिस्ट्रिक्ट बोर्ड के मुदर्रिसों को दी जाती है। अध्या-

पन-कार्य्य की शिक्षा जिन्होंने नहीं पाई, उन्हें कम से कम १४) महीना तनख्वाह मिलेगी।

(४) अध्यापन-कार्य्य की शिक्षा के लिए अधिक ट्रेनिङ्ग क्लासें खोलनी पड़ेंगी जिससे किसी के छुट्टी जाने, मुलाज़िमत छोड़ने या मर जाने पर काम न रुके। जितने मुदर्रिस नये रक्खे जायँगे, उनमें से आधे मुदर्रिसों को ट्रेनिंग क्लासों में अध्यापन-कार्य्य सीखना पड़ेगा।

(५) जो मुतफ़र्रिक ख़र्च हर साल करना पड़ेगा, उसका अनुमान नीचे लिखे अनुसार है—

(क) हर प्रारम्भिक मदरसे के नौकरों के लिए १००) साल।

(ख) हर प्रारम्भिक मदरसे के मकान के सालाना किराये के लिए ३०) जब तक नई इमारत न बन जाय।

(ग) हर नये मुदर्रिस के मुतफ़र्रिक ख़र्च के लिए, जिसमें काग़ज़, कलम, दावात और इनाम भी शामिल हैं, २०) साल।

(घ) हर ट्रेनिङ्ग क्लास के मुतफ़र्रिक ख़र्च के लिए २००) साल।

(६) जो अफ़सर मदरसों की निगरानी करेंगे, उनकी तनख्वाह और मुतफ़र्रिक़ ख़र्च का अनुमान नीचे लिखे अनुसार समझिए—

(क) २० या २० से कम मदरसों की म्यूनीसिपैलिटियों के अफ़सर की तनख़्वाह ५०) महीना और ख़र्च २४०) साल।

(ख) २१ से ५० तक मदरसोंवाली म्यूनीसिपैलिटियों के अफ़सर की तनख़्वाह ७५) महीना और ख़र्च ३००) साल।

(ग) ५० से ऊपर मदरसोंवाली म्यूनीसिपैलिटियों के अफ़सर की तनख़्वाह १००) महीना और ख़र्च ४२०) साल।

(७) इसके सिवा शुरू शुरू में और भी कुछ ख़र्च पड़ेगा। यथा—

(क) जो लड़के नये भरती होंगे, उनसे से फी लड़के के लिए टाट, काले तख़्ते और चित्रलिपि आदि का ख़र्च ३) के हिसाब से पड़ेगा।

यह बात आरम्भिक मदरसों की हुई। ट्रेनिङ्ग क्लासों का आरम्भिक खर्च होगा कोई २००)।

(ख) हर प्रारम्भिक स्कूल की इमारत का खर्च होगा कोई ७ हज़ार रुपया। इस खर्च में ज़मीन की कीमत शामिल नहीं।

यह हुआ शिक्षा-विभाग के अफ़सरों का लगाया हुआ तख़मीना और उनकी बताई हुई तफ़सील। इस पर गवर्नमेंट की आज्ञा है कि अगर इतने रुपये के लिए उसके ख़ज़ाने में गुंजाइश हो और कानूनी कौंसिल उसे खर्च करने की मंजूरी भी दे दे तो वह म्यूनिसिपैलिटियों में अनिवार्य शिक्षा जारी करने के लिए तैयार है। इस निमित्त जितना ज़ायद खर्च पड़ेगा, उसका दो-तिहाई वह देगी। इसके सिवा मुदर्रिसों को कम से कम तनख़्वाह देने के जो निर्ख़ हैं, उनके अनुसार तनख़्वाह देने के लिए जितना रुपया अधिक खर्च होगा, वह भी गवर्नमेंट देगी। शर्त यह है कि उसे कुल खर्च ६० फी सदी से अधिक न करना पड़े। मतलब यह कि १००) में ६०) गवर्नमेंट देने को तैयार है। बाक़ी ४०) म्यूनीसिपैलिटी दे!

गवर्नमेंट की इस उदारता के लिए धन्यवाद। आशा है, ऐसी एक भी म्यूनीसिपैलिटी न निकलेगी जो फ़ी सदी ४०) भी अधिक खर्च न कर सके। और यदि कोई निकल भी आवे तो समझना चाहिए कि उसके मेम्बरों ने अपने कर्त्तव्य-पालन की गुरुता नहीं समझी। अतएव वे मेम्बरी के योग्य ही नहीं।

[जून १९२२.

शासनाधिकार की मीमांसा

दूसरों पर शासन करने का अधिकारी कौन है ? किन गुणों के कारण दूसरों पर शासन करने का अधिकार मनुष्य को प्राप्त हो जाता है ? यह प्रश्न बहुत पुराना है और इसका उत्तर भी बहुत पुराने ज़माने ही में दिया जा चुका है। परन्तु फिर भी, इस प्रश्न के आधार पर बड़े बड़े ग्रन्थ और बड़े बड़े लेख लिखे जा चुके हैं और अब तक उनका लिखा जाना जारी है। वाग्वितण्डा इस विषय में कितनी हो चुकी है और अब भी हो रही है, इसकी तो इयत्ता ही नहीं। कोई कहता है, जो जातियाँ असभ्य या अनुन्नत हैं, उन पर शासन करने का अधिकार सभ्य और उन्नत जातियों को है, पर तभी तक जब तक वे अनुन्नत जातियाँ अपना शासन आप ही करने लायक़ न हो जायँ। कोई कहता है, यह विचार ठीक नहीं। स्वतन्त्रता मनुष्य का जन्मसिद्ध अधिकार है। सभ्य हों या असभ्य, देश-विदेश के निवासियों को अपना शासन आप ही करने का पूर्ण अधिकार है। कोई न्याय-अन्याय की दुहाई देते हैं। वे कहते हैं, अमुक देश हमारा है; वह हमारी जन्मभूमि है; हमीं वहाँ के शासन के अधिकारी हैं। तुम होते कौन हो !

इस प्रकार के प्रश्न और प्रतिप्रश्न, वाद और विवाद, जल्पना और विकत्थना, न मालूम कब से, होती चली आ रही है। पर एक के सिद्धान्त को दूसरा नहीं मानता और दूसरे के सिद्धान्त को तीसरा। जिसका स्वार्थ जिसमें है, वह उसी सिद्धान्त को निर्भ्रान्त सिद्ध करने की चेष्टा करता है। परन्तु इस प्रान्त के देहातियों ने इस इतने जटिल प्रश्न का

बड़ा ही सुन्दर और बड़ा ही युक्ति-सङ्गत उत्तर दे रक्खा है। और वह उत्तर भी कैसा? सर्वथा निर्भ्रान्त। वह है—जिसकी लाठी, उसकी भैंस।

क्यों, है न? संसार में बलवान् ही शासन का अधिकारी है, निर्बल नहीं। न्याय और धर्म्म ताक पर रक्खे रहते हैं; अथवा वे कपटाचार की प्रेरणा से, बलवान् ही के पक्ष का समर्थन करते हैं। वे समर्थन करें या न करें, बली के बल के सामने उनकी एक भी चाल नहीं चल सकती। अतएव शासनाधिकार की प्राप्ति के लिए बलवान् होना पुण्य और निर्बल होना पाप है। और कोई इस तत्त्व को चाहे माने चाहे न माने, पर राजनीति इसकी ज़रूर क़ायल है। लिखा है—

अङ्काधिरोपितमृगश्चन्द्रमा मृगलाञ्छनः।
केसरी निष्ठुरक्षिप्तमृगयूथो मृगाधिपः॥

चन्द्र-बिम्ब के भीतर जो मृग दिखाई देता है, उसे उसने अपने हृदय—अपनी गोद—में बिठा रक्खा है। चन्द्रमा उसका खूब लाड-प्यार, दुलार, चापलूसी और खुशामद करता है। उसे फल इसका क्या मिला है? केवल कलङ्क। उसके इस कृत्य के कारण ही लोग उसे मृग-लाञ्छन कहते हैं। उधर सिंह को देखिए और मृगों के साथ किये गये उसके सलूक पर विचार कीजिए। देखते ही वह उन पर बड़ी ही निष्ठुरता से प्रहार करता है, और अपने तीव्र नखों और नुकीले दाँतों से चीर-फाड़ कर उन्हें खा जाता है। इसका पुरस्कार उसे क्या मिलता है? लोक में उसकी कीर्ति होती है। लोग कहते हैं, बड़ा बहादुर है; मृगाधिप है—मृगों का बादशाह है!

सो शेर की यह बादशाही उसे उसकी लम्बी लाठी ही की बदौलत मिली है। और चन्द्रमा का कलङ्क उसकी कोमलता, उसकी निर्बलता, उसकी नामर्दी का फल है। शेर जिस तरह, अपने बल के प्रभाव से, ज़बरदस्ती मृगराज या वनराज है, उसी तरह गरुड़ भी, अपने क्षुरप्रभ नखों और शक्ति-सम्पन्न शरीर के प्रभाव से, पक्षिराज है। अतएव जो बात

पशुओं और पक्षियों तक के विषय में चरितार्थ हैं, वही मनुष्यों के भी विषय में चरितार्थ है। मनुष्य कुछ ईश्वर की सृष्टि के बाहर थोड़े ही है। फिर भी हम लोग राजत्व और शासनत्व के अधिकार के विषय में व्यर्थ ही वाद-विवाद करते और न्याय तथा धर्म्म की दुहाई देते हैं। किसी की दुहाई देना निर्बलता का सूचक है और लाठी उठाने की शक्ति रखना राजत्व पाने की योग्यता का सूचक है। यह ध्रुव सत्य है; इसमें मीन-मेख के लिए ज़रा भी जगह नहीं।

परन्तु लाठी उठाना सब का काम नहीं। हाथ में बल न होने पर, सींगवाले पशु, लाठी उठानेवाले को खुद ही अपने सींगों से उठाकर जमीन पर पटक सकते हैं और उन्हें रौंदकर यमपुर भी पहुँचा सकते हैं। तीक्ष्ण नखों और कराल दंष्ट्राओं से सम्पन्न पशुओं का मुक़ाबला गायें और बैल, भैंस और भैंसें, बकरियाँ और गीदड़ नहीं कर सकते। हाँ, यदि मन्त्रणा करके, समुदाय रूप से, वे हिंसक जन्तुओं का सामना करें तो अवश्य सफल-मनोरथ हो सकते हैं।

साल-वन में एक शेर रहता था। वह वन विचरणशील अन्य पशुओं का शत्रु था और ज़बरदस्ती उनका राजा बना बैठा था। उनमें से दो चार को वह रोज़ खा जाता था। तङ्ग आकर एक दिन एक महानिर्बल बूढ़े शृगाल ने अपने सजातियों को बुलाकर कौंसिल की। उसमें यह निश्चय हुआ कि हममें से चाहे जितने भाई काम आ जायँ, पर हम अब शेर को राजा न मानेंगे—उसे उसके अन्याय की सज़ा दिये बिना न रहेंगे। इस प्रकार का निश्चय करके सैकड़ों हज़ारों गीदड़, मरने-मारने पर उतारू होकर, एक जगह एकत्र हो गये। इतने में शाम हुई। शेर अपने शिकार की खोज में बाहर निकला। घूमते-घामते वह वहीं आ पहुँचा जहाँ शृगालों का समुदाय उसकी राह देख रहा था। इतना अधिक मजमा देखकर पहले तो वह सहमा। पर पीछे से उसने सोचा कि ये करेंगे मेरा क्या? न इनमें से किसी के नाखून ही तेज़ हैं, न बड़ी

बड़ी दंष्ट्रायें ही हैं, न इनके शरीर में उतना बल ही है। अतएव वह बड़े जोर से गरजा। फिर दो गीदड़ों को अपने मुँह में उसने दाब लिया और दो चार को, अपने थपेड़ों से, दाहने-बायें धराशायी कर दिया। इतने में बूढ़े श्रृगाल-नायक ने हुङ्कार किया। बस, फिर क्या था! दस-पाँच गीदड़ शेर की पूँछ से चिपट गये। दस-पाँच उसके सिर पर चढ़ गये। चार चार पाँच पाँच ने उसके एक एक पैर पर हमला किया। दस बीस उसकी पीठ पर सवार हो गये। यह दशा देखकर जङ्गल के शाहंशाह जी अपनी सिट्टी भूल गये। जिन दो गीदड़ों को उन्होंने पकड़ रक्खा था, वे भी छूट गये। उधर पाँच ही मिनट में उन सब शक्तिहीन सत्वों ने राजा बहादुर की एक एक बोटी नोच खाई और अपनी बपौती वनभूमि को निष्कण्टक कर दिया।

ज़बरदस्ती बादशाह बन बैठनेवाले उस शेर को इस तरह ठिकाने लगाकर सब श्रृगालों ने वहाँ प्रतिनिधिसत्ताक राज्य की संस्थापना कर दी और अपने नायक, बृद्ध श्रृगाल, को उसका प्रेसीडेंट बना दिया।

श्रृगाल मांसभोजी प्राणी हैं। अतएव अपना अधिकार पाने के लिए उन्होंने जो योजना की, वह उचित थी। जो मांस-भोजी नहीं, यथा—हिरन, उनके लिए यह योजना ठीक नहीं। वे यदि किसी युक्ति से शेर का चारा-पानी बन्द कर दें तो वे भी शासनाधिकार प्राप्त करके निरापद हो सकते हैं।

सो शासन का अधिकारी वही हो सकता है जिसके हाथ में बल है और जो लम्बी लाठी रखता है। उससे तब तक परित्राण नहीं हो सकता, जब तक निर्बलों का समुदाय उसका सामना युक्तिपूर्वक नहीं करता या उसका चारा-पानी बन्द नहीं कर देता। अन्य योजनायें अरण्य-रोदन अर्थात् व्यर्थ हैं।

[जनवरी १९२४.

अफ़ीम की बे-रोक-टोक बिक्री

अफीम विष है। विप अपना प्रभाव तुरन्त ही प्रकट करते हैं और काफ़ी मात्रा में खाये जाने से मनुष्य के प्राण शीघ्र ही हर लेते हैं। अफ़ीम खाने से भी यही होता है—मनुष्य मृत्यु को प्राप्त हो जाता है। पर थोड़ी अफ़ीम खाने से मृत्यु नहीं होती । उसे प्रति दिन खाने से आदत पड़ जाती है और फिर नहीं छूटती। अफ़ीमची तत्काल मृत्यु से तो बच जाते हैं, पर धीरे धीरे वे मृत्यु के मुख की ओर बराबर बढ़ते ही जाते हैं और किसी दिन उनकी अकाल मृत्यु ज़रूर होती है। उसके पहले भी वे जीवन-मृत ही से रहते हैं। शरीर के भीतर, रग रग में, अफ़ीम का विप पहुँच जाता है। शरीर किसी काम का नहीं रह जाता। वे जीते ही नाना प्रकार की यन्त्रणायें भोगते हैं। अफ़ीम न मिलने से उनकी जो दुर्गति होती है, उसका वर्णन नहीं हो सकता। वह सर्वथा अवर्णनीय है।

ऐसे दुरन्त विप के प्रभाव से अपनी सन्तति की रक्षा करना प्रत्येक माता-पिता का कर्तव्य है। राजा या शासनाधिकारी भी प्रत्येक प्रजा के पितृ-स्थानीय हैं। अपायों और अकाल मरण से प्रजा को बचाना उसका भी धर्म्म है। इसी से सभ्य और शिक्षित देशों की गवर्नमेंटों ने अपने अपने देश में अफ़ीम की अबाध बिक्री बन्द कर दी है। उन्होंने कड़े क़ानून बना दिये हैं। उनको जो लोग तोड़ते हैं, वे दण्ड पाते हैं। बिना डाक्टर का सार्टीफ़िकेट दिखाये वहाँ दवा के लिए भी अफ़ीम नहीं मिल सकती। हालैंड के हेग नगर में जो अन्तर्जातिक सभा है, उसने अफ़ीम के व्यवसाय के सम्बन्ध में एक कमिटी बना रक्खी है। जो देश उसके मेम्बर हैं, वे वहाँ उस कमिटी में बैठकर अफीम के व्यवसाय और बिक्री के नि-

यन्त्रण के विषय में विचार करते और नियम बनाते हैं। उन्हीं नियमों के अनुसार प्रत्येक देश में क़ानून बनते हैं। जिन देशों ने—उदाहरणार्थ इँगलैंड, अमेरिका के संयुक्त राष्ट्र, फ़िलीपाइन, चीन, जापान, तथा अन्य अनेक सभ्य देशों ने एकमत होकर वैसे नियामक क़ानून बनाये हैं, उन्हीं में अफ़ीम की बिक्री बन्द हो गई है अथवा उसका नियन्त्रण कर दिया गया है।

बहुत समय हुआ, इस विषय में, हेग में जो निश्चय हुआ था, उस पर अँगरेज़ी राज्यों के प्रतिनिधियों ने भी स्वीकृति-सूचक हस्ताक्षर किये थे। उस नियम का आशय यह है—

"जो नियम इस सभा में निर्दिष्ट हुए हैं, उनके अनुसार यदि अँगरेजी गवर्नमेंट कार्रवाई करेगी और इँगलैंड में कोई क़ानून बनावेगी तो वही क़ानून भारत, लङ्का, स्ट्रेट्स सेटेलमेंट, हाँगकाँग और वी-हुई-वी में भी बनाने को बाध्य होगी।"

मतलब यह कि यदि विलायत में अफ़ीम की बिक्री बन्द कर दी जायगी तो भारत में भी बन्द करनी पड़ेगी। परन्तु इङ्गलैंड में तो बन्द कर दी गई, भारत में नहीं। वहाँ तो "Dangerous Drugs Act" नाम का क़ानून बना कर अफ़ीम बेचने का निषेध हो गया। अब सिवा दवा के वहाँ न तो खाने के लिए अफ़ीम मिल सकती है और न बेची ही जा सकती है।

चाहिए तो था कि वचनबद्ध होने के कारण ब्रिटिश गवर्नमेंट वैसा ही क़ानून भारत में भी बना देती; परन्तु यहाँ अफ़ीम बोने और बेचने का इजारा उसने खुद ही ले रक्खा है और उससे उसे साल में कई करोड़ रुपये की आमदनी होती है। इधर फ़ौज, रेल वग़ैरह के लिए उसे रुपये की सदा ही बहुत ज़ियादह ज़रूरत रहती है। इसी से कुछ लोगों का ख़याल है कि गवर्नमेंट इस आमदनी को सहसा हाथ से नहीं जाने देना चाहती। इस विषय में भारत-प्रेमी श्रीयुत सी० एफ़० एंड्रूज़ साहब ने जनवरी २४ के "माडर्न-रिव्यू" में दो तीन नोट बड़े मार्के के लिखे

हैं। उनमें अफ़ीम की बिक्री के विषय में जो दलीलें पेश की गई हैं, वे सचमुच ही अवलम्बनीय हैं।

हेग में लिखे गये इक़रारनामे पर दस्तख़त करके अपने देश, इँगलैंड और आयरलैंड, में तो तुमने अफ़ीम की बिक्री बन्द कर दी; पर यहाँ भारत में क्यों नहीं बन्द की? इसका उत्तर दिया जाता है—यहाँ वैसा क़ानून बनाने की ज़रूरत ही नहीं। देखते नहीं कि सरकार अफ़ीम की क़ीमत बढ़ाती चली जा रही है। धीरे धीरे उसकी बिक्री आप ही बन्द हो जायगी। क़ानून बनाना ही न पड़ेगा। इस पर फिर सवाल किया जाता है—तो इस नीति से तुमने अपने देश में क्यों काम नहीं लिया? वहाँ के लिए वैसा क़ानून क्यों बनाया? उत्तर मिलता है—क़ानून बनाने से भारत-वासियों को बहुत कष्ट मिलेगा। उससे उलटे उन्हीं की हानि होगी; क्योंकि वे लोग अफ़ीम इतनी थोड़ी खाते हैं कि उससे उन्हें हानि के बदले लाभ ही होता है। फिर वे अफ़ीम हुक्के या चिलम में नहीं पीते, घोल कर या यों ही खा जाते हैं। और इस तरह खाना मुज़िर नहीं। इन लचर दलीलों को सुन कर हँसी भी आती है और अपने दुर्भाग्य पर रोना भी आता है। जो हमारे शिक्षागुरु हैं और जो हमें राज्य करना और सभ्य बनाना सिखाने के लिए ही यहाँ टिके हुए हैं, वे तो अपनी बढ़ी हुई शिक्षा की बदौलत थोड़ी मात्रा में अफ़ीम खाकर उससे लाभ न उठावें—क़ानूनन् बिक्री रोकने की ज़रूरत समझें—पर बिचारे अशिक्षित या अर्द्ध-शिक्षित भारत-वासियों को संयमशील बता कर अपने से भी अधिक शिक्षित ठहराने की धृष्टता करें।

खेद तो इस बात का है कि हेग की कमिटी में अपने देश के धन्य और मान्य नेता श्रीनिवास शास्त्री ने भी भारतवासियों की संयमशीलता की प्रशंसा की थी और यह कहा था कि हम लोग बहुत ही थोड़ी मात्रा में अफ़ीम खाते हैं; इससे विशेष हानि नहीं होती। पर एँड्रूज साहब ने नामी नामी डाक्टरों की सम्मति उद्धृत करके सिद्ध किया है कि अफ़ीम

खाने से पीने की भी अपेक्षा अधिक हानि होती है और वह चाहे जितनी कम खाई जाय, उससे अपाय जरूर ही होता है।

एक बात और भी है। सरकार ने जो अफ़ीम के दाम बढ़ा दिये हैं, उससे बिक्री में कमी भी तो नहीं हुई। हुई भी होगी तो बहुत कम। क़ीमत चाहे जितनी बढ़ जाय, अफ़ीमची बिना अफ़ीम खाये नहीं रह सकते। चाहे स्त्री का जेवर बिक जाय और चाहे लोटा-थाली तक चला जाय, वे अफ़ीम ज़रूर खायँगे। आदत पड़ जाने से फिर वह किसी तरह छूट ही नहीं सकती। सो सरकार की नीति—आमदनी अधिक, अफ़ीम की बिक्री कम—कारगर नहीं हो सकती।

सरकार की पूर्व-निर्दिष्ट नीति नितान्त निष्फल है। इसका प्रमाण आसाम प्रान्त है। इस नीति के रहते भी जब वहाँवालों में अफ़ीम का चसका कम न हुआ, प्रत्युत् बढ़ ही गया, तब नये कौंसिल के मेम्बरों ने अफ़ीम की बिक्री एक-दम बन्द कर देने के प्रस्ताव किये। उन्होंने कहा, केवल दवा के लिए अफ़ीम मिले, खाने के लिए नहीं। आजिज़ आकर वहाँ की गवर्नमेंट ने अब यह नियम कर दिया है कि अब से हर साल १० फ़ी सदी अफ़ीम कम बेची जाया करे। यदि इसका पालन हुआ तो अफ़ीम की बिक्री बिलकुल ही बन्द होने में दस पन्द्रह वर्ष ज़रूर लगेंगे। ख़ैर यही बहुत है। भारत के अन्यान्य प्रान्तों को भी कम से कम आसाम के कौंसिल के मेम्बरों का अनुसरण करना चाहिए।

[फरवरी १९२४..

कैदियों का सौभाग्योदय

सभ्य देशों में अपराधियों को जो दण्ड दिया जाता है, उसका उद्देश्य चरित्र-सुधार होता है। चोर को यदि ६ महीने का जेल हुआ तो जेल के अधिकारियों का कर्तव्य है कि उन ६ महीनों में उसे इतना सुधार दें कि फिर कभी वह चोरी न करे। जितने दण्ड दिये जाते हैं, सब का हेतु यही होता है और यही होना भी चाहिए। परन्तु भाग्यहीन भारत का जेल इस सम्बन्ध में अपवाद है। यहाँ जो कैदी रहते हैं, उनके चरित्र सुधरने के बदले बहुधा और भी बिगड़ जाते हैं। न उनके लिए धर्म्मोपदेशक की योजना, न उनके साथ दया और औदार्य्य के व्यवहार का प्रबन्ध। इस विषय पर जानकार जनों ने जो कुछ लिखा और वक्तृताओं में जो कुछ कहा है, उससे जान पड़ता है कि यहाँ क़ैदी पशुओं से भी हीन समझे जाते हैं। उन्हें नाना प्रकार की शारीरिक यन्त्रणायें भोगनी पड़ती हैं, मिट्टी-कङ्कड़ मिला हुआ भोजन पचाना पड़ता है, पशुओं के योग्य वनस्पतियों की उबली हुई तरकारी खानी पड़ती है। उनकी मानसिक उन्नति के लिए तो रत्ती भर भी चेष्टा नहीं की जाती। जेलों में क़ैदी बहुधा अनेक प्रकार के घृणित विकारों और विचारों के शिकार हो जाते हैं। मतलब यह कि वहाँ रहने से उनका चरित्र और भी बिगड़ जाता है, सुधरता नहीं।

कुछ समय हुआ, जानकारों की एक कमिटी गवर्नमेंट ने बना दी थी। उसने जेलों का निरीक्षण करके अपनी रिपोर्ट में अनेक त्रुटियों का उल्लेख किया, जिनमें से, सुनते हैं, कुछ का दूरीकरण अथवा संशोधन भी सरकार ने कर दिया है। एक दण्ड यहाँ जो कैदियों को दिया जाता

है, वह बड़ा ही भीषण और सन्तापजनक है। उसे यद्यपि कितने ही सभ्य देशों ने उठा दिया है, तथापि यहाँ वह अब तक जारी है—विशेष करके जेलों में। वह है बेत की सजा। इस पैशाचिक दण्ड के कारण क़ैदियों के मन और शरीर, दोनों पर, बड़ा ही घातक प्रभाव पड़ता है। परन्तु दयावती सरकार इसे बन्द नहीं करना चाहती।

अख़बार देखनेवालों ने पढ़ा होगा कि बङ्गाल के कुछ सुशिक्षित क़ैदियों पर भी, वहाँ के कुछ जेलों के अधिकारियों ने, बेतों के प्रहार करके उनका चरित्र सुधारा था! शायद उनमें से कुछ कैदी उच्च शिक्षा पाये हुए थे—वे एम० ए०, बी० ए० थे। इस कारण क़ैदियों ने अनशन भी, कुछ दिनों तक, किया था। इस दण्ड की बात बाहर सुनी जाने पर बड़ा कोलाहल मचा था और सरकार के दरबार तक भी उसकी ख़बर पहुँचाई गई। यदि हम भूलते नहीं तो इस विषय में कौंसिलों में प्रश्न और प्रस्ताव भी हुए थे और इस बात पर ज़ोर दिया गया था कि यह अमानुषिक दण्ड बन्द कर दिया जाय।

इस हाय हाय ने सरकार के हृदय में दया का सञ्चार कर दिया है। पर उस सञ्चार की सीमा सङ्कुचित ही है। उसका फल-भोग विशेष करके स्पेशल क्लास (ख़ास दरजे) के क़ैदियों ही को प्राप्त होगा। २९ दिसम्बर २३ के गैज़ट आव् इंडिया में एक नोटिस निकला है। उसमें लिखा है कि बिना लोकल गवर्नमेंट (सूबे के लाट साहब) की आज्ञा के ख़ास दरजे के कैदियों को बेत की सज़ा न दी जाया करे। रहे और कैदी; सो वे यदि बलवा करें, या जेल के नियमों को बुरी तरह तोड़ें, या जेल के अधिकारियों या निरीक्षकों पर हमला करें, तभी उन पर बेत पड़ें। इन अपराधों को करने के लिए किसी को उभाड़ने या और सज़ायें निष्फल जाने पर भी यह दण्ड दिया जाय। इसकी रिपोर्ट जेलों के इन्स्पेक्टर जनरल को भेजनी पड़ेगी।

इससे सिद्ध है कि ख़ास दरजे के कैदियों पर सरकार ने विशेष दया

दिखाई है, साधारण कैदियों पर साधारण ही। खैर, इतनी भी रिआयत गनीमत है। परन्तु जैसे और प्रकार के दण्ड गुपचुप दिये जाते हैं, वैसे ही यदि बेंत का दण्ड भी दिया जाय और उसकी रिपोर्ट न की जाय तो? तो कैदियों का दुर्भाग्य!

[मार्च १९२४.

प्रवासी भारतीयों की करुण कथा

अफ़रीक़ा के पूर्वी समुद्र-तट से मिला हुआ एक छोटा सा देश या प्रान्त है। वह पहले ब्रिटिश ईस्ट अफ़रीक़ा, अर्थात् अङ्गरेजों का पूर्वी-अफ़रीक़ा प्रान्त, कहाता था। अब वह केनिया नामक उपनिवेश कहाता है। नैरोबी उसका प्रधान नगर है। वह अफ़रीक़ा ही के निवासी हबशियों का देश है; उन्हीं की वह जन्मभूमि या मातृभूमि है; उन्हीं का वहाँ आधिक्य है। पर वे हैं असभ्य और अशिक्षित। हज़ारों वर्ष से वे वहाँ रहते आये हैं और अब भी रहते हैं। बहुत समय बीता, वहाँ पहले-पहल भारतवासी ही बाहर से पहुँचे। उन्हीं ने वहाँ बनिज-व्यापार शुरू किया। उन्होंने जङ्गलों में बस्तियाँ बसा दीं, बीहड़ जगहों तक पहुँचने के लिए रास्ते बना दिये; जहाँ सभ्यता-सूचक वस्तुओं के नाम तक न सुने गये थे, वहाँ वे चीज़ें बेचने के लिए उन्होंने दुकानें खोल दीं। वहाँ के काले हबशियों को वे खूब भाये; उनसे उनकी खूब पटी; कभी परस्पर लड़ाई झगड़े नहीं हुए। उनकी वहाँ धीरे धीरे खूब प्रतिपत्ति बढ़ी। सैकड़ों भारतवासी, अपने उद्योग और परिश्रम से, अमीर हो गये। इन भारतवासियों ने उसी देश को अपना देश समझ लिया और वे वहीं के हो गये। पर अनेकों का सम्पर्क भारत से बना रहा।

केनिया में भारतवासियों को बसते और फूलते-फलते देख योरप के गौरकाय मनुष्य भी वहाँ पहुँचे। धीरे धीरे वहाँ उनकी भी संख्या बढ़ने लगी। उनके साथ ही उनके पादड़ी साहब और बाइबिल नामक धर्म-ग्रन्थ की कापियाँ भी पहुँचीं। बन्दूकें, मैशीन गनें और तोपें भी पहुँचीं। भारतवासियों ही की सहायता से वहाँ रेलें बनने लगीं। शेरों, रीछों,

भेड़ियों ने यद्यपि अनन्त भारतवासियों को यमराज का अतिथि बना दिया, तथापि सभ्यता-प्रचार का काम उन्होंने जारी ही रक्खा। बड़े बड़े नगर बस गये। जगह जगह योरपवालों की कोठियाँ खुल गईं। इन गोरे आगन्तुकों ने बड़े पैराये में खेती भी करना शुरू किया। कुछ समय के बाद केनिया प्रान्त अङ्गरेज़ों का उपनिवेश बन गया और वहाँ एक गवर्नर रहने लगा। केनिया के हबशी और वहाँ बसे हुए भारतवासी सभी उसकी अधीनता में आ गये।

मितव्यय और सुप्रबन्ध के कारण व्यापार और दुकानदारी में भारत-वासियों से गोरे हार खाने लगे। तब उनके नियन्त्रण की योजनायें निकाली जाने लगीं। कहा गया, इन लोगों की चाल-ढाल और रीति-रवाज अच्छे नहीं। ये साफ़-सुथरे नहीं रहते। ये शोरोगुल बहुत मचाते और लड़ाई-झगड़े किया करते हैं। इससे ये अलग रहा करें, हम अलग। ये अपनी दुकानें भी हमारी दुकानों के पास न लगाया या खोला करें। इन नियन्त्रणों ने यद्यपि पूर्ण व्यापकता नहीं पाई, तथापि कहीं कहीं इनके अनुसार कारंवाई ज़रूर होने लगी। यहाँ तक कि इस विषय के कानून तक बन गये—ऊँची ऊँची अच्छी जगहों में गोरे रहें; नीची और खराब जगहों में गैरेतर।

भारतीयों ने बहुत हो-हल्ला मचाया, पर उनकी चली नहीं। शासन-सूत्र जिनके हाथ में था, वे मनमानी करते ही गये। पर इतने ही से उन्हें सन्तोष न हुआ। उन्होंने देखा कि संख्या में भारतवासी हमसे कई गुने अधिक हैं, व्यापार-व्यवसाय चलाने में भी वे हमसे अधिक योग्यता रखते हैं। यदि वे इसी तरह बढ़ते गये और शासनाधिकार में दखल देने लगे तो हमारी खैर नहीं। यह सोचकर गौरकाय निवासियों ने नाना प्रकार के प्रतिबन्ध करके भारतवासियों का आवागमन कम करने और बसे हुओं को फिर भारत लौटा देने की योजनायें कर दीं। इसमें उन्हें कुछ थोड़ी सी कामयाबी तो हुई, पर उससे उन्हें यथेष्ट सन्तोष न हुआ।

अतएव वे काँटे की तरह खटकनेवाले भारतीयों की जड़ ही धीरे धीरे काट देने का अब उपक्रम कर रहे हैं।

भारतीय कहते हैं कि अरे भाई, हम यहाँ तुम से सैकड़ों साल पहले आकर बसे थे। हमारा भी कुछ स्वत्व यहाँ है। हमें अपनी जन-संख्या के अनुपात से शासन में अधिकार मिलना चाहिए। तुम तो अभी कल आये हो। गोरे कहते हैं—नहीं, तुम्हें अपना अधिकार नहीं मिल सकता। शासन-सभा में हमारे ही प्रतिनिधियों की संख्या अधिक रहेगी। हाँ, सलाह-मशविरे के लिए चार पाँच भारतवासी भी रख लिये जायँगे, अधिक नहीं। भारतवासी यदि पूछते हैं कि क्यों? तुम्हारा आधिक्य क्यों होना चाहिए? जवाब मिलता है कि हमीं तो यहाँ के आदिम निवासी हबशियों के संरक्षक हैं। उनकी हितचिन्तना करने का अधिकार हमीं को है। तुम कौन होते हो? शासन में यदि तुम दख़ल देने लगोगे तो अफ़रीक़ावालों का सत्यानाश कर डालोगे। हम उनको पालेंगे, पोसेंगे, शिक्षा देंगे और राज्य-कार्य में पटु करके उनका देश उन्हीं को देकर अपने घर चले जायँगे। तुमसे यह बात थोड़े ही हो सकेगी। भारतवासी हज़ारों दलीलें इसके ख़िलाफ़ पेश करते हैं, पर उनकी नहीं सुनी जाती। अफ़रीका-वाले खुद भी कहते हैं कि भारतवासी हमारे मित्र और हमारे हितचिन्तक हैं। हम चाहते हैं कि उनके लिए सब तरह के सुभीते कर दिये जायँ, हमारी उनकी, तुम्हारी अपेक्षा, अधिक पटती है। परन्तु उनका भी हो-हल्ला हवा में उड़ा दिया जाता है। यदि उनका कोई प्रतिनिधि कुछ अधिक तंग करता है तो वह उस देश ही से निकाल बाहर कर दिया जाता है।

उस दिन डाक्टर सप्रू ने, विलायत की एक राजकीय सभा में, अपनी वक्तृत्व शक्ति का परिचय देते हुए, केनिया के हिन्दुस्तानियों की तरफ़ से बहुत वकालत की। आपने कहा, केनिया के भारतवासी उसी राजा की प्रजा हैं जिसकी प्रजा केनिया के गोरे हैं। उन्हें बराबर बराबर अधिकार

मिलने चाहिए । उपनिवेशों के मन्त्री ने फ़रमाया—केनिया का मामला तै हो चुका । अब उसमें रद्दोबदल नहीं हो सकता। हाँ, भारतवर्ष से यदि डाक्टर सप्रू की निर्दिष्ट कमिटी केनिया जायगी तो उसकी सूचनाओं पर ध्यान अवश्य दिया जायगा।

सो डाक्टर साहब की सूचना के अनुसार कमिटी बनकर केनिया के भारतीयों के विषय में सूचनायें आगे-पीछे करती रहेगी । केनिया के गवर्नर और उपनिवेशों के मन्त्री उसकी ताक में बैठे रहनेवाले नहीं । गवर्नर साहब ने विदेशियों के आवागमन का और भी कड़ा नियन्त्रण करने के लिए एक क़ानून का मसविदा प्रकाशित भी कर दिया और वह यहाँ के गेज़ट आव् इंडिया में छप भी गया । उस पर भारत के बड़े लाट, लार्ड रीडिंग, क्या राय देंगे, सो तो वही जानें । लक्षणों से तो यही प्रकट होता है कि यह क़ानून बाक़ायदा बन जायगा और केनिया के भारतवासियों की एक न सुनी जायगी । जिस दशा में वहाँ उन्हें गोरे रक्खें, उस दशा में उन्हें रहना हो तो रहें । नहीं तो अपना बोरिया-बँधना बाँध कर जहाँ चाहें, चले जायँ । जिस जाति के मनुष्यों को अपने ही देश में समान अधिकार नहीं, उसका वैसे अधिकार अफ़रीक़ा में माँगना अपने को उप-हासास्पद बनाने के सिवा और कुछ नहीं । निर्बलों को अधिकार माँगने का क्या हक़ ?

सबै सहायक सबल के कोउ न निबल सहाय ।
पवन जगावत आग को दीपहिं देत बुझाय ॥

[मार्च १९२४.

मर्दुम-शुमारी से ज्ञात हुई कुछ हृदय-विदारक बातें

अभी कुछ महीने पहले बम्बई के जो गवर्नर इस देश में गवर्नरी करके अपने घर विलायत गये हैं, उन्होंने जाते जाते एक बड़ी जबरदस्त वक्तृता की थी। उसमें आपने यह कहने का साहस किया था कि इस देश का वैभव बढ़ गया है और बढ़ता जाता है, क्योंकि जमीन पहले से बहुत अधिक बोई जाती है और खूब गल्ला पैदा होता है। मतलब यह कि गल्ले का अधिक पैदा होना अथवा काश्तकारी का बढ़ना धन-सम्पत्ति की वृद्धि का प्रमाण है। आपके इस कथन का खण्डन लगे हाथ कितने ही भारतीय पत्रों और लेखकों ने कर दिया। अनाज का अधिक पैदा होना ही किसी देश की उन्नतावस्था का प्रमाण नहीं। यदि महँगी की मात्रा बढ़ जाय, सभी चीजें महँगी बिकने लगें—मजदूरी का निर्ख दूना-तिगुना हो जाय, और दो ही तीन साल के भीतर करों में चालीस पचास करोड़ रुपये की वृद्धि हो जाय तो अनाज की बढ़ी हुई उपज कहाँ तक सम्पत्ति-वृद्धि का कारण हो सकेगी, यह बात साधारण समझ का आदमी भी अच्छी तरह जान सकता है।

पौष्टिक भोजन मिलने ही से मनुष्य की शक्ति बढ़ सकती है। बढ़ती नहीं तो पेट भर खाने को मिलने से घटती तो नहीं। और शरीर में शक्ति होने ही से बीमारी का डर कम रहता है। शक्तिमान् मनुष्य यदि बीमार भी हो जाता है तो जल्द अच्छा हो जाता है। ऐसे आदमी बहुत कम मरते हैं। परन्तु १९२१ ईसवी की, पिछली मर्दुम-शुमारी की रिपोर्ट से यह सूचित होता है कि भारत-वासियों में जीवन-शक्ति बहुत ही कम

है। वे इतने अशक्त हैं कि किसी गहरी बीमारी का धक्का बहुत ही कम सह सकते हैं।

१९१८–१९ के इनफ्लुयंजा की याद कीजिए। उसका दौरा सिर्फ तीन ही चार महीने रहा था। परन्तु इतने ही थोड़े समय में उसने कोई १ करोड़ ३० लाख आदमी मार गिराये। अर्थात् १८९८ से १९१८ ईसवी के बीच, २० वर्षों में, प्लेग से जितने आदमी मरे थे, उससे भी कोई २० लाख अधिक आदमियों का कलेवा इनफ्लुयंजा ने कर डाला। और लीजिए। १८९७ से १९०१ ईसवी के बीच जितनी मौतें दुर्भिक्ष के कारण हुई थीं, उनसे दूनी मौतें इनफ्लुयंजा के पल्ले पड़ गईं! भारत की जीवनी शक्ति और धन-वैभव-वृद्धि के और प्रमाण लीजिएगा? क्या और देशों में इनफ्लुयंजा का दौरा नहीं हुआ? बहुतों में हुआ। पर क्या और भी किसी देश में उसने करोड़ों आदमियों पर हाथ साफ किया? मनुष्यों ही से देश आबाद है। मनुष्यों ही की बदौलत अरबों रुपया कर के रूप में आता है, जिससे बड़ी बड़ी फौजें रक्खी जाती हैं, विकट पहाड़ी प्रान्तों में रेलें बिछाई जाती हैं, मसऊदों और वजीरियों को शान्त रहने के सबक सिखाये जाते हैं। परन्तु उन्हीं देहातियों की शिक्षा का काफी प्रबन्ध करने, उनके लिए दवा-पानी और डाक्टर-हकीम सुलभ कर देने और उनके सुख-चैन के सामान प्रस्तुत कर देने के लिए काफी रुपया नहीं मिलता। इन्फ्लुयंजा से जितने आदमी बीमार हुए थे, उनमें से फी सदी १० मर गये। यदि यह हिसाब ठीक समझा जाय तो कहना चाहिए कि ३२ करोड़ भारतवासियों में से कोई १२½ करोड़ आदमी इस रोग से ग्रस्त हुए थे। भारतवासियों की शक्तिमत्ता का क्या कहना है!

सख्त बीमारी भोगने पर भी जो लोग बच जाते हैं, वे वर्षों तक अपनी पूर्व स्थिति को नहीं पहुँचते—कमजोर बने ही रहते हैं। अतएव वे अपना काम-काज भी तब तक ठीक ठीक नहीं कर सकते। इस कारण

इनफ्लुएंजा से बचे हुए मरीजों को कितनी हानि उठानी पड़ी होगी और गवर्नर साहब की बतलाई हुई वृद्धिगत कृषि की निगरानी में कितनी बाधा आई होगी, इसका अनुमान सहज ही किया जा सकता है। यह तो हुई अनुमान की बात। अब एक प्रमाण की बात सुन लीजिए।

साल में जितने आदमी मरते हैं, उससे अधिक पैदा होते हैं। यह साधारण नियम है। इसी से हर दसवें साल मर्दुम-शुमारी करने पर प्रायः सभी देशों की आबादी बढ़ी हुई पाई जाती है। परन्तु अत्यन्त कमजोर या रुग्ण मनुष्य प्रजोत्पादन नहीं कर सकते। इसी से इनफ्लुएंजा के दौरे के सालों में—१९१८-१९ में—यहाँ जन्म-संख्या यहाँ तक घट गई कि मृत्युओं की संख्या उससे अधिक हो गई। इतना ही नहीं। इसका असर १९२० पर भी पड़ा। उस साल भी बच्चे बहुत कम पैदा हुए—इतने कम कि मृतों की संख्या से उनकी संख्या यों ही कुछ अधिक निकली। यदि इनफ्लुएंजा का दौरा न होता तो १९२१ की मर्दुम-शुमारी के समय आबादी और भी बढ़ी हुई मिलती।

पिछले ४९ वर्षों में इस देश की मनुष्य-संख्या में ५ करोड़ ४० लाख की वृद्धि हुई है। इसका औसत १० लाख साल की अपेक्षा कुछ ही अधिक हुआ। इसी बात को दूसरे शब्दों में इस तरह कह सकते हैं कि हर साल फी सदी ½ से भी कम वृद्धि हुई। यदि इसी गति से आबादी बढ़ी तो भारत की मनुष्य-संख्या दूनी होने में कोई २०० वर्ष लग जायँगे। जो देश की दशा न सुधरी, जो यहाँ के निवासियों की सुख-समृद्धि के यथेष्ट उपाय न किये गये—तो अगली मर्दुम-शुमारी का नतीजा इससे भी बुरा होगा। भगवन्, भारत को बचाइए।

[मार्च १९२४.

अवध के कानून लगान की नियामतें

हमारी राय, और सच्ची राय, तो यह है कि अगली बार जब प्रान्तीय कौंसिल के मेम्बरों का चुनाव हो, तब कोई भी देहाती, विशेष करके अवध का देहाती, किसान किसी को भी वोट न दे। अपना प्रतिनिधि चुनकर कौंसिल में भेजने की अपेक्षा किसानों को चाहिए कि वे अपना कपाल ठोंके भगवान् के भरोसे अपने घर बैठे रहें। सरकार उनको अपना बाल-बच्चा समझती ही है। उसे दया लगेगी तो कानून लगान से सम्बन्ध रखनेवाली उनकी शिकायतों को दूर कर देगी, न लगेगी तो न दूर करेगी। प्रतिनिधि भेजना बेकार है; क्योंकि प्रतिनिधियों में से दो एक भूले-भटकों को छोड़कर और कोई भी उनकी तकलीफें दूर करने की चेष्टा नहीं करता। यहाँ तक कि वे यदि कभी मेम्बरों को कुछ सूचना देते हैं और कहते हैं कि हमारा अमुक अमुक काम कर दो तो उनकी आज्ञा या प्रार्थना मानना तो दूर रहा, उनकी चिट्ठी का जवाब तक वे लोग नहीं देते। इसे अत्युक्ति या मुबालगा न समझिए। इसे हम अपने निज के तजरुबे से लिख रहे हैं। विश्वास कीजिए, हम भुक्तभोगी हैं। जो लोग ऐसा दुर्व्यवहार करते और अपनी प्रतिज्ञा तोड़ते हैं, वे कौन हैं, आप जानते हैं? वे वही हैं जो चुनाव के वक्त इन्हीं देहातियों और किसानों के द्वार पर वोट की भिक्षा के लिए फेरी लगाते थे और अपने घोषणा-पत्रों में लम्बी लम्बी हाँकते थे—मैं तुम्हारे लिए यह करूँगा; मैं तुम्हारे लिए वह करूँगा। इसी से हम कहते हैं कि ऐसों को कौंसिल में भेजने से कोई लाभ नहीं। वे अपने घर मस्त पड़े रहें और यदि देशभक्त हों तो वहीं पड़े पड़े किसानों की हितचिन्तना की माला फेरा करें। ऐसे निकम्मे और

बे-उसूल के आदमियों को कौंसिल में भेजने से किसानों को कुछ लाभ तो पहुँचता नहीं। हानि यह होती है कि सरकार एक प्रकार से अपनी ज़िम्मेदारी से बरी हो जाती है। उसे यह कहने का मौक़ा मिल जाता है कि कौंसिल में तुम्हारे प्रतिनिधि तो मौजूद ही हैं। वे तुम्हारे सुभीते का ख़याल ज़रूर ही रक्खेंगे और क़ानून लगान से सम्बन्ध रखनेवाली तुम्हारी शिकायतें दूर करने की चेष्टा भी ज़रूर ही करेंगे।

× × × ×

अवध का पिछला क़ानून लगान (एक्ट २२) सन् १८८६ ईसवी में गढ़ा गया था। उसमें अनेक त्रुटियाँ रह गईं थीं। उनके कारण किसानों को बेहद कष्ट पहुँचता था। वे जल्दी जल्दी बेदख़ल किये जाते थे; उन पर बेजा इज़ाफ़ा होता था; उन्हें पुख़्ता कुओं के बनवाने का मुआविज़ा ठीक ठीक न मिलता था। ऐसे ही और भी कितने ही कष्ट थे। उन्होंने अपने उपाय भर सरकार का दरवाज़ा खटखटाया। ग़ैर-सरकारी मेम्बरों ने भी सरकार से बहुत कुछ कहा सुना। पर सरकार ठहरी औधन्धी—अनेक काम करनेवाली। उसे इस काम के लिए फ़ुरसत न मिली। किसानों का रोना-धोना अरण्य-रोदन हो गया। फल यह हुआ कि इस क़ानून की त्रुटियों ने किसानों को बेतरह अधीर और असन्तुष्ट कर दिया। अवध के कई ज़िलों में बलवे हो गये। कहीं कहीं गोलियाँ तक चल गईं। कितने ही लोगों की जानें गईं। तब सरकार ने दया के वशीभूत होकर अपने अपढ़, अशिक्षित और निःसहाय किसानों की शिकायतें दूर करने के लिए क़ानून लगान में तरमीम करने का इरादा किया।

× × × ×

सुनते हैं, अवध के ज़मींदार और तअल्लुक़ेदार सरकार की लाडली प्रजा हैं। उन्होंने लड़ाई में सरकार की मदद रङ्गरूट देकर की है। उन्होंने अच्छे अच्छे कामों के लिए लाखों रुपया चन्दा दिया है। ग़दर में और उसके बाद भी अपनी राजभक्ति दिखाकर उन्होंने सरकार से अपने अपने

इलाक़ों की सनदें प्राप्त कर ली हैं। क़ानून-लगान से किसानों ही का सम्बन्ध नहीं; इन लोगों का भी है। अतएव सरकार ने कहा, लाओ पहले इन लोगों से तो सलाह कर लें। उस समय सर हरकर्ट बटलर यहाँ के गवर्नर थे। उन्होंने सलाह-मशविरा करके एक घोषणा प्रकाशित की। उसमें उन्होंने और अनेक बातों का उल्लेख करके लिखा कि तअल्लुक़ेदारों ने इस सम्बन्ध में बहुत बड़ा आत्मत्याग करने का निश्चय किया है। किसानों के साथ वे बहुत बड़ी उदारता का व्यवहार करने को तैयार हैं। उम्मेद है, अब किसानों को शिकायत का कोई मौक़ा न मिलेगा। अस्तु।

× × × ×

क़ानून का मसविदा कौंसिल में पेश हुआ। तब मालूम हुआ कि जो तरमीम होने जा रही है, उससे अधिक—९० फ़ी सदी—लाभ ज़मींदारों ही को होगा। किसानों को जो सुभीते थे, उनमें से भी अधिकांश जाते रहेंगे। कुछ मेम्बरों ने बहुत हो-हल्ला मचाया, पर कुछ हुआ गया नहीं। सरकार ने तअल्लुक़ेदारों का साथ दिया। उन दोनों के सम्मिलित वोटों से क़ानून पास हो गया। इस तरमीम-शुदह क़ानून का जन्म १९२१ के अन्तिम महीनों में हुआ। पहले पट्टेदार किसान अपना जोत या उसका कुछ अंश शिकमी उठा सकते थे। अब उसकी मनाही हो गई। पहले वे दूर के गाँवों में भी "पाही" काश्त कर सकते थे। अब हुक्म हुआ कि ऐसा करना क़ानूनन् नाजायज़ समझा जायगा। पहले सात वर्ष बाद इज़ाफ़ा हो सकता था और फ़ी रुपया एक आने से अधिक न होता था। अब सात वर्ष की क़ैद की जगह १० वर्ष की क़ैद कर दी गई, पर एक आने का निर्ख उड़ा दिया गया। अर्थात् एक आने के दो, चार, दस जितने रुपये ज़मींदार इज़ाफ़ा कर दें और किसान मंज़ूर कर ले, सब जायज़ समझा जायगा। जहाँ किसानों के लाभ के लिए इतनी नियामतों की सूरतें निकाली गईं, वहाँ इतनी कृपा ज़रूर की गई कि जब तक

किसान ज़िन्दा रहे और लगान देता चला जाय, तब तक उस पर बेदख़ली न लगे।

× × × ×

इन नियामतों के कारण अवध के किसानों पर जो क़हर गुज़र रहा है, उसका हाल वही जानते हैं। कौंसिल के मेम्बरों को जानने की क्या ज़रूरत? उनकी प्रतिज्ञायें और उनके आस्फालन दीवारों पर चिपके हुए उनके उन काग़ज़ के टुकड़ों के भीतर ही बन्द रह गये हैं जिनका नाम उन्होंने मैनीफ़ेस्टो रक्खा था। तथापि एक मार्गभ्रष्ट मेम्बर ने, गत मार्च में, प्रान्तीय कौंसिल में, इस क़ानून से सम्बन्ध रखनेवाले दो एक प्रश्न करने की भूल कर ही डाली। उन्होंने २४ मार्च की मीटिंग में पूछा—किसानों पर पहले फ़ी रुपया एक आने से अधिक इज़ाफ़ा न होता था। क्या सरकार को मालूम है कि अब नये क़ानून के अनुसार उससे अधिक हो रहा है? यदि यह सच है तो बताइए कि कितने मामले ऐसे हुए हैं जिनमें एक आना रुपया से अधिक इज़ाफ़ा हुआ है और कहाँ तक हुआ है?

इसका उत्तर सरकार के सिकत्तर वो-डोनल साहब ने इस तरह दिया—

अवध के क़ानून लगान में क्या लिखा है, यह सरकार जानती है। उसका ख़याल है कि क़ानून की पाबन्दी हो रही है। इज़ाफ़े के अधिकांश मामलों का फ़ैसला आपस ही में हो जाता है; माल की कचहरियों तक जाने की नौबत नहीं आती। जो बातें आप जानना चाहते हैं, उनको बताना असम्भव नहीं तो कष्ट-साध्य ज़रूर है।

कैसा बढ़िया जवाब है! जिसका पट्टा ५) का है, उस पर ५) ही और इज़ाफ़ा करके १०) का कर दिया जाय और निरुपाय होने के कारण किसान उसे मंज़ूर कर ले—ज़मींदार को कचहरी न जाना पड़े—तो तहक़ीक़ात या जाँच की कोई ज़रूरत नहीं। यह कह देना बहुत काफ़ी होगा कि क़ानून की पाबन्दी हो रही है।

सरकार ने शायद वचन दिया था कि सब तरह की ज़मीनों के

लगान की शरह मुकर्रर कर दी जायगी। उसी की सीमा के भीतर इज़ाफ़ा किया जा सकेगा। पर उस शरह या निर्ख का पता नहीं! पता सरकार ने इस बात का ज़रूर दे दिया कि इज़ाफ़े के क़ानून की पाबन्दी हो रही है और सरकार उससे बख़ूबी वाक़िफ़ भी है! जवाब हो तो ऐसा! जिन मेम्बर महाशय ने ऊपर का प्रश्न किया, उन्होंने प्रश्न के रूप में सरकार से एक सूचना भी की। वह इस तरह—

खेत शिकमी उठाने और दूसरे मौज़ों में जाकर खेती करने के कारण जो लोग अपने जोत से बेदख़ल किये जाया करें, उनकी फेहरिस्त हर छठे महीने सरकार कौंसिल में पेश किया करे। उसमें वह यह भी दिखाया करे कि कितने रक़बे से ये लोग बेदख़ल किये गये।

उत्तर मिला—

ऐसी फेहरिस्त बनाने से माल के मुलाज़िमों का काम बेहद बढ़ जायगा। जो बातें आप जानना चाहते हैं, वे सरकारी पुस्तकों में हर साल प्रकाशित हुआ ही करती हैं। वहीं देख लिया कीजिए। फेहरिस्त बनाना व्यर्थ है। सरकार आपकी सलाह मानने को तैयार नहीं।

लीजिए साहब, इस बात को भी सरकार ने उड़ा दिया। यदि ये बातें सालाना रिपोर्टों में निकला ही करती हैं तो कोई रिपोर्ट उठाकर पिछले साल की बेदख़लियों ही की संख्या सरकार बता देती। उसी रिपोर्ट में कौंसिल के वे मेम्बर तथा और लोग भी उन्हें हर साल देख लिया करते और जान लेते कि इस नये क़ानून की बदौलत सरकार के कितने बाल-बच्चों के पेट की रोटियाँ छिनी हैं।

हर साल फेहरिस्त बनाना और दिखाना तो सरकार ने नामंजूर कर दिया। परन्तु पूर्व-निर्दिष्ट मेम्बर महाशय ने यह भी पूछने की कृपा की थी कि इस नये क़ानून की रू से, दफ़ा ६२ ए (१) के अंश (ब) और (इ) के अनुसार, कितनी बेदख़लियाँ हुईं। इसका उत्तर सुनकर रोंगटे खड़े हो जाते हैं। कल्पना कीजिए कि देवदत्त ब्राह्मण के पास १० बीघे

ज़मीन है। मज़दूर मिलते नहीं। हल वह जोत सकता नहीं। अतएव वह उस ज़मीन को बँटाई पर कलुआ काछी को दे देता था और आधा अन्न और आधा-तिहा भारा पा जाता था। नये क़ानून की दफ़ा ४२ ए के (ब) अंश में लिखा है कि देवदत्त यदि उस ज़मीन में से एक अङ्गुल भी किसी और को जोतने के लिए दे देगा तो वह बेदख़ल हो सकेगा। इसी तरह रामदत्त को अपने गाँव रामपुर में ज़मीन नहीं मिली। इससे वह धामपुर में ज़मीन लेकर काश्त करने लगा। अब यदि धामपुर किसी और की ज़मींदारी का गाँव है तो वह उस ज़मीन से बेदख़ल किया जा सकता है; क्योंकि वह वहाँ का रहनेवाला नहीं। ऐसी काश्त 'पाही' काश्त कहाती है। इस सम्बन्ध में सरकार ने बेदख़लियों की जो संख्या बताई है, वह बड़ी ही हृदय-विदारक है। यह संख्या एप्रिल १९२२ से मार्च १९२३ तक की, अर्थात् नया क़ानून जारी होने के बाद, पहले ही साल की है। आगे क्या गुल खिलेंगे यह, अगले साल यदि कोई भूला-भटका पूछ बैठेगा, तभी मालूम होगा। हाँ, संख्यायें सुनिए—

शिकमी काश्त-सम्बन्धी

कुल बेदख़लियाँ जो दायर की गईं— ...	९५६
जिनका फ़ैसिला हुआ—	९३९
जो मंजूर हुईं—	३७१
जो ज़ेर तजवीज़ रहीं—	१९

पाही काश्त-सम्बन्धी

कुल बे-दख़लियाँ जो दायर की गईं— ...	४,२७१
जिनक फ़ैसिला हुआ—	४,२४८
जो मंजूर हुईं—	१,९३५
जो ज़ेर तजवीज़ रहीं—	३१

देख लीजिए, इस क़ानून की नियामतें। इसकी बदौलत ज़मींदारों ने पाँच हज़ार से भी अधिक काश्तकारों को उनके जोत से निकाल बाहर

करने की चेष्टा की। यही तो ज़मींदारों का आत्म-त्याग है जिसका उद्घोष, नया क़ानून बनते समय, बार बार किया गया था। और, बेदख़लियाँ लगाईं भी तो बिना सोचे-समझे। तभी तो पहली क़िस्म में केवल एक ही तिहाई के लगभग लग सकीं। बाक़ी ख़ारिज हो गईं। दूसरी किस्म में आधे से भी कम मंजूर हुईं। इस काम में कुछ ज़िलों ने बड़ी ही सरगरमी दिखाई। किसने कितनी बे-दख़लियाँ लगाईं, सो भी सुन लीजिए। हम कुछ ही उदाहरण देंगे—

शिकमी

राय बरेली	...	...	९३
सीतापुर	...	...	१८९
हरदोई	...	...	३५०
खीरी	...	...	१३५

पाही

रायबरेली	...	...	९१४
सीतापुर	...	...	५२१
फैजाबाद	...	...	३६२
प्रतापगढ़	...	...	१४२१

नये क़ानून ने काश्तकारों के लिए नई नियामतों के अनेक द्वार खोल दिये हैं। उनमें से कुछ की बानगी हमने दिखा दी। काश्तकारों के प्रतिनिधि मेम्बरों को उनकी कारपरदाजी और प्रतिज्ञा-पालन के लिए सैकड़ों धन्यवाद!

[जून १९२४.

देशी बनाम विदेशी रोग-चिकित्सा

संसार में उन्नति और अवनति का चक्र निरन्तर चल रहा है। सृष्टि के बाद लय और लय हो जाने पर फिर भी सृष्टि होती है। देशों के उत्थान और पतन का भी यही हाल है। एक सी अवस्था कभी किसी की नहीं रहती। एक समय था जब योरप की विद्यमान जातियों के पूर्वज निरे असभ्य क्या, पशुवत् थे। जङ्गली जानवरों में और उनमें बहुत कम अन्तर था। जानवरों ही की तरह वे भी जङ्गलों में, कन्दराओं में और गारों में रहते थे और शिकार द्वारा प्राप्त मांस-मछली आदि से जीवन-धारण करते थे। शरीर यदि वे ढकते थे तो पेड़ों की छालों और पत्तों से। समय के फेर से उन्हीं के वंशज, आज-कल, अधिकांश भू-मण्डल के अधीश्वर बने हुए हैं। शिक्षा, सभ्यता, प्रभुता और शास्त्रज्ञता आदि में भी वे औरों से अपने को बढ़ा हुआ समझते हैं; और किसी हद तक उनकी यह समझ ठीक भी है।

जिस समय यूरुप के निवासी वन्य पशुओं के सदृश जीवन-निर्वाह करते थे, उस समय भारतवर्ष शिक्षा और सभ्यता के शिखर पर आरूढ़ था। और शास्त्रों या विद्याओं की तरह रोग-चिकित्सा-विषयक शास्त्र में भी वह सब से बढ़ा-चढ़ा था। रोम और ग्रीस देशों की चढ़ती कला के समय भी इस शास्त्र में भारतवासियों की जितनी गति थी, औरों की उतनी न थी। मगध-नरेशों के आधिपत्य-काल में चिकित्सक-चूड़ामणि जीवक की कीर्ति-ध्वजा ग्रीस, फारस, बाक्ट्रिया आदि देशों में भी फहराई थी। पर काल-क्रम से इस शास्त्र की जितनी उन्नति हज़ार पन्द्रह सौ वर्ष पहिले तक हुई थी, उतनी ही होकर रह गई। उधर असभ्यों की सभ्यता

छूटी, उन्होंने उन्नति का मार्ग ग्रहण किया। फल यह हुआ कि श्रम, शोध, उद्योग और अध्यवसाय की बदौलत अनेक विषयों में वे अन्य देशवालों से बढ़ गये। चिकित्सा-शास्त्र के सम्बन्ध में उन्होंने नये नये यन्त्रों, नये नये सिद्धान्तों और नई नई औषधियों को ढूँढ़ निकाला। इधर आलसी भारतवासी अपने पूर्वजों की कमाई हुई सम्पत्ति के भी बहुत कुछ अंश से हाथ धो बैठे। तिस पर भी उनकी यह डींग न छूटी कि—जो मेरे घर, वह राजा के भी घर नहीं। इसी से चिकित्सा-शास्त्र के कितने ही विषयों में वे कोरे रह गये। बात यह है कि जो लोग अपने को सर्वज्ञ समझते हैं, वे कभी ज्ञानोन्नति नहीं कर सकते।

रोग-निवारण-विद्या बड़े ही महत्त्व की है। उससे मनुष्य मात्र को लाभ पहुँच सकता है। कुटीर से लेकर राज-प्रासाद तक में उसकी पूजा होती है। सद्वैद्य शरीर-पीड़ा ही को नहीं दूर करता; वह प्राण-दान तक देने का सामर्थ्य रखता है। परन्तु ऐसे वैद्यों की, इस देश, और विशेषकर इस प्रान्त में, बहुत कमी है। शास्त्र का मर्म्म न जाननेवाले, अपनी बुद्धि से काम लेने की कुछ भी शक्ति न रखनेवाले, अनुभव और अध्ययन से कुछ भी लाभ न उठानेवाले ही वैद्य नामधारी मनुष्य अधिक हैं। ऐसे ही लोग घोर सान्निपातक ज्वर में बनावटी कान्तीसार खिलाकर रोग दूर करना चाहते हैं। इसी से आयुर्वेदिक चिकित्सा और भी बदनाम हो रही है।

खुशी की बात है, इस अवनत अवस्था में भी कहीं कहीं सद्वैद्य पाये जाते हैं। वे ऐसे कठिन रोगों की भी चिकित्सा करके उन्हें बहुत कुछ दूर करने में समर्थ होते हैं जिनको विदेशी चिकित्सा-शास्त्र के पारगामी डाक्टर भी असाध्य कह कर रोगी को निराश कर देते हैं। इस तरह का एक उदाहरण हम, अपने निज के तजरिबे से, नीचे देते हैं।

पन्द्रह सोलह वर्ष की एक लड़की को कुछ रोग हो गया। उसका बदन सूज गया। सर्वाङ्ग फीका पड़ गया; रुधिर बहुत ही कम हो गया।

दिन-रात में अनेक दस्त आने लगे। कमजोरी बेहद बढ़ गई। हाथों, पैरों और कमर में दर्द रहने लगा। चलना फिरना मुश्किल हो गया। चिकित्सा शोथ-रोग की हुई। शोथ दूर हो जाने पर फिर प्रकट होने लगा। इस तरह कोई डेढ़ वर्ष बीत गया। तब तक रजोधर्म्म भी लड़की का बन्द रहा। निराश होकर लड़की के अभिभावक उसे कानपुर ले गये। वहाँ मूत्र-परीक्षा करके डाक्टरों ने बताया कि रोगिणी को घोर अलब्यूमिनोरिया (Albuminuria) रोग है। खुर्दबीन से परीक्षा—और रासायनिक भी परीक्षा—कराने से मालूम हुआ कि रोगिणी का वृक्क (गुर्दा) बिगड़ गया है। उसके अंश कट कट कर मूत्र के साथ निकल रहे हैं। इस अवयव के बिगड़ जाने से अन्न-रस मूत्र के साथ ही छन छन कर बाहर आता है और अण्डे की सफेदी के रूप में मूत्र में मिला रहता है। शोरे के तेजाब के सम्पर्क से यह विकार प्रत्यक्ष दिखाई दिया। खैर; डाक्टरी दवा जारी हुई। १५ रोज तक रोगिणी सिर्फ दूध पर रक्खी गई। परन्तु लाभ कुछ भी न हुआ। उलटे लड़की और भी कमजोर हो गई और उसकी विकलता बढ़ गई। तब डाक्टरों ने रोग को असाध्य समझ कर दवा बन्द कर दी और किसी वैद्य की शरण जाने की आज्ञा दी। उन्होंने कहा कि किडनी (kidney) अर्थात् गुर्दा शरीरालय की नाली या मोरी के सदृश है। उसके टूट जाने से सारे शरीर में गन्दगी फैल जाती है। उसका नया किया जाना सम्भव नहीं। मरम्मत कुछ हो सकती है; पर उससे बहुत दिन काम नहीं लिया जा सकता।

कानपुर के वैद्यवर पण्डित रामेश्वर मिश्र और पण्डित किशोरीदत्त शास्त्री, तथा हकीम कन्हैयालाल ने लड़की को पहले ही देख लिया था, और रोग-निदान भी कुछ कुछ कर लिया था। डाक्टर प्रसादीलाल झा, एल० एम० एस० आयुर्वेद के भी ज्ञाता हैं और पास-शुदा पक्के डाक्टर तो हैं ही। वे भी लड़की की परीक्षा कर चुके थे। और डाक्टरों के जवाब देने और लड़की के रोग का ठीक ठीक कारण मालूम हो जाने पर डाक्टर

साहब तथा मिश्र जी और शास्त्री जी ने आयुर्वैदिक चिकित्सा करने का निश्चय किया। दो तीन दिन विचार कर चुकने के अनन्तर पण्डित रामेश्वर मिश्र और पण्डित किशोरीदत्त शास्त्री ने दो दवायें, बहुत साधारण सी, दीं। पथ्य जौ की रोटी और दूध नियत किया गया था। थोड़े ही दिन औषधि-सेवन करने पर लड़की का रोग घटने लगा और उसके शरीर के अन्य विकार भी कम होने लगे। आज ९ जून १९२४ को उसे दवा खाते कोई ढाई महीने हुए। अब अलब्यूमेन यों ही कुछ जरा सा रह गया है। कमजोरी दूर हो गई है। बदन में सुर्खी आ गई है। शोथ और पीड़ा नाम को भी नहीं। स्वाभाविक धर्म्म भी होने लगा है। दस्त दो—कभी कभी तीन—रह गये हैं। आशा है कि अवशिष्ट अलब्यूमेन भी बन्द हो जायगा; और यदि रोगिणी पथ्य से रही तो शायद उसका यह रोग सर्वथा निर्मूल हो जाय।

सो हमारे आयुर्वेद की समयोचित उन्नति न होने पर भी उसमें निर्दिष्ट औषधियों में अब तक ऐसी शक्ति विद्यमान है जो डाक्टरों के द्वारा असाध्य माने गये रोगों को भी सहज ही में दूर कर सकती है। हाँ उन्हें उपयोग में लानेवाले सद्वैद्यों की कमी अवश्य है। हमारी प्रार्थना है कि जो लोग कानपुर पहुँच सकते हैं, वे पण्डित रामेश्वर मिश्र और पण्डित किशोरीदत्त शास्त्री की चिकित्सा से लाभ उठावें।

खुशी की बात है, अब गवर्नमेंट का भी ध्यान इस चिकित्सा की ओर बलवत् खींचा जा रहा है। यदि वह यथेष्ट दाद दे और अच्छे अच्छे वैद्यों की संख्या बढ़ जाय तो बहुत लोक-कल्याण हो।

[जुलाई १९२४.

भारत में मनुष्य-विक्रय

गुलामी बहुत बुरी बला है। उसका नाम सुनते ही शरीर के रोंगटे खड़े हो जाते हैं। इस गुलामी की प्रथा के कारण अफ़रिका के बहुत से भू-भागों में नर-नारियों का नाश हो गया। सैकड़ों, हज़ारों गाँव उजड़ गये; प्रान्त के प्रान्त खाली हो गये। नैष्ठुर्य्य के मूर्तिमान अवतार अरबों और योरप के गोरे व्यापारियों ने वहाँ के हबशियों को पकड़ पकड़ कर और तरह तरह की यन्त्रणायें दे देकर अमेरिका पहुँचा दिया और वहाँ उन्हें पशुओं की तरह बेच लिया। इन नृशंस नर रूप-पिशाचों की काली कथाओं से पूर्ण सैकड़ों पुस्तकें आज तक प्रकाशित हो चुकी हैं। बहुत काल बीत जाने पर करुणा ने पैशाचिकता पर विजय-प्राप्ति की। गुलाम बनाया जाना क़ानूनन् अपराध माना गया और अफ़रीका के कृष्ण वर्ण हबशियों ने परित्राण पाया। उनका बेचा जाना बन्द हो गया।

यह बात तो अफ़रीका और अमेरिका की हुई। वहाँ गुलामों का व्यापार करने और उन्हें बेचनेवाले भिन्न देशों के निवासी और भिन्न धर्मों के अनुयायी थे। परन्तु सुनकर आश्चर्य होता है कि अपने भारत की पुण्य-भूमि के निवासी, अभी कुछ ही समय पूर्व तक, अपने ही देश के रहनेवालों और अपने ही धर्म के अनुयायियों को बेचते और उनसे गुलामी कराते थे।

सम्भव है, यह प्रथा, इस देश में अन्यत्र भी रही हो; परन्तु लिखित प्रमाण और कहीं के नहीं मिले; और मिले भी होंगे तो हमारे देखने में नहीं आये। यह नेकनामी अभी तो वङ्ग देश के पल्ले पड़ी है। वहीं से प्रमाण मिले हैं। वे प्रमाण इस बात के तो सूचक नहीं कि वहाँ मनुष्य

ज़बरदस्ती पकड़े और गुलाम बनाये जाते थे; पर इस बात के सूचक अवश्य हैं कि दूसरों की दासता करने के लिए मनुष्य, स्त्रियाँ और बच्चे तक बेंचे जाते थे। उनकी बिक्री पक्की करने के लिए दस्तावेज़ लिखे जाते थे और आज-कल के रजिस्ट्रारों का काम करनेवाले क़ाज़ियों के दफ्तरों में उनकी रजिस्टरी भी होती थी।

कोई बारह वर्ष हुए, अध्यापक सतीशचन्द्र मिश्र बी० ए० ने "ढाँका रिव्यु ओ सम्मिलन" नामक मासिक-पत्र में एक मनुष्य-विक्रय-पत्र प्रकाशित किया था। वह एक पुराने दस्तावेज़ के रूप में था और कोई ढाई सौ वर्ष पहले लिखा गया था। उसके अनुसार बरीसाल के एक कायस्थ ने छोटे बड़े ७ स्त्री-पुरुषों को ३१) पर बेच दिया था। इसके बाद और लोगों को भी ऐसे कितने ही "बन्दाजीवी" अर्थात् विक्रय-पत्र प्राप्त हुए। उनका उल्लेख उस ओरियंटल कानफ़रन्स में हुआ था जो १९२२ ईसवी में, कलकत्ते में हुई थी। उसमें ढाके के अजायबघर के अध्यक्ष, बाबू नलिनीकान्त भट्टशाली, एम० ए०, ने एक अन्य विषय पर एक लेख पढ़ा था। उसी में प्रसङ्गवश उन्होंने ऐसे कितने ही दस्तावेज़ों का उल्लेख किया था जो दासता करने के लिए बेचे गये मनुष्यों के विषय में लिखे गये थे। इससे सूचित हुआ कि दो तीन सौ वर्ष पहले तक मनुष्य बेचने की प्रथा बङ्गाल में अच्छी तरह प्रचलित थी। उसके और पहले तो शायद गाय-भैंसों और भेड़-बकरियों की तरह मनुष्य वहाँ बाज़ारों में बिकते रहे हों।

यह तो कुछ पुरानी बातें हुईं। पूर्व-निर्दिष्ट सतीश बाबू ने तो अब एक और पुराना पत्र ढूँढ़ निकाला है और उसकी नकल ज्यों की त्यों बँगला के मासिक पत्र "भारतवर्ष" में प्रकाशित की है। वह दिसंबर १७८७ ईसवी का है। अर्थात् वह केवल १३७ वर्ष का पुराना है। जिस समय वह लिखा गया था, अँगरेज़ों का सभ्य शासन जारी हुए बहुत समय बीत चुका था। लार्ड कार्नवालिस उस समय इस देश के गवर्नर जनरल थे।

इस दस्तावेज़ के लेखक हैं ज़िले फ़रीदपुर के अमीराबाद परगाने के अन्त-र्गत गोपाला नामक गाँव के निवासी रामचन्द्र चक्रवर्ती। आपके पास पद्म-लोचन नाम का एक लड़का था। वह दास था। उम्र ७ वर्ष की थी। उस समय था दुर्भिक्ष। इस कारण आप उसे अन्न-वस्त्र न दे सकते थे! क्या करते? क्या उस बच्चे को भूखों मार डालते? यही समझ कर आपने केवल २) लेकर उसे राजचन्द्र सरकार नाम के एक आदमी के हाथ बेच दिया।

यह बै-नामा बड़ी अच्छी भाषा में लिखा गया है। क़ानूनी पारि-भाषिक शब्दों से लबालब भरा हुआ है। बेचने और लेनेवाले की वल्दियत वग़ैरह भी लिखी हुई है। यहाँ तक कि पद्मलोचन के बाप और दादे तक के नाम दिये गये हैं। पद्मलोचन की तारीफ़ में लिखा गया है—

"श्री पद्मलोचन दास + + + + + + + उमर ७ वत्सर, उत्तम श्याम वर्ण, कतसानी (कहतसाली) ते इहाके प्रतिपालन करते ना पारिया सेत्सापूर्वक (स्वेच्छापूर्वक) नगद २ दुइ टका सिकापन दस्त बदस्त पाइया तोमार स्थाने बिक्री करिलाम। जावत जीवन पर्यन्त अन्न वस्त्र दिया प्रतिपालन करिया तोमार नफ़ूरी (दासता) करिबे + + + ।

बैनामे में यह भी लिखा है कि राजचन्द्र चाहें तो अपनी दासी से पद्म-लोचन का विवाह कर दें। उनसे जो सन्तान पैदा हो, वह भी राजचन्द्र की दासता करे। दान-विक्रय का अधिकार भी राजचन्द्र को प्राप्त रहे। पद्मलोचन यदि भाग जाय तो उसे पकड़ लाने का अधिकार भी राजचन्द्र को मिला।

सो यह प्रथा बङ्गाल में किसी समय आम तौर पर जायज़ रही जान पड़ती है। ये दास अफ़रीका के गुलामों के सदृश न रक्खे जाते थे। ये अपने स्वामी के कुटुम्ब के अंश हो जाते थे। अनुमान तो यही कहता है, प्रमाण इसके अब शायद ढूँढने से भी न मिलें। पद्मलोचन की क़ीमत २) बहुत कम मालूम होती है। शायद बिक्री की रस्म अदा करने के लिए ही नाम मात्र दाम लिया गया हो।

[अगस्त १९२४.

केरल के कुलीनों की करतूत

सनातन-धर्म्म के अनुयायी या अभिमानी हिन्दू जिन पुराणों, जिन शास्त्रों और जिन स्मृतियों को मानते हैं, उनके अनुसार चार ही वर्ण हैं—ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। वेदों तक में इसी विभाग और इसी वर्ण-व्यवस्था का उल्लेख है। "ब्राह्मणोऽस्य मुखमासीत्" इत्यादि इसका प्रमाण है। परन्तु द्रविड़ देश के, विशेष करके केरल प्रान्त के, धर्म्म-धुरीण ब्राह्मणों ने एक पञ्चम वर्ण की भी कल्पना कर ली है। नीच मानी गई कई जातियों को उन्होंने इस पञ्चम वर्ण में रख दिया है। उनका स्पर्श तो दूर, उनकी छाया तक वे अपने ऊपर नहीं पड़ने देते; उनको अपनी बस्ती के भीतर नहीं घुसने देते; उनको विशेष विशेष गलियों और सड़कों से नहीं निकलने देते। उस प्रान्त में ब्राह्मणों और अब्राह्मणों के अधिकार-अनधिकार के आधार पर एक न एक महाभारत हुआ ही करता है। देश के लिए यह बड़े ही दुर्भाग्य की बात है।

पञ्चम वर्ण किंवा अब्राह्मण माने गये लोग इस अन्याय से तङ्ग आ गये हैं। शहरों में घुसने, सड़कों पर चलने और जलाशयों या कुओं से पानी लेने के निषेध ने उनका दम नाकों में कर दिया है। उनमें से कितने ही आदमी यथेष्ट सभ्य और शिक्षित हैं। उन्हें ब्राह्मणों का यह अन्याय-पूर्ण भेद-भाव बरदाश्त नहीं। इस कारण वे "सत्याग्रह" द्वारा इस भेद-भाव को दूर करके समानाधिकार प्राप्त करना चाहते हैं।

दक्षिण में ट्रावनकोर एक देशी राज्य है। वहाँ के राजा या महाराज सुशिक्षित हैं। उनका शासन उदार भावों का बहुत कुछ सूचक है। प्रजा को उन्होंने अधिकार भी बहुत से दे रक्खे हैं। परन्तु पञ्चम वर्णवालों को

वे भी उसी दृष्टि से देखते हैं जिस दृष्टि से कि अपने को परम पावन मानने-वाले ब्राह्मण उन्हें देखते हैं। उस राज्य में एक जगह वैकोम है। वहाँ विष्णु का एक मन्दिर है। उसका प्रबन्ध राज्य ही के अधिकारियों के हाथ में है। वे कहते हैं कि हम प्रजा की तरफ़ से इस मन्दिर और इसकी समस्त जायदाद के "ट्रस्टी" हैं। वह हमारे अधिकार में बतौर धरोहर के है। और चूँकि ब्राह्मण इस मन्दिर में पञ्चमों को नहीं धँसने देते, यहाँ तक कि उसके आस-पास की सड़कों से उन्हें निकलने का भी निषेध करते हैं, अतएव हम लाचार हैं; हम भी पञ्चमों को मन्दिर तथा उसकी निकट-वर्तिनी भूमि का संस्पर्श न करने देंगे। इधर पथ-निषिद्ध जन कहते हैं कि राज्य की प्रजा जैसे ब्राह्मण, वैसे ही अब्राह्मण। अतएव जो अधिकार राज्य में ब्राह्मणों को प्राप्त हैं, वही हमको भी होने चाहिए। राज्य के लिए हम दोनों ही तुल्य हैं। इसी आधार पर वैकोम में सत्याग्रह चल रहा है। अब्राह्मण निषिद्ध मार्ग से जाना चाहते हैं। पर राज्य की पुलिस उन्हें नहीं जाने देती। वे जाने के लिए हठ करते हैं। नतीजा यह होता है कि वे लोग गिरफ्तार किये जाते हैं और आज्ञा भङ्ग करने के अपराध में सज़ा पाते हैं। यह सत्याग्रह कोई डेढ़ महीने से जारी है और शायद इस नोट के प्रकाशित होने तक भी जारी रहेगा।

कालिदास ने रघुवंश में, राजा दिलीप के विषय में, लिखा है—

प्रजानां विनयाधानाद्रक्षणाद्भरणादपि ।
स पिता पितरस्तासां केवलं जन्महेतवः ॥

सो अच्छे राजा अपनी प्रजा को अपनी सन्तति के सदृश समझते हैं। उसे वे शिक्षा देते हैं, उसकी रक्षा करते हैं और उसके भरण-पोषण का प्रबन्ध भी करते हैं। यह सब करना पिता का धर्म ही है। इस दशा में ट्रावनकोर के महाराज को चाहिए कि वे अपनी समस्त प्रजा को सम दृष्टि से देखें। अधिकारों के विषय में वे किसी को छोटा, किसी को बड़ा अथवा किसी को पावन, किसी को अपावन न समझें। ख़ैर; वहाँ

के अधिकारियों पर रूढ़ि ने यदि अपना अनुल्लङ्घनीय प्रभाव जमा लिया है, जिसे वे किसी तरह दूर नहीं कर सकते, तो वे एक बात क्यों नहीं करते? वे उस अन्याय-सङ्गत धरोहर को लौटा क्यों नहीं देते? उन्हें चाहिए कि वे मन्दिर के "ट्रस्ट" से अपना सम्बन्ध छोड़ दें। उसे ब्राह्मणों को लौटा दें। फिर ब्राह्मण और अब्राह्मण आपस में निबट लेंगे। राज्य क्यों इस अन्याय कार्य्य से अपना सम्पर्क रक्खे?

यह तो हुई ट्रावनकोर-राज्य की बात। वहीं, मदरास-प्रान्त ही में, एक ज़िला तिनवल्ली है। वहाँ के ब्राह्मणों की धर्म्मान्धता तो और भी बढ़ी चढ़ी है। वहाँ एक सड़क की मरम्मत होनेवाली थी। परन्तु कुली का काम करनेवाले सर्वत्र ही नीच जाति के लोग होते हैं। तिनवल्ली में भी वही हैं। इसी से परम पावन ब्राह्मणोत्तंस अड़ गये। बोले—अस्पृश्य और अपावन कुलियों को सड़क पर न आने देंगे। पावनों को लाइए; उन्हीं से मरम्मत कराइए। इस समाचार पर सहसा विश्वास नहीं होता। पर बात सच जान पड़ती है, क्योंकि कई अख़बारों में इसका उल्लेख हुआ है। वहाँ, उस प्रान्त में, ऐसा होना असम्भव भी नहीं। ख़ैर; यह ख़बर सच हो या झूठ, इसे सुनकर हृदय में कोप, ताप, परिताप और आश्चर्य आदि भावों का उदय ज़रूर हो उठता है और सन्देह होता है कि वहाँ के कुलीन ब्राह्मण कहीं पागल तो नहीं हो गये। क्योंकि जिसके होश-हवास ठिकाने हैं, वह ऐसे काम कभी नहीं कर सकता। अच्छा तो ये लोग अछूतों के संसर्ग से कहाँ तक अपने को बचा सकेंगे? यदि इन्हें उनसे सर्वथा संसर्ग-रहित रहना है तो इन्हें चाहिए कि ये अपने खाने के लिए अनाज स्वयं पैदा करें; जलाने और इमारतों में लगाने के लिए लकड़ी स्वयं काटें; अपनी गलियाँ और सड़कें स्वयं साफ़ करें; और अपने पाख़ानों की सफाई भी स्वयं अपने ही हाथ से करें! क्यों न? पवित्रता के ये पुतले तभी अपवित्र होने से बच सकेंगे, अन्यथा नहीं।

बेहतर तो यह होगा कि तिनवल्ली के—अथवा वहीं के क्यों, समस्त

केरल देश के—ब्राह्मण इस लोक ही को छोड़ दें। उन्हें चाहिए कि वे किसी ऐसे लोक में जा बसें जिसकी रचना उन्हीं के परम पावन बन्धु-बान्धवों ने की हो। यह लोक या यह दुनिया उनके रहने योग्य नहीं; क्योंकि इसकी सृष्टि एक ऐसे ईश्वर ने की है जिसकी कोई जाति नहीं, जो नीचता और उच्चता का क़ायल नहीं, जो ब्राह्मण और अब्राह्मण दोनों के हृदय-मन्दिरों में बैठा रहता है, जो चाण्डालों ही में नहीं, कीड़ों-मकोड़ों तक में अपनी सत्ता प्रकट करता है। अतएव ऐसा विवेकभ्रष्ट ईश्वर केरल के पवित्रतम ब्राह्मणों की दृष्टि में कदापि पवित्र नहीं माना जा सकता—कम से कम उतना पवित्र तो किसी तरह नहीं माना जा सकता जितना पवित्र कि वे लोग अपने को समझते हैं। तिनपल्ली के ब्राह्मणों की पवित्रता को धक्का पहुँचाने के भय की बात सुनकर "माडर्न रिव्यू" के सम्पादक ने जो विचार प्रकट किये हैं, वे कुछ कुछ वैसे ही हैं जैसे कि यहाँ, ऊपर प्रकट किये गये हैं।

[अगस्त १९२४.

प्रकीर्ण-खण्ड

पानी में न डूबनेवाले जहाज़

नौविद्या में घोर परिवर्तन होनेवाला है। थोड़े ही दिनों में जहाज़ों के डूबने का कोई भय न रह जायगा। अमेरिका में विदर-स्पून साहेब एक बड़े भारी इंजीनियर हैं। आपने, अभी हाल में, एक ऐसी युक्ति सोच निकाली है जिसके अनुसार कार्य करने से जहाज़ कभी न डूबेंगे। आपकी युक्ति सीधी और कम ख़र्च की है। आपने इस युक्ति के अनुसार कार्य्य भी किया है और उसमें आपको पूर्ण सफलता भी प्राप्त हुई है। आपने एक जहाज़ के पेंदे में एक छेद कर दिया। छेद जहाज़ के एक ऐसे कमरे में किया जिसकी दीवारें इतनी मज़बूत थीं कि कमरा बन्द कर देने पर समुद्र का पानी वहाँ से जहाज़ों के अन्य भागों में न जा सकता था। जब वह कमरा पानी से भर गया, तब एक छोटे छेद द्वारा कमरे में बारह पौंड फ़ी वर्ग इञ्च के हिसाब से उन्होंने घनीभूत हवा पहुँचाई। केवल दस मिनट के भीतर कमरे का सब पानी बाहर निकल गया। परन्तु हवा के वज़न से जहाज़ का एक भाग कुछ टेढ़ा पड़ गया। इस त्रुटि को दूर करने के लिये उस कमरे के आसपास के कमरों में सात पौंड और अन्य कमरों में तीन पौंड फ़ी वर्ग इञ्च के हिसाब से हवा पहुँचा कर उन्होंने उन भागों का वज़न सम कर दिया। छेद रहते हुए भी, हवा के प्रयोग से, जहाज़ अपना काम तो करता ही रहा; परन्तु उसमें एक विशेषता यह भी पैदा हो गई कि चाहे उसके टुकड़े टुकड़े उड़ा दिये जायँ, उसके एक कमरे में हवा भरे रहने के कारण वह समुद्र में न डूबे। यदि जहाज़ के पेंदे में अन्य किसी स्थान में छेद हो जाय

और उसके द्वारा जहाज़ में इतना पानी आ जाय जिसके बोझ से जहाज़ डूबने लगे तो भी हवा की सहायता से सारा पानी ज़हाज के बाहर निकाला जा सकता है। इस प्रकार जल और वायु में लड़ाई करा कर जहाज़ को डूबने से बचाने का उपाय उक्त साहब ने निकाला है। इसमें ख़र्च भी बहुत कम पड़ेगा। एक जहाज़ में लगभग डेढ़ हज़ार रुपये के ऐसे नलों की आवश्यकता होगी जिनके द्वारा जहाज़ में हवा पहुँचाई जा सके। आज-कल संसार में ऐसी बहुत सी कम्पनियाँ हैं जो जहाज़ों का बीमा किया करती हैं। बीमा किया हुआ जहाज़ डूबने पर बीमा-कम्पनी को उतना रुपया देना पड़ता है जितने का उसका बीमा होता है। इस जिम्मेदारी के बदले में बीमा करनेवाली कम्पनियों को जहाज़ के मालिकों से लाखों रुपये साल मिलता है। यदि विदर-स्पून साहेब के उपाय ने उन्नति की तो इन बीमा-कम्पनियों का व्यापार ठण्डा पड़ जायगा। पड़ जाय—अनन्त प्राणों के संहार और अपरिमित माल असबाब के नाश से तो छुटकारा मिलेगा।

[अप्रैल १९१२.

क्रूप का कारखाना

क्रूप के जिस कारखाने की बदौलत जर्मनी की सामरिक शक्ति बहुत ही अधिक बढ़ गई है, उसका विस्तृत वर्णन, इस लघु लेख में नहीं हो सकता है। स्वयं जर्मनी के कैसर इस कारखाने के हिस्सेदार हैं। यह कारखाना लोहे का है। क्रूप नाम के एक आदमी ने इसे खोला था। अस्त्र-शस्त्र ही इसमें अधिकतर बनते हैं। अनेक देशों की राजशक्तियाँ इस कारखाने से भिन्न भिन्न प्रकार की तोपें और बन्दूकें आदि मोल लेती हैं। कुछ तोपें इस कारखाने ने ऐसी बनाई हैं जिनका रहस्य और किसी को भी विदित नहीं। उन्हें उसने अभी तक जर्मनी को छोड़ और किसी देश को नहीं दिया। यहाँ एक नये ही ढंग की किले-तोड़ तोप तैयार हुई है। ये तोपें एक मात्र जर्मनी ही के लिए तैयार की गई हैं। बेलजियम के लीज, नामूर और एंटवर्प नाम के मज़बूत किलों की दीवारों को इन्हीं के गोलों ने नष्ट-भ्रष्ट किया है। इसका एक ही गोला पत्थर की मजबूत से भी मजबूत दीवार को जड़ से हिला देता है। लोगों का खयाल है कि यदि इन तोपों की पहुँच पेरिस से सोलह मील इधर तक भी हो जाती तो वहाँ के किलों के ध्वंस होने में देर न लगती। जर्मनी में जहाँ पर यह कारखाना है, वहाँ एसन नाम का एक शहर बस गया है। उसकी आबादी तीन लाख है। विशेषतः कारखाने ही के कर्मचारी और कारीगर आदि उसमें बसते हैं। पाँच सौ एकड़ में यह कारखाना है। इसकी शाखायें दूर दूर तक फैली हुई हैं। इसमें ८० प्रकार के भिन्न भिन्न काम होते हैं। चारों तरफ़ रेलें बिछी हुई हैं। उनका लगाव एसन के स्टेशन से है। कोई दो हजार करांचियाँ और पचास एंजिन प्रति-दिन

इस कारखाने से तोपें, गोले-गोलियाँ, बन्दूकें और अन्यान्य चीजें ढोने में लगी रहते हैं। जहाँ जहाँ जर्मनी की फौज, बन्दरगाह और किले हैं, वहाँ वहाँ सर्वत्र यह युद्ध का सामान पहुँचाता है। पौने दो लाख मन कोयला प्रति दिन इस कारखाने की भट्ठियों में जलता है।

तोपें बनाने का काम, इस कारखाने में, नौ जगह होता है। छोटी से छोटी तोप से लेकर बड़ी किले-तोड़ तोप तक यहाँ तैयार होती है। चालीस फुट लम्बी तोपें यहाँ बनती हैं। ऐसी तोपों का वजन एक हजार मन से भी अधिक होता है। ये ग्यारह मन वजनी गोला खाती हैं, जो सोलह मील तक की खबर लेता है। कुछ गोले यहाँ ऐसे बनाये जाते हैं जिन पर निकल नामक धातु का पत्तर चढ़ा रहता है। ये गोले ड्रेडनाट नामक जहाजों पर चढ़ी हुई आठ फुट मोटी इसपात की चद्दर को इस तरह छेद कर भीतर धँस जाते हैं जैसे वे चद्दरें कागज़ की हों! यहाँ ऐसे भी गोले तैयार होते हैं जिनमें एक एक के भीतर एक एक हज़ार से भी अधिक छोटी छोटी गोलियाँ और लोहे के टुकड़े भरे रहते हैं। फटने पर ये गोले चार चार पाँच पाँच सौ आदमियों को एक ही बार में मार गिराने की शक्ति रखते हैं। इस कारख़ाने ने अपने पड़ोस ही में चाँदमारी का भी प्रबन्ध कर दिया है। चाँदमारी के मैदानों की लम्बाई पन्द्रह मील तक है। कुछ मैदान कम लम्बे हैं, कुछ अधिक। बड़ी बड़ी तोपों की जाँच लम्बे मैदानों में होती है। योरप की राज-शक्तियों की तो बात ही नहीं, सुदूरवर्ती चीन, जापान, चिली और आर्जेनटाइन तक के फौजी अफसर यहाँ आते हैं और मोल ली हुई तोपों की जाँच, चाँदमारी के मैदानों में, करते हैं।

[जनवरी १९१५.

समर-भूमि का दृश्य

बहुत लोग यह समझते होंगे कि युद्ध के मैदान में योद्धा उसी प्रकार लड़ते भिड़ते और द्वन्द्व-युद्ध करते होंगे जिस प्रकार कि महाभारत और रामायण में वर्णन किये गये वीर करते थे। परन्तु आज-कल के युद्ध महाभारत और रामायण के जैसे युद्ध नहीं। युद्ध-विद्या आज-कल एक प्रकार के विज्ञान की पदवी को पहुँच चुकी है। उसमें अनेक प्रकार के यन्त्रों से काम लिया जाता है। बड़ी बड़ी चालें चली जाती हैं। अपनी हानि न करके शत्रु को हानि पहुँचाने की बड़ी बड़ी तरकीबें लड़ाई जाती हैं। जो युद्ध इस समय योरप में हो रहा है, उसके मैदानों को आप देखें तो प्रायः खाली ही पावेंगे। यदि किसी का यह खयाल हो कि दोनों पक्षों के पैदल और रिसाले सदा ही आमने सामने आकर युद्ध करते होंगे और एक दूसरे को मार-काट कर परास्त करने की यथाशक्ति चेष्टा करते होंगे तो यह भूल है। जहाँ पर युद्ध होता है, वहाँ पर बहुधा सफेद सफेद धुवें के बवण्डर के सिवा और कुछ नहीं दिखाई देता। यह धूम-समूह बड़े बड़े गोले चलाने और उनके फटने से निकलता है। किसी गोले में ऐसा भी मसाला भरा रहता है जिसके धुवें ही से आदमी का दम, बात की बात में, घुट जाता है। इस तरह के गोले फ्रांस के एक विज्ञान-वेत्ता ने अभी हाल ही में बनाये हैं। उनके बनाने का रहस्य अभी तक और किसी देशवाले को मालूम नहीं। जहाँ युद्ध होता है, वहाँ सामने की समर-भूमि में आदमी के बैठने भर को गहरी खाई खोद दी जाती है। कुदालों और फावड़ों से यह खाई नहीं खोदी जाती। इसके लिए बड़ी बड़ी मशीनें हैं। फौजों के साथ इस तरह की कितनी ही

मशीनें रहती हैं। जहाँ तक फौज फैली रहती है, अर्थात् जहाँ तक शत्रु की फौज का उसे मुकाबला करना पड़ता है, वहाँ तक बराबर खाइयाँ खोद दी जाती हैं। उन्हींके भीतर बैठकर सैनिक फायर करते हैं। सामने शत्रु की सेना भी ऐसी ही खाइयों में बैठी हुई फायर करती है। मैदान में कोई आदमी नहीं दिखाई देता। बड़ी बड़ी तोपें भी इसी तरह कहीं झाड़ियों के पीछे, कहीं पहाड़ियों के पीछे, कहीं मिट्टी के धुस्सों के पीछे छिपी रहती हैं। शत्रु की सेना कहाँ पर है, इसका पता दूरबीनों, हवाई जहाज़ों और जासूसों से लगा कर तोपों से इस तरह गोले छोड़े जाते हैं जिसमें वे ठीक निशाने पर लगें। जो पक्ष प्रबल होता है, अथवा जिसमें निर्भयता, वीरता और साहस की अधिकता होती है, वह इस प्रकार छिप कर फायर करते करते घबरा जाता है। तब वह मारू बाजा बजाता और युद्ध के कड़खे गाता हुआ खाइयों से अथवा आड़ की दूसरी जगहों से बाहर निकल पड़ता है। बड़े वेग से विपक्षी की खाइयों के पास आकर वह उन पर आक्रमण करता है। उस समय अवश्य एक पक्ष दूसरे पक्ष को देखने में समर्थ होता है। विपक्षी की सेना भी उस समय बहुधा अपनी खाई से बाहर निकल आती है और दोनों ओर से मनुष्य-संहारक समर आरम्भ हो जाता है। उधर मशीनगनें तथा दूसरे प्रकार की तोपें अपना काम करती ही जाती हैं। जब तक दोनों ओर की सेनायें कुछ दूरी पर रहती हैं, तब तक तो गोलियाँ ही चलती हैं। परन्तु जब दोनों ओर के वीर पास पास आ जाते हैं, तब संगीनों की मार होने लगती है। उस समय जैसा हत्या-काण्ड होता है, उसका अन्दाजा पाठक स्वयं ही कर लें। खून की नदियाँ बह निकलती हैं। सैकड़ों हजारों लोथें ज़मीन पर बिछ जाती हैं। आक्रमणकारी दल की यदि जीत हुई तो वह विपक्षी की खाई पर अपना दखल कर लेता है और मौका मिला तो आगे भी बढ़ जाता है।

ठीक समर-भूमि में तो प्रायः एक भी नर-मुण्ड के दर्शन नहीं होते,

परन्तु खाइयों के पीछे कुछ दूर दोनों ओर बड़ी ही चहल-पहल रहती है। कहीं तोपों का जमघट है, कहीं घायलों की सेवा-शुश्रूषा का प्रबन्ध है, कहीं कमसरियट के सामान से लदी हुई सैकड़ों गाड़ियों का ताँता बँधा हुआ है। कहीं हज़ारों जवान क़तार बाँधे चले जा रहे हैं। कहीं ज़मीन पर बैठी हुई सेना का एक बटालियन, एक दम उठकर आज्ञा पाते ही, किसी निर्दिष्ट स्थान की ओर चल देता है। दूर से देखने पर उस समय ऐसा मालूम होता है जैसे शहद की मक्खियों के छत्ते को किसी ने छड़ी से छू दिया हो। इस दृश्य के पीछे और तरह के दृश्य भी दिखाई देते हैं। कहीं घोड़े नहलाये जा रहे हैं, कहीं उन्हें दाना-चारा दिया जा रहा है, कहीं हज़ारों आदमी ज़मीन पर पड़े आराम कर रहे हैं। कहीं एक सैनिक दूसरे की हजामत बना रहा है। कहीं कुछ सिपाही पास के झरने में कपड़े धो रहे हैं।

प्राचीन समय के युद्ध के दृश्य कुछ और ही तरह के होते थे और ये कुछ और ही तरह के हैं। समयानुसार सभी बातों में परिवर्तन हुआ करता है। अनुभव, शिक्षा और विज्ञान-वृद्धि के साथ युद्ध-विद्या में जो उन्नति हुई है, उसी का यह फल है।

[जनवरी १९१५.

हिन्दुस्तानी वीरों को विक्टोरिया-क्रास

बल, विक्रम और वीरत्व किसी विशेष जाति या विशेष देश ही के हिस्से में नहीं पड़ा। सभी देशों और सभी जातियों में इन गुणों का पाया जाना सम्भव है। भारत वह देश है जहाँ युद्ध में कबन्ध नाचते और घंटों हथियार चलाते थे। ऐसे देश के वीरों को विक्टोरिया-क्रास मिलने पर इस दृष्टि से अवश्य प्रसन्नता प्रकट की जा सकती है कि उन्हें उनकी वीरता का चिह्न मिलने लगा। पर उनकी वीरता का अब प्रमाण मिला है, यह समझ कर प्रसन्नता प्रकट करने का कोई कारण नहीं। वे वीर पहले भी थे, अब भी हैं और आगे भी बने रहेंगे। रामायण और महा-भारत के समय की बात जाने दीजिए। सौ दो सौ वर्ष पूर्व ही की बात लीजिए। नवाबी में छोटे-मोटे युद्ध बहुधा हुआ ही करते थे। अवध का कोई ज़िला ऐसा नहीं जिसमें ऐसे युद्ध न होते रहे हों। इन युद्धों में वीरता के बड़े ही विकट काम करनेवाले अनेक वीरों की याद अब तक लोगों को बनी हुई है। वीरता दिखाने का मौक़ा भर हिन्दुस्तानियों को मिलना चाहिए। अँगरेज़ी राज्य में भी गवर्नमेंट को हमारे वीरों की वीरता का सैकड़ों दफ़े परिचय मिल चुका है। अब ये वीर योरप में अपनी वीरता का सिक्का जमा रहे हैं। अतएव उनका विक्टोरिया क्रास पाना कोई आश्चर्य की बात नहीं। आश्चर्य की बात तो यह है कि वीर होने पर भी वे इस क्रास के मुस्तहक़ अब तक न समझे गये थे।

विक्टोरिया-क्रास नामक पदक का निर्माण, क्राइमिया-युद्ध के बाद हुआ। टूमे नाम के एक लेखक ने अँगरेज़ी में एक पुस्तक लिखी है। उसमें १८६७ ईसवी तक के उन सब वीरों का वृत्तान्त है जिनको यह

पदक मिल चुका था। तब से आज तक और भी कितने ही सिपाहियों और फ़ौजी अफ़सरों को यह पदक मिला है। १९१० ईसवी तक ५२२ अफ़सरों और सोलजरों (सिपाहियों) को यह पदक मिला था। जल और स्थल दोनों ही तरह की सेना के वीरों को यह पदक मिल सकता है। यह बड़े ही सम्मान की दृष्टि से देखा जाता है। बहुत बड़ी वीरता दिखानेवाले ही को यह मिलता है। जनरलों से लेकर मामूली सिपाहियों तक को यह मिल सकता है। लार्ड राबर्ट्स को यह प्राप्त हुआ था। महारानी विक्टोरिया ने इसका प्रचार किया था; इसी से यह उनके नाम से प्रसिद्ध है। यह "ब्राँज़" का होता है। इसके ऊपर शेर की तसवीर रहती है। तसवीर के नीचे राजकीय मुकुट उत्कीर्ण रहता है। सब के नीचे—"वीरता के लिए"—ये शब्द रहते हैं। इस पदक के पानेवाले को १५० रुपये साल पेन्शन मिलती है। यह पेन्शन मामूली पेन्शन के अलावा मिलती है। जिस वीरता के उपलक्ष्य में यह पदक मिलता है, उसके सिवा और भी वीरता दिखाने पर हर वीरता के लिए ७५ रुपये साल पेन्शन अधिक मिल सकती है। यदि जीविका-उपार्जन करने का और कोई द्वार न हो तो इस पदक के पानेवाले की पेन्शन ७५० रुपये साल तक बढ़ाई जा सकती है। इसके पानेवाले को पेन्शन के सिवा और भी कितने ही सम्मान-सूचक अधिकार प्राप्त हो जाते हैं। यह पदक पहले ब्रिटिश सेना के जवानों ही को मिलता था। राजतिलक-सम्बन्धी देहली-दरबार के समय से, अर्थात् १९११ ईसवी से, हिन्दुस्तानी फ़ौज को भी इसके दिये जाने का नियम हो गया। इसी से फ़्रांस और बेलजियम में लड़नेवाली हिन्दुस्तानी सेना के तीन जवानों को यह पदक, गत पाँच ही महीने में, मिल चुका है।

[जनवरी १९१५.

लड़नेवाली फ़ौज का ख़र्च

यूरप के वर्तमान महासमर के भिन्न भिन्न मैदानों में दोनों पक्षों के ४० लाख से भी अधिक मनुष्य लड़ रहे हैं। इन ४० लाख मनुष्यों का दैनिक ख़र्च कितना होगा, इसका अनुमान कर लेना सहज नहीं।

मान लीजिए कि हमारी सरकार को कलकत्ते से कुरुक्षेत्र को १० लाख सेना ले जाना है। इस दस लाख सेना को, सैनिक नियमों के अनुसार, ३३ भागों में बाँटना पड़ेगा। इन ३३ भागों में से प्रत्येक भाग के लिए कोई १६ हजार घोड़ों की ज़रूरत होगी। इस प्रकार १० लाख मनुष्यों के लिए ५,२८,००० घोड़े दरकार होंगे, क्योंकि रिसाला भी सेना का एक अङ्ग है। इतने घोड़ों के लिए दाने-घास का प्रबन्ध करना पड़ेगा। एक घोड़ा कम से कम १२ सेर घास और दाना रोज़ खा सकता है। इस हिसाब से कोई ६२ लाख सेर घास और दाना प्रति दिन ख़र्च होगा! इतनी घास और दाने से माल-गाड़ी के कोई ४०० डब्बे भरे जा सकते हैं।

मान लीजिये कि सारी फ़ौज को कूच करने का हुक्म हुआ। अब रेल-गाड़ियों की ज़रूरत पड़ी। १०–२० की नहीं, सैकड़ों की। इन दस लाख मनुष्यों का सारा सामान, घोड़े, तोपें, बन्दूकें, भोजन-सामग्री, दाना-घास आदि सेना के साथ ही भेजना पड़ेगा। सेना के एक भाग के लिए कोई १५० रेल-गाड़ियों की ज़रूरत होगी। अतएव ३३ भागों के लिए कुछ कम ५००० ट्रेनें दरकार होंगी।

दिन रात में एक सिपाही को कोई दो सेर तौल की सब चीज़ें खाने के लिए चाहिए। आज कल, महँगी के दिनों में, इन दो सेर चीज़ों की क़ीमत लगभग १५ आने हुई। इस प्रकार प्रति दिन का केवल भोजन-

व्यय कुछ कम १० लाख रुपया हुआ। प्रति दिन की भोजन-सामग्री की तोल लगभग ४९,९८० मन हुई। इस कारण कोई बीस माल-गाड़ियाँ प्रति दिन इन दस लाख मनुष्यों की खाद्य सामग्री और इनके घोड़ों के दाने-घास से भरी हुई भेजनी पड़ेंगी।

यदि १० लाख मनुष्य लड़ेंगे तो सैकड़ों मरेंगे और हज़ारों घायल भी होंगे। घायलों के लिए डाक्टरों और सेवा-शुश्रूषा करनेवालों की भी ज़रूरत होगी। उनको लड़ाई के मैदान से अस्पतालों में ले जाने के लिए कोई ५०० गाड़ियाँ दरकार होंगी, जिनमें बिछाने के लिए ५०,००० से भी अधिक बिस्तरों की ज़रूरत पड़ेगी। युद्ध की भयङ्करता अधिक हो जाने पर, इन वस्तुओं की और भी अधिक माँग होगी। इस कारण और भी ख़र्च बढ़ जायगा।

दस लाख मनुष्यों की वर्दी आदि के लिए जितना कपड़ा दरकार होगा, वह यदि किसी सड़क पर बिछाया जाय तो उसकी लम्बाई २ हज़ार मील से कम न होगी! वर्दी पहना कर बन्दूक तथा कारतूस आदि देकर एक सिपाही को युद्ध के लिए तैयार करने में कोई १८० रुपये ख़र्च होते हैं। इस प्रकार १० लाख आदमियों को युद्ध के मैदान में रखने के लिए प्रति सप्ताह ५ करोड़ २५ लाख रुपये चाहिए।

यह दस लाख फ़ौज यदि आपके घर के सामने से होकर रात दिन गुज़रे तो कहीं १५ दिन में उसका ताँता टूटे।

इस लेखे से पाठक युद्ध के ख़र्च का कुछ कुछ अन्दाज़ा कर सकेंगे। यह लेखा केवल १० लाख फ़ौज का है। चालीस पचास लाख फ़ौज के ख़र्च का तो कहना ही क्या है!

[मार्च १९१५.

निःशब्द समर

सामुद्रिक शक्ति में ग्रेट ब्रिटन का नंबर पहला है। दूसरा नंबर जर्मनी का है। ये दोनों ही शक्ति-शाली देश परस्पर युद्ध कर रहे हैं। भिन्न भिन्न प्रकार के लड़ाकू जहाज़ तैयार करने में ये दोनों ही कई बरसों से परस्पर प्रतिस्पर्धा करते आये हैं। नाविक शक्ति में ग्रेट ब्रिटन की बराबरी करने में जर्मनी ने जी-जान से चेष्टा की है। उसने अरबों रुपया इस काम में ख़र्च किया है। उधर ग्रेट ब्रिटन ने भी अपनी शक्ति पूर्ववत् जर्मनी से दूनी बनी रखने में कसर नहीं की। अपनी अपनी उद्देश्य-पूर्ति के लिए दोनों देशों ने असंख्य धन पानी की तरह बहाया है। ग्रेट-ब्रिटन के लिए ऐसा करना सर्वथा उचित कहा जा सकता है, क्योंकि उसका जीवन-मरण जहाजी शक्ति पर ही अवलम्बित है। समुद्र उसे चारों तरफ़ से घेरे हुए है। वह द्वीप है। उस तक वही शत्रु पहुँच सकता है जिसकी जहाज़ी शक्ति ग्रेट ब्रिटेन की जहाज़ी शक्ति से अधिक नहीं तो बराबर अवश्य हो। जर्मनी जो अपनी जहाज़ी शक्ति बढ़ाता चला आया है, उसका एक मात्र कारण ग्रेट-ब्रिटेन से बढ़ जाने और उसके प्रभुत्व को कम कर देने की इच्छा के सिवा और कुछ नहीं।

युद्ध छिड़े कोई सात महीने हुए। लोग यह समझते थे कि इन दोनों देशों के पास जो सैकड़ों बड़े बड़े लड़ाकू जहाज़ हैं, वे इस तरह चुपचाप न रहेंगे। उनमें घमासान युद्ध होगा। और दोनों देशों के बेड़े परस्पर एक दूसरे का नाश करने में प्रवृत्त हो जायँगे। परन्तु अब तक यह कुछ भी नहीं हुआ। जो दो चार छोटे मोटे जल-युद्ध हुए हैं, उन्हें पहलवानों का हाथ मिलाना मात्र कहना चाहिए। दोनों पक्षों के पचास

से अधिक ड्रेडनट नामक भीषण जहाज़ अब तक ज्यों के त्यों हैं। उनकी बड़ी बड़ी तोपों से एक भी गोला नहीं छूटा। अँगरेजी बेड़ा अपनी जगह पर तैयार खड़ा है और जर्मनी का बेड़ा अपनी जगह पर। रवाना होने पर कुछ ही घण्टों में एक दूसरे के पास पहुँच सकता है। पर यद्यपि अँगरेजी बेड़ा "युद्धं देहि" की घोषणा उच्च स्वर से करता रहता है, तथापि जर्मनी के बेड़े को मैदान में आने का साहस ही नहीं होता। वह डरे हुए भेड़िये की तरह अपनी माँद नहीं छोड़ता।

परन्तु इससे यह न समझना चाहिए कि अँगरेज़ी बेड़ा कुछ काम नहीं कर रहा है। उसने बहुत बड़ा काम कर दिखाया है और बराबर करता जा रहा है। वह जर्मनी से निःशब्द समर कर रहा है। अथवा यह कहना चाहिए कि वह जर्मनी पर निःशब्द विजय-प्राप्ति कर रहा है। उसकी इस निःशब्द विजय-प्राप्ति के महत्व का अनुमान इन बातों से किया जा सकता है—

इस अँगरेज़ी बेड़े ही ने जर्मनी के व्यापारी जहाजों का तहस-नहस कर डाला है। जहाँ तक मिल सके हैं, जर्म्मनी के व्यापारी जहाजों को पकड़ पकड़ कर उन्हें उसने अपने अधिकार में कर लिया है। जो भाग कर बच गये हैं, वे या तो तटस्थ राज्यों के बन्दर-गाहों में पड़े हुए मक्खियाँ मार रहे हैं या जर्मनी ही के बन्दरगाहों में अपने दिन काट रहे हैं। उनके लिये कोई काम नहीं। अपनी जगह से हटे नहीं कि पकड़े गये। इस निःशब्द समर की महिमा तो देखिए। इसके कारण जर्मनी का प्रायः सारा विदेशी व्यापार एक दम ही नष्ट हो गया। उसके जो लड़ाकू जहाज़ दूसरे देशों के बन्दरगाहों में थे, उन्होंने लुक छिपकर ब्रिटिश गवर्नमेंट के कुछ व्यापारी जहाज़ों को अवश्य हानि पहुँचाई। परन्तु अन्त में या तो एक एक करके वे डुबो दिये गये, या तोड़-ताड़ डाले गये, या जो बचे, वे उदासीन देशों के बन्दरगाहों में अपने दिन काटने लगे। अँगरेजी बेड़े के कारण ही जर्म्मनी के उपनिवेश उसके हाथ से निकल

गये। जो एक आध रह भी गया है, वह भी निकल जाने ही के लक्षण दिखा रहा है। जर्म्मनी का भयभीत हुआ जहाजी बेड़ा यदि युद्ध के लिए सामने नहीं आता तो न सही। अँगरेजी बेड़ा, फिर भी, अपना काम कर रहा है—फिर भी वह युद्ध से बढ़कर कारगुजारी दिखा रहा है। यह उसके निःशब्द-युद्ध ही का प्रभाव है जो आस्ट्रेलिया, कनाडा और हिन्दुस्तान से सेना पर सेना, सात समुद्र पार, बराबर पहुँच रही है। फ़ौज ढोई चली जा रही है, रसद लदी चली जा रही है, लड़ाई का सामान बराबर चला जा रहा है। और जर्म्मनी का बेड़ा! सौ ही डेढ़ सौ मील दूर खड़ा तमाशा देख रहा है! वह उँगली तक नहीं उठा सकता! हाँ समुद्र-तट-वर्त्ती अरक्षित नगरों पर कभी कभी चोर की तरह छिपे छिपे दस बीस गोले फेंक कर वह स्त्रियों, बच्चों और निःशस्त्र आदमियों की हत्या भले ही कर जाता है। पर इससे जर्म्मनी के बेड़े की सार्थकता सिद्ध नहीं होती। सार्थकता सिद्ध तो कर रहा है ब्रिटिश बेड़ा, जो बिना युद्ध किये ही जीत का फल चख रहा है। उसके इस निःशब्द-समर का परिणाम जर्म्मनी के लिए बहुत ही हानिकर हुआ है।

[मार्च १९१५.

विराट्-काय जलचरों की एक निःशेष जाति

विद्वानों का अनुमान है कि किसी समय यह सारा भूगोल जल-मग्न था। इसमें थल का आविर्भाव धीरे-धीरे हुआ है। पहले केवल जलचर प्राणियों का प्रादुर्भाव हुआ। उनकी अनेक जातियाँ थीं। कुछ बड़ी ही भयङ्कर थीं, कुछ सौम्य-स्वभाव की थीं। कुछ का आकार हाथियों से भी कई गुना बड़ा था। कुछ छोटी छोटी भी थीं। थल का आविर्भाव होने पर ऐसे भी जलचर प्राणी पैदा होने लगे जो जल ही में रहकर किनारे पर उगे हुए पेड़-पौधों की पत्तियाँ खाकर अपनी प्राण-रक्षा करते थे। उनका आहार जलचर जीव भी थे और स्थलचर वनस्पति भी। इस प्रकार के प्राणी अब नहीं पाये जाते। उनकी जाति निःशेष हो गई। इस बात को न मालूम कितने लाख वर्ष हुए। बर्लिन के अजायबघर के कुछ अफ़सरों और कर्मचारियों ने अफ़रीका के उस पूर्वी प्रान्त से, जो जर्मनी के अधीन है, एक ऐसे ही प्राणी की ठठरी ढूँढ़ निकाली है। इस ठठरी में केवल एक ही दो हड्डियों की कमी है। और सब पूर्ववत् विद्यमान हैं। लाखों वर्ष मिट्टी और जल के भीतर पड़ी रहने से मांस और चमड़े का तो नाम ही नहीं रह गया, पर हड्डियाँ ज्यों की त्यों हैं। इस ठठरी की जो हड्डियाँ नहीं मिलीं, वे कृत्रिम बनाई जायँगी। फिर यह ठठरी जोड़ कर अजायबघर में रक्खी जायगी। इसके लिए समय दरकार है। तब तक शारीर शास्त्र के वेत्ताओं ने ठठरी को देख कर, अनुमान के बल पर, इस प्राणी का चित्र तैयार किया है। जीवित दशा में यह प्राणी १०० फ़ीट अर्थात् कोई ६६ हाथ लम्बा रहा होगा। अगले पैरों से कन्धे तक इसकी ऊँचाई २० फुट अनुमान की गई है। गर्दन इसकी कम से कम

३१ फुट अर्थात् २४ हाथ लम्बी रही होगी। यदि यह इस समय जीता होता और कलकत्ते या बम्बई की सड़कों पर निकलता तो इसका मुँह चार चार पाँच पाँच खण्ड के मकानों की छत तक पहुँच जाता। इसके मुकाबले में नामनिःशेष मम्मथ नामक चतुष्पाद प्राणी कोई चीज ही नहीं। और हाथी ? वह तो छः महीने के बच्चे के सदृश मालूम होता।

[मार्च १९१५.

रूटर कम्पनी की जुबिली

कुशलपूर्वक ५० वर्ष बीत जाने के उपलक्ष्य में जो उत्सव किया जाता है, उसे अँगरेजी में जुबिली कहते हैं। महारानी विक्टोरिया को जब राज्य करते ५० वर्ष हो गये थे, तब इस देश में भी जुबिली का महोत्सव हुआ था। साठ वर्ष बीतने पर उससे भी बढ़ कर उत्सव किया गया था। तार द्वारा खबरें भेजने का काम करनेवाली एक कम्पनी विलायत में है। उसका नाम है—रूटर्स-टेलिग्राम-कम्पनी। इसी कम्पनी की बदौलत भारत के दैनिक समाचारपत्र योरप के वर्त्तमान युद्ध की अधिकांश खबरें प्रकाशित करते हैं। कोई देश, कोई प्रान्त, कोई द्वीप, ऐसा नहीं जहाँ इस कम्पनी के एजंट न हों और जहाँ की खबरें वे देश-देशान्तरों को न भेजते हों। युद्ध ही की खबरें नहीं, सभी तरह की खबरें भेजने का काम यह कम्पनी करती है। रूटर की भेजी हुई खबरें पाने के लिए बहुत सा रुपया वार्षिक देना पड़ता है। हर देश के लिए कम्पनी ने अलग अलग निर्ख रक्खे हैं। इस कम्पनी की स्थापना हुए ५० वर्ष हो गये। इसी से, गत फरवरी में, इसकी जुबिली बड़ी धूम से लन्दन में मनाई गई।

जूलियस रूटर नाम के एक आदमी ने पहले पहल खबरें भेजने का काम लन्दन में आरम्भ किया। जिस समय वे लन्दन में आये, उनके पास रुपये पैसे की बहुत कमी थी। पर उनमें बुद्धि की कमी न थी। उसका भाण्डार उनके मस्तिष्क में लबालब भरा हुआ था। उसी के बल पर, १८५१ ईसवी में, उन्होंने यह काम जारी किया। इस व्यवसाय में उन्हें बड़ी सफलता हुई। १४ वर्ष तक उन्होंने इस काम को अकेले ही चलाया। काम का विस्तार बढ़ाने के इरादे से, १८६५ ईसवी में, उन्होंने एक कम्पनी खड़ी की और उसका नाम रूटर्स-टेलिग्राम-कम्पनी रक्खा। कम्पनी का मूल-धन १२०० हिस्सों में बाँटा गया। दस बीस हिस्से

छोड़ कर शेष सारे हिस्से अँगरेजों ही ने ले लिये। रूटर, यद्यपि जर्मन नाम है, तथापि इस कम्पनी पर जर्मनी का कुछ भी प्रभुत्व नहीं। इसके वर्तमान प्रबन्ध-कर्ता (मैनेजिंग डाइरेक्टर) बैरन-डि-रूटर हैं। वे ४० वर्ष से इस ओहदे पर हैं। उनका जन्म विलायत ही में हुआ और विलायत ही में उन्होंने शिक्षा भी पाई है। अतएव अब वे जर्मन नहीं, अँगरेज हो गये हैं। जो काम यह कम्पनी विलायत में करती है, वही काम हवास नाम की एक कम्पनी फ्रांस में और पेट्रोग्राड नाम की रूस में करती है। इन कम्पनियों से भी रूटर-कम्पनी का सम्बन्ध है। इन तीनों ने इकरारनामे लिखे हैं। उनकी शर्तों के अनुसार ये एक दूसरी को अपनी अपनी ख़बरें देती हैं। कुछ समय से एक ऐसी ही कम्पनी जर्मनी में भी स्थापित हुई है। उससे भी रूटर-कम्पनी का सम्बन्ध पहले था, पर युद्ध छिड़ने पर वह सम्बन्ध छिन्न हो गया।

और कम्पनियों की अपेक्षा रूटर-कम्पनी विशेष विश्वसनीय समझी जाती है। वह केवल यथार्थ घटनाओं की ख़बरें भेजती है। उन पर टीका-टिप्पणी नहीं करती। ख़बरें भेजने का प्रबन्ध उसने ऐसा अच्छा किया है कि सुदूरवर्ती चिली, फिलिपाइन, साइबेरिया, आइसलैंड, चीन, जापान, और अफ़रीका के रेगिस्तानी नगरों तक में उसके एजंट हैं। ब्रिटिश गवर्नमेंट को सरकारी ख़बरें भेजने में शायद देर भी लगे, पर रूटर की ख़बरें तत्काल ही भेजी जाती हैं। बोर युद्ध के समय ज्योंही ट्रान्सवाल के मेफ़किंग नामक नगर का उद्धार हुआ, रूटर ने उद्धार की ख़बर लन्दन भेज दी। उस समय लार्ड राबर्ट्स दक्षिणी अफ़रीका ही में थे। पर उन्हें इस बात की ख़बर न थी। रूटर की भेजी हुई ख़बर जब लन्दन से फिर दक्षिणी अफ़रीका भेजी गई, तब लार्ड राबर्ट्स को मेफकिंग के उद्धार का हाल मालूम हुआ! इसी तरह उस साल देहली में बम के आघात से लार्ड हार्डिंग् के घायल होने की ख़बर भी पहले पहल रूटर ने ही लन्दन पहुँचाई थी।

[मार्च १९१५.

मनुष्य-जाति के पूर्व-पितामह

संसार में जितने जीव-जन्तु हैं, सब क्रम क्रम से अपनी वर्तमान अवस्था को पहुँचे हैं। अर्थात् उनका विकास धीरे धीरे हुआ है; उनका रूपान्तर होता गया है। यह विकास या रूपान्तर अब तक होता है। डारविन का यही मत है। कुछ लोग ऐसे हैं जो इस सिद्धान्त को नहीं मानते; पर अधिकांश विद्वान् इसे मानते हैं और इसकी पुष्टि नई नई खोजों और प्रमाणों से करते जाते हैं। इंगलैंड में सलेक्स नाम का एक सूबा है। उसके फिल्टडौन नामक नगर में मनुष्य की एक टूटी हुई खोपड़ी ज़मीन के भीतर से निकली है। इस बात को कोई तीन वर्ष हुए। इसे चार्ल्स डासन नाम के एक विज्ञान-वेत्ता ने ढूँढ़ निकाला है। इसके टुकड़े टुकड़े जोड़कर यह अब अपनी असली हालत को पहुँचा दी गई है। जहाँ से यह खोपड़ी निकली है, वहीं बहुत पुराने औज़ार भी निकले हैं। उनमें से एक औज़ार भाले की शकल का है। वह हाथी की रान की हड्डी का है। इससे सूचित है कि उस ज़माने के मनुष्य ऐसे ही औज़ारों से काम लेते थे। भूगर्भ-शास्त्र के विद्वानों के बहुत ज़ोर लगाने पर भी अभी इस बात का निश्चय नहीं हो सका कि यह खोपड़ी कितनी पुरानी है—जिसकी यह खोपड़ी है, वह मनुष्य कितने हज़ार या लाख वर्ष पहले जीवित था। आज तक जितनी पुरानी पुरानी खोपड़ियाँ और ठठरियाँ मिली हैं, उनमें और वर्तमान काल के मनुष्यों की खोपड़ियों और ठठरियों में थोड़ा ही अन्तर है। पर यह खोपड़ी विलक्षण है। यह है तो मनुष्य की, पर ऐसे मनुष्य की जिसे मनुष्यत्व पाये बहुत काल नहीं हुआ था। इसका जबड़ा ठीक ठीक बड़ी जाति के बन्दरों के सदृश है।

दाँतों और डाढ़ों की बनावट और स्थिति भी वैसी ही है। कई बातों में यह अमेरिका और अफ़रीक़ा के असभ्य आदमियों की खोपड़ियों से मिलती जुलती है; पर जबड़े की बनावट में नहीं। इससे यह अनुमान किया जाता है कि जिस ज़माने की यह खोपड़ी है, उस ज़माने में मनुष्य अपने पूर्व-पितामह बन्दर से उन्नति तो अवश्य कर चुका था; पर तब तक भी उसके मुँह की बनावट प्रायः उसके पूर्वजों ही के सदृश थी। इस खोपड़ी के आधार पर विज्ञान-वेत्ताओं ने उस समय के मनुष्यों के आकार और संघटन की जो कल्पना की है, उसके चित्र तक तैयार हो गये हैं।

[मई १९१५.

पौने पाँच हज़ार मील से बात-चीत

दूर बैठे हुए दो आदमी जिस यन्त्र की सहायता से परस्पर बात-चीत कर सकते हैं, उसे टेलिफोन कहते हैं। यह टेलिफोन इस देश में भी बहुत समय से जारी है। दफ्तरों में, स्टेशनों पर, बड़ी बड़ी कोठियों और कारखानों में टेलिफोन के यन्त्र लग गये हैं। उनकी सहायता से लोग उसी तरह बात-चीत कर सकते हैं जिस तरह पास पास बैठे हुए दो आदमी करते हैं। अब तो यह यन्त्र देहली और शिमले के बीच भी लग गया है। पर इससे अधिक दूर तक काम देनेवाले यन्त्रों का प्रचार अभी इस देश में नहीं। हाँ, अमेरिकावालों ने इस यन्त्र की उन्नति की पराकाष्ठा कर दिखाई है। वहाँ सौ दो सौ और हज़ार दो हजार मील की तो बात ही नहीं, पौने पाँच हज़ार मील की दूरी पर बैठे हुए दो आदमी इस यन्त्र से अच्छी तरह बात-चीत करने लगे हैं। लन्दन से बम्बई ५४३९ मील है। बहुत सम्भव है कि किसी दिन सेक्रेटरी आव् स्टेट लन्दन में में बैठे ही बैठे, बम्बई में बैठे हुए भारत के वाइसराय और गवर्नर जनरल से मशविरा कर सकें।

टेलिफोन का आविष्कार हुए चालीस वर्ष से अधिक समय नहीं हुआ। पर इतने ही थोड़े समय में इसके आविष्कर्ता ने इसकी अद्भुत उन्नति करके संसार को चकित कर दिया। अमेरिका में एक कम्पनी है। उसका नाम है—टेलिफोन एंड टेलिग्राफ कम्पनी। उसका प्रधान दफ्तर न्यू-यार्क में है। इसी कम्पनी के डाक्टर ग्राहम ब्यल ने टेलिफोन में इतनी उन्नति की है। टेलिफोन के लिए भी खम्भों पर तार लगाकर उनसे इसके यन्त्रों का सम्बन्ध किया जाता है। इसके लिए भी बिजली की शक्ति दरकार होती है।

दो चार गज़ की दूरी से आरम्भ करके सैकड़ों कोस तक ब्यल साहब ने धीरे धीरे तार बिछाये और टेलीफोन द्वारा परस्पर बात-चीत करने का साधन सुलभ कर दिया। अब तो आपने हज़ारों कोस दूर बैठ कर भी बात-चीत करने की युक्ति निकाल ली है। अमेरिका के संयुक्त राज्यों के न्यू-यार्क नगर से सान-फ्रांसिस्को नामक नगर ३,४०० मील दूर है। न्यू-यार्क आटलांटिक समुद्र के तट पर है और फ्रांसिस्को पेसिफिक समुद्र के तट पर। इसी सान-फ्रांसिस्को में पनामा नहर से सम्बन्ध रखनेवाली प्रदर्शिनी खुली है। कोई तीन महीने हुए, ब्यल साहब ने न्यू-यार्क में बैठ कर सान फ्रांसिस्को से अच्छी तरह बात-चीत की। इसके बाद उन्होंने २०० मील दूर वाशिंग्टन नगर को न्यू-यार्क से तार द्वारा जोड़ दिया। तब अमेरिका के संयुक्त-राज्यों के प्रेजिडेंट, डाक्टर विलसन, ने ३,६०० मील दूर सान-फ्रांसिस्को में बैठे हुए प्रदर्शिनी के कर्म्मचारियों से वार्ता-लाप किया। तदनन्तर टेलीफोन-लाइन का सम्बन्ध बढ़ाकर जार्जिया प्रान्त के एक टापू से कर दिया गया। तब दूरी ४,३०० मील हो गई। कुछ समय बाद उस टापू में लगे हुए टेलिफोन के तार का सम्बन्ध वाशिंग्टन और न्यू-यार्क के मार्ग से बोस्टन नगर से कर दिया गया और बोस्टन का सम्बन्ध सान फ्रांसिस्को से। इस प्रकार उस टापू से सान-फ्रांसिस्को की दूरी ४,७५० मील हो गई। पर दूरी इतनी होने पर भी बात-चीत करने में कुछ भी कठिनाई न हुई। अब इतनी दूर बैठे हुए लोग अच्छी तरह बात-चीत कर सकते हैं। टेलिफोन की इस उन्नति को देख कर बड़े बड़े ज्ञानी-विज्ञानी दङ्ग रह गये हैं। उनका खयाल है कि यह समय दूर नहीं जब दस दस हज़ार मील दूर के द्वीप-द्वीपान्तरों से बातचीत करना सुलभ हो जायगा।

[जून १९१५.

जापान में पतङ्गबाज़ी

यदि किसी का यह ख़याल हो कि कनकौवेबाज़ी में देहली और लखनऊ ही बढ़े चढ़े हैं तो उसकी भूल है। जापान इस फन में उनसे भी बहुत आगे है। वहाँ पतंग उड़ाना और लड़ाना घुड़दौड़ और पोलो के खेल से अधिक महत्व रखता है।

जापान के प्रायः प्रत्येक नगर में पतंग-बाज़ी से सम्बन्ध रखनेवाली सभायें हैं। उनके सभासदों की संख्या सैकड़ों हजारों तक है। वे आपस में शर्त्त लगा कर पतंगबाज़ी करती हैं। जो और सारी पतंगों को काट देता है, उसी की जीत रहती है। लड़ाते समय खूब पेंचबाजी होती है। घण्टों पेंच हुआ करते हैं। एक एक पतंग की ओर पचास पचास साठ साठ आदमी रहते हैं। वे बारी बारी से पतंग उड़ाते और लड़ाते हैं। पेंचबाज़ी के समय हर पक्ष में दो दो निरीक्षक रहते हैं। वही निगरानी करते हैं। वही हर एक बात का फैसिला करते हैं। लड़ाई-झगड़ा रोकने का भार भी उन्हीं पर रहता है। उड़ाने और लड़ाने के लिए वही पतंगें भी चुनते हैं।

जापान में पतंगें बनाने और लड़ाने में बहुत रुपया खर्च किया जाता है। वहाँ की पतंगें (कनकौवे) कोई ९० फुट लम्बी और ५०—६० फुट चौड़ी होती हैं। उनका ढाँचा बाँस की लकड़ियों का होता है। वे दो दो तीन तीन फुट की दूरी पर लगती हैं। उनका व्यास लगभग ३ इंच के होता है। जापानी पतंग की डोरियों की लम्बाई २०० फुट से भी अधिक होती है। वे सुतली की बनती हैं और एक इंच मोटी होती हैं। एक एक बड़ी पतंग के दाम डेढ़ हजार रुपये से कम नहीं होते।

जापान में पतंगबाजी का दृश्य देखने लायक होता है। दोनों ओर आदमियों के ठट्ट लग जाते हैं। सभी अपनी अपनी आँखें आसमान की ओर लगाये रहते हैं। जीत होने पर बड़ा आनन्द मनाया जाता है।

पतंगबाजी की सभाओं को जापानी लोग खूब चन्दा देते हैं। हजारों रुपया उनके कोश में जमा रहता है। छोटे नगरों में दो दो चार चार और बड़े नगरों में तीस तीस चालीस चालीस तक सभायें होती हैं।

[जून १९१५.

आस्ट्रिया की "स्कोडा" नामक तोप

जर्मनी की तोपों की प्रशंसा है। उनका गोला बीस-बीस मील दूर जाता है। जर्मनी ने अपने मोरचों से फ्रांस के डनकर्क नामक नगर पर जो गोलाबारी दो तीन दफ़े की है, वह ऐसी ही तोपों से की है। लोगों का ख़याल था कि बेलजियम के लीज, नामूर और एँटवर्प आदि बड़े ही मज़बूत क़िलों को जर्मनी ने इन्हीं तोपों से तोड़ा था। पर यह बात अब ग़लत साबित हुई है। विलायत के अख़बारों ने इस बात को सप्रमाण सिद्ध किया है कि इन क़िलों को तोड़नेवाली तोपें जर्मनी की बनी हुई न थीं। वे आस्ट्रिया की थीं। और भी कई पत्रों ने यही बात लिखी है। आस्ट्रिया में एक जगह पिलस्यन है। उसीके निकट तोप बन्दूक़ आदि का एक कारख़ाना है। उसका नाम है—"स्कोडा वर्क्स"। इसी कारख़ाने में बनी हुई तोपों से पूर्वोक्त क़िले तोड़े गये थे। १९०७ में इस तरह की तोपें बनाने का विचार आस्ट्रिया-वालों के मन में उत्पन्न हुआ। तद्-नुसार बड़े धड़ाके से काम शुरू किया गया और १९१० के जूलाई महीने में पहली "स्कोडा" तोप बन कर तैयार हुई। परीक्षा करने पर वह सब बातों में ठीक निकली। तब से आज तक और भी अनेक तोपें तैयार हो चुकी हैं। इस तोप के मुँह का व्यास १२ इंच है। यह कोई ११ मन वज़नी गोला खाती है। इसका गोला एक सेकंड में ३७२ गज़ के हिसाब से उड़ता है। इससे एक मिनट में एक गोला दागा जाता है। इसके गोले में यह विशेषता है कि क़िले की जिस दीवार या बुर्ज पर यह मारा जाता है, उसमें घुस जाने के बाद यह फटता है। फटते ही दीवार या बुर्ज के टुकड़े-टुकड़े हो जाते हैं। एँटवर्प का क़िला बहुत ही मज़बूत समझा जाता

था। पर इस तोप की कुछ ही बाढ़ों ने उसे तोड़-फोड़ डाला। सात मील दूर से ऐंटवर्प के एक गुम्मज पर चलाया गया इसका एक गोला ठीक निशाने पर जाकर लगा और उसके भीतर धँस गया। यह तोप इस तरह बनाई गई है कि इसके टुकड़े-टुकड़े अलग किये जा सकते हैं और सिर्फ़ चालीस मिनट में फिर, जहाँ इच्छा हो, जोड़ दिये जा सकते हैं। तीन मोटरकारों पर लाद कर यह एक जगह से दूसरी जगह पहुँचाई जाती है। १०० घोड़े की ताक़त का एंजिन इन मोटरकारों को खींचता है और १२ मील फ़ी घंटे के हिसाब से चलता है। इन तोपों के गोले भी आस्ट्रिया ही में बनते हैं। अमेरिका के "सायंटिफिक अमेरिकन" नामक पत्र ने लिखा है कि कुछ "स्कोडा" तोपें १२ इंच व्यास के मुँह की भी बनाई गई हैं। फ्रेंच और ब्रिटिश सेना में भी भीषण कालमर्दिनी तोपों की कमी नहीं।

[आक्तोबर १९१५.

भारतीय सैनिकों की शूर-वीरता

भारत का प्राचीन साहित्य भारतवासियों की युद्ध-पटुता, बल-पराक्रम और शौर्य्य-वीर्य की गुण-गाथाओं से भरा पड़ा है। योरप के वर्तमान महाभारत ने भी इस बात को प्रत्यक्ष सिद्ध कर दिया है।

१९११ ईसवी के देहली-दरबार से पहले भारतवासी सैनिक "विक्टोरिया क्रास" नामक शूरता-सूचक पदक पाने के अधिकारी न समझे जाते थे। उसके बाद से सरकार हमें भी उसके दान का पात्र समझने लगी। फल यह हुआ कि हिन्दुस्तानी सिपाहियों को भी धड़ाधड़ विक्टोरिया क्रास मिलने लगे। विक्टोरिया क्रास उस सिपाही को मिलता है जिसने समर-स्थल में असाधारण वीरता और आत्मत्याग का परिचय दिया हो। यह क्रास सैनिकों के लिए अत्यन्त सम्मान-सूचक है। विक्टोरिया क्रास पानेवाले कुछ भारतीय सैनिकों का परिचय नीचे दिया जाता है।

१—सिपाही खुदादाद, बारहवीं बलूची पलटन—३१ अक्तूबर १९१४ ईसवी को बेलजियम में एक जगह एक अँगरेज़ अफ़सर घायल हो गया। वह अफ़सर खुदादाद ही की टोली का था। इसके बाद एक गोला लगने से उसकी टोली की दूसरी मैशीन-गन बेकाम हो गई। सिपाही खुदादाद भी घायल हो गया। पर जब तक उसकी टोली के बाक़ी बचे हुए पाँच आदमी मर न गये, तब तक वह बराबर अपनी मैशीन-गन चलाता रहा।

२—नायक दरबानसिंह नेगी, एक-उन्तालीसवीं गढ़वाल रायफ़ल्स—२३-२४ नवम्बर १९१४ की रात को फ्रांस के मैदान में उसके दो जगह, सिर में और हाथ में, चोट आ गई। जहाँ उसकी पलटन तैनात थी, वहाँ बम के गोले और गोलियाँ बरस रही थीं। ऐसी दशा में उसने शत्रुओं को मोरचे से भगाने में बड़ी वीरता दिखाई।

३—जमादार मीरदस्त, पचपनवीं कोक्स रायफ़ल्स—२६ अप्रेल १९१५ को एक स्थान में शत्रु पर धावा किया गया। उस समय जमादार मीरदस्त ने असाधारण वीरता और योग्यता का परिचय दिया। धावे के बाद भी, जब कोई अँगरेज़ अफ़सर वहाँ न रह गया था, जमादार ने अपनी पलटन का सञ्चालन बड़ी खूबी से किया। इसके पश्चात् गोलियों की वर्षा की परवा न करके ८ अँगरेज़ और हिन्दुस्तानी अफ़सरों को उसने सुरक्षित स्थान में पहुँचाया। उस समय भी उसने बड़ी वीरता दिखाई।

४—रायफल-मैन कुलवीर थापा, दूसरी-तीसरी गुरखा रायफल्स—जर्मनों के साथ युद्ध में एक जगह वह घायल हुआ। उसी दशा में, २५ सितम्बर १९१५ को, उसने जर्मन मोरचों के पास से कितने ही गुरखा, हिन्दुस्तानी और अँगरेज़ सैनिकों को रक्षा और आराम की जगह पहुँचाया। उसकी निज की दशा इतनी ख़राब थी कि लोगों ने उसे जर्मन मोरचों के पास ठहरने से मना किया। पर उसने न माना और अपनी जान खतरे में डाल कर भी—शत्रुओं की गोलियों की परवा न करके भी—सच्ची बहादुरी का परिचय दिया।

५—लैन्स नायक लाला, इकतालीसवीं डोगरा पलटन—इसने एक और पलटन के एक अँगरेज़ अफ़सर को शत्रु के पञ्जे से बचाकर एक सुरक्षित स्थान में ला रक्खा। इस स्थान पर वह पहले भी ४ घायलों की मरहम-पट्टी कर चुका था। नये घायल अफ़सर के घावों को वह बाँध ही रहा था कि इतने में अपनी पलटन के एक और घायल अफ़सर की आवाज़ उसने सुनी। शत्रु १०० गज़ से ज़ियादह दूर न था। इस दशा में उस घायल अफ़सर के पास जाना अपनी जान गँवाना था। तथापि लैन्स नायक उसे ले आने को तैयार हो गया। बड़ी कठिनता से उसे वहाँ जाने की आज्ञा मिली। उसने अपने कपड़े उतार कर अपने घायल अफ़सर पर डाले। अँधेरा होने पर, उसने उस अफ़सर को अपने मोरचों पर पहुँचाया।

६—सिपाही चत्तासिंह, नवीं भोपाल इन्फैन्ट्री—इसका कमांडिंग अफ़सर घायल हो गया। वह खुले मैदान में निस्सहाय पड़ा था। चत्तासिंह ने उसके घावों पर पट्टी चढ़ाई और उसकी रक्षा के लिए एक गढ़ा खोद दिया। इस समय चारों ओर से गोलियों की वर्षा हो रही थी। पाँच घण्टे तक उसने उसे अपनी आड़ में रक्खा कि कहीं उसे और चोट न लग जाय। रात हो जाने पर उसने उसे आराम की जगह पहुँचा दिया।

७—नायक शाहमद खाँ, पञ्जाबी पलटन—शत्रु के मोरचे से कोई १५० गज के फ़ासिले पर मशीन-गन-विभाग में वह तैनात था। उसने शत्रुओं के लगातार तीन आक्रमणों को विफल किया। प्रशंसा की बात तो यह है कि उस समय वह अकेला था—उसके और साथी मर चुके थे। तीन घण्टे तक वह वहीं डटा रहा और गन चलाता रहा। जब शत्रु के गोलों से मेशीन-गन लुढ़क गई, तब वह बन्दूक लेकर गोलियाँ चलाने लगा। जब लौटने का हुक्म मिला तब उसने वह जगह छोड़ी। अगर उस समय वह ऐसी बहादुरी न दिखाता तो शत्रु मोरचा छीन लेते।

इसके अतिरिक्त भारतीय सेना ने, अभी हाल में, मेसोपोटेमिया में जिस अद्भुत वीरता का परिचय दिया है, उसकी प्रशंसा सभी कर रहे हैं। बग़दाद के पतन का अधिकांश श्रेय हिन्दुस्तानी फ़ौज ही को दिया जा रहा है।

बात यह है कि भारतीय अब भी वैसे ही शूर, वीर, साहसी, पराक्रमी और आत्मत्यागी बने हुए हैं। आवश्यकता है केवल अनुकूल अवसर दिये जाने की। जब जब उन्हें अवसर मिला है, उन्होंने अपने गुणों का पूरा पूरा परिचय दिया है।

[मई १९१७.

हिमालय के सब से ऊँचे शिखर की खोज

जो लोग धुन के पक्के हैं, जो श्रम से नहीं डरते, जो बड़े से भी बड़े भय से भीत नहीं होते, जो नई नई बातें जानने के लिए सदा उत्सुक रहते हैं, जो साहसी हैं, जो दृढ़-प्रतिज्ञ हैं, और जो "असम्भव" शब्द का अस्तित्व ही नहीं स्वीकार करते, वही सब कामों में सफल-मनोरथ होते हैं, वही औरों पर आधिपत्य करते हैं और वही लक्ष्मी के विलास-विभ्रम के क्रीड़ा-निकेतन हो सकते हैं। अमरीका को ढूँढ़ निकालनेवाले, उत्तरी ध्रुव तक पहुँचने की चेष्टा करनेवाले और अफ़रीका के घोर जंगलों में रह कर बन्दरों की भाषा सीखनेवाले ऐसे ही लोग थे। जो अत्यल्प ही से सन्तुष्ट है, जो घर से बाहर नहीं निकलना चाहता, जो ज्ञान-वृद्धि की महिमा नहीं जानता, उस अकर्मण्य को इस कर्मशील युग में रहने का अधिकार नहीं।

अनन्त काल से हम लोगों की यह धारणा है कि हमारा हिमालय पृथ्वी के अन्यान्य सभी पर्वतों से अधिक ऊँचा है। उसकी चोटियाँ सदा ही हिमाच्छादित रहती हैं। पुरानी पुस्तकों में उसकी गुण-गरिमा गाई गई है। वह गुणगान हम हजारों वर्षों से सुनते चले आ रहे हैं। परन्तु आज तक भारतवासियों में एक भी ऐसा साहसी और ज्ञान-पिपासु पुरुष नहीं उत्पन्न हुआ जिसने हिमालय के सर्वोच्च शिखरों का ज्ञान प्राप्त किया हो। यदि किसी ने दूर तक जाने का प्रयास भी किया है तो गंगोत्तरी, यमुनोत्तरी, मान सरोवर और कैलाश शिखर तक ही वह जा सका है। उसने वहाँ का जो हाल लिखा है, वह भी एक तरह का किस्सा सा मालूम होता है। विज्ञान से अनभिज्ञ होने के कारण उसके वर्णन में

वैज्ञानिक बातों का पता नहीं। विज्ञान-दृष्टि से किसी वस्तु की खोज करना और बात है; और ऊपर ही ऊपर किसी चीज़ को देख कर उसका स्थूल वर्णन कर देना और बात है। बहुत समय हुआ, एक पञ्जाबी सज्जन हिमालय-प्रान्त में कुछ अधिक दूर तक पहुँच भी गये थे, पर उनका वहाँ तक का वर्णन भी अपूर्ण है और प्रायः अप्राप्य हो रहा है। भारतवासियों ने उनकी क़द्र भी नहीं की। और करें कैसे, वे इस प्रकार की खोजों का महत्त्व ही नहीं जानते। इस पञ्जाबी वीर का तो हम लोग नाम तक नहीं जानते, पर सर्वे डिपार्टमेंट (महकमा पैमायश) के मुलाज़िम, एवरिस्ट साहब, का नाम देहाती मदरसों के लड़कों तक के मुँह में विराजमान है। ये साहब हिमालय-प्रान्त की पैमायश करते करते उसके सर्वोच्च शिखर के पास पहुँच गये। देखा तो वह आसमान से बातें कर रहा था। उन्होंने यन्त्रों की सहायता से उसकी ऊँचाई की नाप-जोख की तो मालूम हुआ कि वह शिखर संसार के सभी पर्वतों के उच्चतम शिखरों से भी ऊँचा है। यह बात जब उन्होंने प्रकाशित की, तब उनके देश-वासियों तथा पश्चिमी देशों के अन्य विद्वानों ने उनकी इस खोज को इतने महत्त्व की समझा कि उस चोटी का नामकरण उन्हीं के नाम से कर दिया। तब से हिमालय के सर्वोच्च शिखर का नाम हुआ—एवरिस्ट। बस हमने अपने गौरीशङ्कर शिखर को भुला दिया और एवरिस्ट का पाठ पढ़ने लगे!

और और विद्याओं और विज्ञानों की चर्चा के लिए इँगलिस्तान में जैसे सभायें और समितियाँ हैं, वैसे ही भूगोल-विज्ञान की वृद्धि के लिए भी हैं। उसके कितने ही सभासद बहुत समय से यह चाहते हैं कि हिमालय के उच्च शिखरों का पूरा पूरा ज्ञान प्राप्त किया जाय। आज तक योरप के कितने ही पर्य्यटक हिमालय के कितने ही अंशों की सैर कर चुके हैं और अपने पर्य्यटनों का वृत्तान्त भी प्रकाशित कर चुके हैं। पर उनके वर्णन पूरे सन्तोष-जनक नहीं। उन्होंने हिमालय का सर्वाङ्गीण ज्ञान प्राप्त भी नहीं किया। इस कमी की पूर्ति के लिए गत वर्ष इँगलिस्तान से

एक टोली हिन्दुस्तान आई। उसके खर्च का प्रबन्ध वहाँ की भूगोल-सभा तथा अन्य लोगों ने किया। उसने एवरिस्ट शिखर की चोटी तक चढ़ने की चेष्टा की ; पर पूरी कामयाबी न हुई। जाड़े आ गये और उस टोली को बीच से ही लौट आना पड़ा। अब इस साल इसी टोली के कुछ लोग, तथा कुछ और लोग भी, हिमालय पर दुबारा चढ़ने जा रहे हैं। गत वर्ष इन लोगों ने हिमालय-विषयक जो ज्ञान प्राप्त किया था, उसके अनुभव से इनको पूरा पूरा विश्वास है कि वे इस बार पर्वत के ऊपर तक पहुँच जायँगे। वहाँ कौन कौन से जानवर और जीव-जन्तु रहते हैं और कितनी ऊँचाई तक पाये जाते हैं, कौन कौन सी वनस्पतियाँ और पेड़-पौधे वहाँ उगते हैं, खनिज-पदार्थ कौन कौन और कहाँ कहाँ हैं, रास्ते कैसे हैं, आबोहवा कैसी है, ऊँचाई कहाँ पर कितनी है--इन्हीं बातों का ज्ञान ये लोग प्राप्त करेंगे और उसका विवरण प्रकाशित करेंगे। और हम अकर्म्मण्य भारतवासी उसी का पाठ करके हिमालय का हाल जानेंगे। बहुत सम्भव है, हम उसे पढ़ें भी नहीं; और पढ़ेगा भी तो शायद एक लाख में कोई एक आध विरला आदमी!

सो, जिस हिमालय की महिमा का बखान हमारे पोथी-पुराणों तक में है, जिस पर, सुनते हैं, देवताओं का निवास है या देवताओं का निवास था, और जो हमारे ही देश की सीमा पर लाखों वर्ष से "पृथ्वी के मान-दण्ड के सदृश" स्थित है, उसकी जाँच पड़ताल कर रहे हैं ६००० मील दूर स्थित एक टापू के रहनेवाले! क्या यह बिलकुल ही असम्भव बात है कि भारतवासी स्वयं अपने देश के अज्ञात या अल्पज्ञात स्थानों की खोज करें? यदि हम लोग भी वैज्ञानिकों का एक समुदाय सङ्घटित करके एक भौगोलिक समिति की संस्थापना करें और इस तरह की खोज के काम आरम्भ कर दें तो हिमालय के शिखरों, कन्दराओं और सरोवरों का ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं। यदि ऐसी खोज से मणि-मुक्ताओं का ढेर हाथ न लगे तो न सही, ज्ञान-प्राप्ति ही क्या किसी चिन्तामणि से कम

समझी जा सकती है? और यदि किसी कन्दरा में थियासफिस्टों के किसी महात्मा के दर्शन हो जायँ तो फिर कहना ही क्या है! बात यह है कि इस कर्म्मप्रधान और विज्ञानसाधक युग में साहस, श्रम, खोज, दृढ़ता और ज्ञानलिप्सा की ज़रूरत है। बिना इन गुणों के उपार्जन के भारतवासी और देशवालों की समकक्षता करने का सच्चा दावा नहीं कर सकते। हमारे घर में क्या है, यह बताने के लिए हज़ारों कोस से विदेशियों का आना ही हमारे लिए क्या कम लज्जा की बात है?

[मई १९२२.

फ्रांस में सन्तति-वृद्धि के लिए पुरस्कार

भूखे भारत में यों भी सब उम्र के मनुष्यों की मृत्यु अधिक होती रही है, पर कुछ समय से तो महँगी, प्लेग, हैजा, बुखार आदि से मृत्यु-संख्या में वैसी ही अधिक वृद्धि हो रही है जैसी कि किसी किसी बनिया-महाजन के द्वारा दिये गये रुपये के सूद की वृद्धि होती है। छोटे बच्चों की मृत्यु की बात तो कुछ पूछिए ही नहीं। एक वर्ष की उम्र होने तक तो उनकी खैर ही नहीं। बड़ी मुश्किल से उनमें से कुछ बच जाते हैं। परन्तु मृत्यु के इस आधिक्य ने आज तक किसी को विशेष विचलित नहीं किया। सरकारी रिपोर्टों और जनन-मृत्यु के नकशों ही में इस बात का उल्लेख रह जाता है। हाँ, कुछ दिनों से दाइयों की संख्या बढ़ाने और स्त्रियों के अस्पताल खोलने का आयोजन होने की बातें ज़रूर सुन पड़ती हैं। सम्भव है, बच्चों की मृत्यु-संख्या कम करने का यही इलाज हो और यह आयोजन कार्य्य में परिणत होने पर कुछ कारगर भी हो जाय।

परन्तु बच्चों की कमी ने फ्रांस को बे-तरह बे-करार कर दिया है। वहाँ उनकी मृत्यु अधिक होने की शिकायत नहीं। शिकायत इस बात की है कि उनकी पैदावार ही (नहीं, पैदायश ही) घट गई है। बच्चे ही न पैदा होंगे तो जवान कहाँ से आवेंगे। इस दशा में न काफी स्त्रियाँ ही अस्तित्व में आवेंगी, न पुरुष ही। स्त्रियों के बिना प्रजनन का काम आगे कैसे चल सकेगा और पुरुषों या नौजवानों के बिना सेना में भरती हो कर स्वदेश-रक्षा कौन करेगा तथा जर्मनी पर चढ़ाई करके उससे जबरन् हरजाना कैसे लिया जा सकेगा? वहाँ बच्चों के कम पैदा होने का कारण शायद माँ-बापों की विलासिता है। वे बहुधा कृत्रिम उपायों से उनकी पैदायश रोकते हैं। बच्चे होने से आराम में भी खलल पड़ता है; और

अनेक झंझटों के सिवा खर्च भी बढ़ जाता है। इसका एक अद्भुत इलाज फ्रांस की सरकार ने खोज निकाला है। बच्चे जनने और उनको पाल-पोस कर बड़ा करनेवाली माताओं को उसने इनाम देने का नियम बनाया है। विलायत के कन्टेम्परेरी रिव्यू नामक पत्र में प्रकाशित हुआ है कि बच्चा जनने के एक महीना पहले माँ को कानूनन् काम करना बन्द कर देना पड़ता है। कोई कारखानेदार यदि ऐसी गर्भवती स्त्री को काम पर लगाये रहे तो उस पर जुर्माना होता है। जिस दिन बच्चा पैदा होता है, उस दिन से १६ वर्ष तक उसकी माँ को, उसके पालन-पोषण के लिए, ३३० फ्रांक वार्षिक खर्च बराबर मिला करता है। अब यदि एक पौंड १५) के बराबर और उसी हिसाब से एक फ्रांक को २।) के बराबर मानें तो यह रकम ७४२॥) होती है। अर्थात् कोई ६२) महीना। इसके सिवा माँ को बच्चे के लिए दवा भी मुफ्त मिलती है और दाई भी। समय समय पर एक अफ़सर बच्चे को देखने भी आता है। यह रुपया एक-दम ही नहीं मिल जाता; कई किस्तों में मिलता है। माँ को नियत समय पर बच्चे को अस्पताल ले जाना पड़ता है। वहाँ उस की परीक्षा होती है। वह तौला भी जाता है। तब डाक्टर एक सार्टिफ़िकट देता है। उसमें वह परीक्षा का फल लिखता है। उसी को दिखाने से किस्त के रुपये और मासिक वृत्ति मिलती है। तीन से अधिक बच्चे होने पर माँ-बाप को कुछ और अधिक भी रुपया मिलता है, क्योंकि उनका खर्च बढ़ जाता है। इस प्रकार के प्रलोभनों से फ्रांस की गवर्नमेंट अपने देश की जन-संख्या बढ़ा रही है। उसका यह काम अनेक दृष्टियों से प्रशंसनीय है। परन्तु जिस काम को फ्रांस ने महत्त्व का समझा है, उसी की ओर भारत की सरकार और भारत की जनता का इतना कम ध्यान है। दोनों में अन्तर भी तो आकाश पाताल का है!

[मार्च १९२३.

इँगलैंड के शाही खानदान का खर्च

प्राचीन समय के कुछ ही नरेश और बादशाह प्रजा से कर के रूप में वसूल किये गये रुपये को प्रजा ही की चीज़ समझते और उसे उसीके लाभ के लिए खर्च करते थे। वे अपना जीवन सादगी से व्यतीत करते थे और प्रजा से प्राप्त रुपये का बहुत ही थोड़ा अंश अपने और अपने कुटुम्ब के लिए काम में लाते थे। बाक़ी को वे प्रजा ही की धरोहर मानते और उसका सद्व्यय करते थे। परन्तु इस तरह के पृथ्वीपाल बहुत ही थोड़े हो गये हैं। तथापि प्रजापालक पदवी यथार्थ में उन्हीं के विषय में घटित होती थी। उलटा इसके अधिकांश नरेश, बादशाह और नवाब प्रजा से प्राप्त रुपये को अपनी पैत्रिक सम्पत्ति जानते और अपने ऐशो-आराम के लिए उसे पानी की तरह बहाते थे। प्राचीन हिन्दू-नरेश इस रुपये को किस तरह खर्च करते थे, इसका विश्वसनीय वर्णन कहीं नहीं मिलता। परन्तु देहली के मुसलमान-बादशाहों के खर्च का वर्णन इतिहासों में ज़रूर पाया जाता है। उससे सूचित होता है कि उनमें से अधिकांश बादशाह करोड़ों रुपया तेल-फुलेल, नाच-राग-रङ्ग, खाने-पीने और वस्त्राच्छादन तथा आभूषणों के लिये बरबाद कर देते थे। हीरों के हारों, मोतियों की मालाओं, सुवर्ण और रत्न-खचित सिंहासनों और बहु-मूल्य मुकुटों के निर्माण में वे अरबों रुपया फूँक तापते थे। कुछ कुछ यही हाल योरप के भी कुछ बादशाहों का था। रूस के ज़ार के अनमोल रत्नों और आभरणों का वर्णन पढ़कर किस विचारशील को यह सोचकर सन्ताप न हुआ होगा कि प्रजा से पाया गया रुपया क्या इसी काम के लिए था?

क्या प्रजा के लाभार्थ खर्च न करके उसे इस तरह बरबाद कर देने का अधिकार ज़ार को था ?

इँगलैंड में पहले के नरेश कर-प्राप्त रुपये का चाहे दुरुपयोग करते रहे हों, पर अब वहाँ यह बात नहीं। अब तो वहाँ प्रजा की आज्ञा के बिना राजा को अपने खर्च के लिए एक झंझी भी नहीं मिल सकती। जब तक पारलियामेंट मंजूरी न दे दे, तब तक राजा और राजवंश के लोगों को अपना खर्च बढ़ाने का अधिकार नहीं। जिसके लिए जितनी रक़म मंजूर हो गई है, उससे अधिक वह नहीं पा सकता। राजवंश के ड्यूक आव् यार्क को, उनके खर्च के लिए, सालाना १० हज़ार पौंड अर्थात् कोई डेढ़ लाख रुपया मिलता रहा है। अप्रेल १९२२ में उनकी शादी हुई। इससे उनका खर्च बढ़ गया। तब पारलियामेंट में यह तजवीज़ पेश की गई कि उनको १० के बदले २५ हज़ार पौंड सालाना दिया जाया करे। यह सुनते ही मज़दूरों और उनके पक्षपातियों ने हाहाकार मचा दिया। उन्होंने कहा, यह नहीं हो सकता। हम लोग तो, लाखों की तादाद में, भूखों मरें अथवा दिन में एक बार भी मुश्किल से पेट भर सकें, और शाही घराने के एक ही व्यक्ति को १५ हज़ार पौंड और दे दिये जायँ ! इस विवाद और कड़ा-कड़ी से यह स्पष्ट है कि इँगलैंड का जन-समुदाय उस रुपये को अपनी ही चीज़ समझता है जिसे वह कर के रूप में अधिकारियों को देता है। और की बात तो दूर, स्वयं राजा या राज-वंश-सम्भूत कुमारों तक को वह तब तक एक कौड़ी भी उनके खर्च के लिए नहीं देता जब तक उसका दिया जाना वह सर्वतोभाव से आवश्यक नहीं समझता। उधर इँगलैंड के निवासियों के बनाये हुए क़ानून का यह हाल है; इधर अपने देश, भारतवर्ष, के कानून का यह है कि प्रजा के प्रतिनिधियों के एक नहीं तीन तीन दफ़े नमक पर कर बढ़ाना नामंजूर करने पर भी, उसी इँगलैंड के राजा के प्रतिनिधि, वाइसराय, उसे अपने अधिकार के बल पर दूना कर देते हैं।

इस सम्बन्ध में यह जान लेना मनोरञ्जक होगा कि इँगलैंण्ड के वर्तमान राजा और राजपुरुषों को, उनके ख़र्च के लिए सालाना कितना रुपया मिलता है।

प्रजा से प्राप्त रुपये में से सालाना ४ लाख ७० हज़ार पौंड राजा को मिलता है। वह इस तरह—

	पौंड
(१) जेब-ख़र्च	१,१०,०००
(२) नौकर-चाकरों की तनख़्वाह	१,२५,०००
(३) निजी ख़र्च	१,९३,०००
(४) इमारत-ख़र्च	२०,०००
(५) दान-पुण्य	१३,२००
(६) फुटकर	८,०००
	कुल ४,७०,०००

राजवंश के और लोगों को क्या मिलता है, सो भी सुन लीजिए।

	पौंड
(१) महारानी अलेग्ज़ाड्रा	७०,०००
(२) ड्यूक आव् कनाट	२५,०००
(३) प्रिंस आव् वेल्स को कुछ नहीं; क्योंकि उन्हें उनकी जायदाद से काफ़ी आमदनी होती है। १९२१ में उससे १,९४,०२० पौंड की आमदनी हुई थी, जिसमें से उन्हें दिये गये थे	३३,७३६
(४) ड्यूक आव् यार्क की तरह राजा के प्रत्येक राजकुमार को	१०,०००
(५) कुमारी मेरी	६,०००
(६) महारानी मेरी यदि अपने पति के बाद जीती रहें तो उन्हें मिलेंगे	७०,०००

इनके सिवा राजवंश के और भी कितने ही लोगों को बड़ी बड़ी रक़में

मिलती हैं, जिनका टोटल ३१,००० पौंड के लगभग पहुँचता है। पर यह सभी रुपया प्रजा ही की मंजूरी से मिलता है। बात यह है कि वह उसी का है। बिना उसकी इजाज़त के दूसरा उसे कानूनन् नहीं पा सकता।

गवर्नमेंट ने इस देश में १ पौंड का दाम १०) कल्पना कर लिया है। पर असल में उसका दाम १५) ही रुपये के इधर-उधर है। इस हिसाब से पौंडों में दी गई रक़मों को रुपये में परिवर्त्तित करके देखिए, कितना रुपया इँगलैंड की प्रजा, खुद भूखी रह कर, अपने राजा और राजवंश को दे डालने की उदारता दिखाती है।

[जूलाई १९२३.

मुँह में राम बग़ल में छुरा

प्रायः सारा का सारा योरप ईसाई है। अमेरिका भी ईसाई है। वहाँ के निवासी ईसा मसीह (जीज़स क्राइस्ट) के चलाये हुए धर्म को मानते हैं। अच्छा तो ये ईसा मसीह थे कौन ? भूमध्यसागर के पूर्वी तट पर एक छोटा सा देश है। उसका नाम है पालेस्टाइन या फिलिस्तीन। उसके गैलीली प्रान्त के नज़ारेथ नामक क़सबे में एक यहूदी लड़की रहती थी। नाम उसका था मेरी। उसकी माता का नाम था ऐनी और पिता का नाम जोकिम। पेशा उनका बढ़ई का था। ईसाई-धर्म्म के माननेवालों का कथन है कि उसी मेरी नामक लड़की की कोख से ईसा मसीह पैदा हुए थे। परन्तु लड़की की शादी होने के पहले ही वे गर्भ में आ गये थे। अर्थात् वे क्वारी कन्या के पुत्र थे। इन्हीं ईसा को ईसाई अपना पैग़म्बर मानते हैं। वे कहते हैं कि ईसा ईश्वर के साक्षात् पुत्र थे। उन्हें वे अँधेरे घर ही का नहीं, अँधेरे संसार का उजेला कहते हैं। वे कहते हैं कि ईसा मसीह Light of the World थे। दुनिया अन्धकार में डूबी हुई थी। उन्होंने उसे अन्धकूप से निकाल कर अपने धर्म्म रूपी प्रकाश को दिखाया। इसमें सन्देह नहीं कि ईसा मसीह पुण्यपुरुष थे। उनकी शिक्षायें, उनके उपदेश, उनके धार्म्मिक सिद्धान्त सर्वथा प्रशंसनीय हैं। इन ईसा को हुए कुछ कम दो हज़ार वर्ष हो चुके। इन्हीं के उपलक्ष में हर साल दिसम्बर के महीने में, बड़ा दिन मनाया जाता है। तत्सम्बन्धी उत्सवों में उत्साह और आनन्द भी मनाया जाता है; खेल-तमाशे भी किये जाते हैं और यत्र तत्र ईसा मसीह का यशोगान भी होता है। परन्तु जो लोग इन उत्सवों में शरीक होते हैं और जो लोग ईसा मसीह

को मनुष्य-मात्र का पथ-प्रदर्शक समझते हैं, वे ईसा की और सब बातें तो याद करते हैं, पर एक बात को वे समूल ही भूल जाते हैं। वह है उनके जन्मस्थान की स्थिति। फिलिस्तीन है कहाँ, आप जानते हैं? वह योरप में नहीं। वह उसी एशिया-खण्ड में है जिसमें यह अभागा भारतवर्ष है। सो यदि ईसा ने संसार को सचमुच ही ज्ञान-दीपक दिखाया तो उसका श्रेय न तो मदमत्त योरप को है और न धनमत्त अमेरिका को। श्रेय—और समस्त श्रेय—एशिया ही को है—उसी एशिया को जिसने ईसा ही को नहीं, मूसा को भी पैदा किया और राम-कृष्ण ही को नहीं, गौतम बुद्ध को भी जन्म दिया। जिस देश या महादेश की बदौलत प्रायः समस्त संसार को धर्म्मलाभ हुआ, जिसकी बदौलत ही अनमोल धार्मिक और ऐतिहासिक ग्रन्थों की प्राप्ति हुई, और जिसकी बदौलत ही योरप को पहले पहल नाना प्रकार के ज्ञान-विज्ञान और कला-कौशल का आभास मिला, उसी देश—उसी महादेश—को अब योरप असभ्य, अशिक्षित और अनुदार धर्म्म का अनुयायी बता रहा है! समय की गति तो देखिए।

अभी बहुत समय नहीं हुआ। ईसाई-धर्म्म के प्रवर्तक और आचार्य्य भारतवासियों के देवी-देवताओं पर खुल्लम खुल्ला लाञ्छन लगाते फिरते थे। पुस्तकें तक लिख लिख कर वे उनकी निन्दा करते थे। कहीं राम-परीक्षा, कहीं कृष्ण-परीक्षा, कहीं द्रौपदी-कथा बिकती थी। पर अब कुछ समय से यह लीला बन्द सी हो गई है। अब तो उलटा कभी कभी ईसाइयों ही के पैग़म्बर और उन्हीं के धर्म्म-ग्रन्थ बाइबल की कड़ी समालोचनायें होने लगी हैं। कलकत्ते के माडर्न-रिव्यू नामक मासिक पत्र में इस प्रकार की कितनी ही आलोचनायें निकल चुकी हैं और कितने ही आक्षेप प्रकाशित हो चुके हैं—ऐसे आक्षेप जिनका खण्डन, ईसाइयों के बहुत प्रयत्न करने पर भी, नहीं हो सका। ये सब आलोचनायें भारत-वासियों ही की लेखनी से निकली हैं। परन्तु इस तरह की आलोचनायें

और प्रत्यालोचनायें हानि के सिवा लाभ-जनक नहीं। इनसे द्वेष और वैमनस्य की वृद्धि होती है, स्नेह और सहानुभूति की उत्पत्ति नहीं। प्रायः सभी धर्म्मों के मूल तत्त्व या सिद्धान्त अच्छे हैं। अतएव अपने ही धर्म्म में रह कर मनुष्य बहुत कुछ श्रेयः-साधन कर सकता है। धर्म्म अच्छा होने पर भी यदि उसके सिद्धान्तों का अनुसरण न किया गया तो उसके अच्छेपन की दुहाई देने से कुछ भी लाभ नहीं। धर्म्म यदि कहता है कि सदा सच बोलो और उस धर्म्म का अनुयायी यदि सदा ही असत्य में लिप्त रहता है तो उससे बढ़ कर पापात्मा और कोई नहीं। कोई धर्म्म ऐसा नहीं जो चोरी को बुरा न बताता हो। अतएव जो लोग दूसरों के समूचे देश तक हड़प कर जाते हैं, वे कदापि धार्म्मिक नहीं। उनके द्वारा की गई उनके धर्म्म की प्रशंसा उनके उस पाप-कर्म्म का क्षालन नहीं कर सकती।

ईसा मसीह सचमुच ही महात्मा थे। क्षमा, दया, दीनता, औदार्य्य, आत्मसंयम आदि के उपदेशों और आज्ञाओं से उनकी गाथायें भरी पड़ी हैं। परन्तु दृप्त, मदान्ध और अभिमानी योरप अधिकांश में अपने धर्म्म और धर्म्म-प्रवर्तक की प्रशंसा करके भी, उन आज्ञाओं का यथेष्ट पालन नहीं करता।

योरप को अपनी सभ्यता, सज्ञानता और धार्म्मिकता का बहुत बड़ा अभिमान है। अपने सामने वह किसी अन्य महादेश को (अमेरिका को छोड़कर) कोई चीज ही नहीं समझता। एशिया-महाखण्ड के कितने ही देशों को तो—उन देशों को जो उसके दीक्षा-गुरु या आचार्य्य-पदवी पर अधिष्ठित रह चुके हैं—वह असभ्य और बर्बर बताता है; परन्तु अपनी सभ्यता, बर्बरता और अत्याचार-परायणता की ओर कभी आँख उठा कर भी नहीं देखता। जर्मनी की अभिवृद्धि योरप के अन्य देशों से नहीं देखी गई। अतएव झूठी तुहमतें लगा कर कई देशों ने उसे किसी काम का न रक्खा। उसके साथ वह सलूक इसलिए किया गया जिससे योरप में कभी शान्ति-

भंग न हो। उसका विनाश इसलिए साधन किया गया—उसकी सेना नष्ट करके कम कर दी गई—जिससे किसी अन्य देश को उससे भय न रहे। युद्ध के पहले जर्मनी में ५३ लाख सेना थी। उसे जर्जर कर डालने पर फ्रांस ने अब ८ लाख सेना तैयार कर रक्खी है। १९१४ ईसवी में आस्ट्रिया-हंगरी की सेना की संख्या केवल ३ लाख थी। पर अब उसे काट-छाँट कर जिन नये राज्यों की स्थापना हुई है, उनकी और बढ़े हुए रूमानिया देश की सेना १० लाख तक पहुँच गई है। अमेरिका के जो संयुक्त प्रान्त अपने को प्रतिनिधि-सत्ताक राज्य के आदर्श समझते हैं, उनकी सेना १ लाख से अधिक कभी नहीं रही। पर वे भी अब उसे बढ़ा रहे हैं और बहुत कुछ बढ़ा भी चुके हैं! यह है इनकी सभ्यता, धार्मिकता और उदारता का निदर्शन! इसी ढंग से ये संसार में शान्ति-स्थापना करना चाहते हैं। तैयारी तो परस्वापहरण की किये जा रहे हैं, और ढोंग दिखाते हैं न्यायनिष्ठा और राम-राज्य की स्थापना का! जिधर देखिये उधर ही, योरप में, सत्य का अपलाप, कपटाचरण, अन्याय, अत्याचार हो रहा है। पेट में कुछ, मुँह में कुछ। इसीको कहते हैं, मुँह में राम बगल में छुरी, नहीं छुरा!

ईसा मसीह की आज्ञा है कि यदि तुम्हारे मुँह पर कोई चपत जमावे तो तुम सिर झुका दो और कहो—भाई, एक और। उसी ईसा के धर्म्मानुयायी अकारण ही निरीह, निरस्त्र, निर्बल मनुष्यों के साथ ऐसा बर्ताव कर रहे हैं जैसा कि पशुओं के साथ भी नहीं किया जाता। अमेरिका में यदि कोई काला हबशी किसी गोरे या गोरी का अपमान कर बैठे तो वह जीता ही जला दिया जाय या बलि-पशु की तरह निर्दयतापूर्वक मार डाला जाय। अफ़रीक़ा के वन्य मनुष्य पहले तो भेड़-बकरी के सदृश बेचे जाते थे। अब भी उनकी दशा दयनीय ही है। वे अपने ही देश, अपने ही घर में नहीं रहने पाते। उनकी भूमि छीनी जाती है; उनकी स्वतन्त्रता हरण की जाती है; उन पर तरह तरह के अत्याचार

किये जाते हैं; उनसे जबरन् मज़दूरी कराई जाती है और करावकर भी काफ़ी उजरत नहीं दी जाती। सभ्य-शिरोमणियों की सभ्यता की इस लीला का निदर्शन उन्हीं के अनेक देश-भाई, समय समय पर करते और उन्हें धिक्कारते आये हैं; पर वह बन्द नहीं होती।

योरप के पिछले महायुद्ध के विषय में अँगरेजों की विलायत के वासी लार्ड लोरबर्न ने एक पुस्तक लिखी है। उसका नाम है- How the War came. उसमें उन्होंने लिखा है कि योरप के सभ्यताभिमानी और सर्वश्रेष्ठ ईसाई-धर्म्म के अनुयायी नीति-निपुणों ने इस युद्ध के कारण योरप के अनेक हरे-भरे भू-भागों को नरक बना दिया; उन्हें श्मशान में परिणत कर दिया; उनमें कत्लेआम, लूट, भूख, शोक और विद्वेष का ताण्डव-नृत्य दिखा दिया। अपने ही महादेश—अपने ही योरप—के साथ उनके इस सलूक का विचार कीजिए और फिर अपनी वरिष्ठता, ज्ञान-गरिमा और सभ्यता के सम्बन्ध की उनकी घोषणाओं के मूल्य का निश्चय कीजिए।

अमेरिका, आस्ट्रेलिया, न्यूज़ीलैंड और दक्षिणी अफ्रिका में पदार्पण करके योरप के धर्म्म-ध्वजियों ने जो क़हर मचाया है, उसका रोमाञ्चकारी हाल जानना हो तो विलायत ही के एक अन्यतम सज्जन, पादड़ी एंड्रूज, की लिखी हुई पुस्तक—क्राइस्ट एंड लेबर—(Christ and Labor) पढ़ने की कृपा कीजिए। लोभ के वशीभूत होकर योरपवालों ने वहाँ जो अत्याचार किये हैं, उनके स्मरण मात्र से रोंगटे खड़े हो जाते हैं। ये अत्याचार वहाँ उन्होंने उन देशों के आदिम निवासियों के ऊपर करके उनमें से बहुतों का वंश नाश कर दिया। इस तरह के नृशंस कृत्यों और घटनाओं की उद्घाटक एक नहीं अनेक पुस्तकें, आज तक, प्रकाशित हो चुकी हैं।

यही लोग एशिया और अफ्रिका के निर्बल देशों के निवासियों से शपथपूर्वक कहते हैं—भैया, तुम अभी नादान और नासमझ बच्चे हो।

हम तुम्हें सभ्य, सच्चरित्र और सुशिक्षित बनाने आये हैं। अभी तुम शासन करने योग्य नहीं। हमसे सभ्यता सीखो और सुशिक्षा प्राप्त करो। तुम्हें राज-कार्य्य-पटु करके हम स्वयं ही अपने घर चले जायँगे। निःसन्देह ! मेष मण्डली की रक्षा और उन्नति करने का अधिकारी परम कारुणिक श्रीमान् वृकराज–बहादुर से बढ़ कर और कोई नहीं।

[फरवरी १९२४.

नोबल प्राइज़

कवित्व-शक्ति, योग्यता, ग्रन्थ-रचना-चातुर्य्य, वीरता और धार्म्मिकता आदि गुण देश, काल, जाति और धर्म्म के बन्धन के परे हैं। ईश्वर ने मनुष्यों को कुछ शक्तियाँ दे रक्खी हैं। कारण विशेष से किसी में वे अधिक पाई जाती हैं, किसी में कम। तथापि यह कभी नहीं होता कि कोई जाति की जाति या देश का देश इन शक्तियों से रहित हो। योरप के कुछ मदान्ध मनुष्य समझते हैं कि परमेश्वर ने एशिया के निवासियों पर आधिपत्य करने ही के लिए उनकी सृष्टि की है। उनकी यह धारणा मतवाले के प्रलाप के सिवा कुछ नहीं। जिस एशिया ने बुद्ध, राम, कृष्ण, ईसा और कन्फ्यूसियस इत्यादि महात्माओं को, चन्द्रगुप्त, अशोक, विक्रमादित्य और हर्षवर्धन आदि नरेशों को, भीम, अर्जुन, द्रोण, कर्ण आदि वीरों को, और व्यास, वाल्मीकि, कालिदास आदि कवियों को जन्म दिया, उसी एशिया को ईश्वर ने दूसरों की गुलामी करने का ठेका नहीं दे रक्खा। समय की अनुकूलता और प्रतिकूलता ही सब कुछ कराती है। जो लोग आज-कल सेवक हैं, वही किसी समय स्वामी थे; और जो स्वामी हैं, वही किसी समय एशियावालों के सेवक थे।

कविता-कौशल, ग्रन्थ-लेखन-चातुर्य्य और विज्ञान-विशारदत्व तो जाति, धर्म्म और देश आदि की सीमा के बन्धन की बिलकुल ही अपेक्षा नहीं करते। इसके प्रमाण सर जगदीशचन्द्र वसु और कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर हैं। यदि वैसे किसी बन्धन की अपेक्षा होती तो भारत के सदृश परावलम्बी देश में उनका जन्म ही न होता; और यदि होता भी तो उनकी योग्यता का डङ्का अभिमानी योरप के देशों में कभी न बजता।

स्वीडन में एक जगह स्टाकहाम है। वह उस देश की राजधानी है। वहाँ १८३३ ईसवी में आल्फ्रेड नोबल नाम के एक मनुष्य ने जन्म लिया। वह १८९६ ईसवी में, ६३ वर्ष की उम्र में, मरा। उसका पिता

रूस में इञ्जिनियर था। वह जलमग्न नौकाएं और टारपीडो नामक जहाज़ विध्वंसक यान बनाने का काम करता था। उसीके साथ रहकर आल्फ्रेड ने भी वही काम आरम्भ किया। नई नई चीज़ों का आविष्कार करने में उसकी बुद्धि बड़ी तीव्र थी। उसने अनेक आविष्कार किये। बिना धुवें की बारूद बनाई और डिनामाइट (Dynamite) नामक एक प्रबल शक्तिशाली ज्वाला-ग्राही पदार्थ भी उसने बनाया। इन आविष्कारों की बदौलत उसे करोड़ों रुपये की आमदनी हुई। इन नरनाशक और सर्व-संहारक आविष्कारों से होनेवाली हानियों का जब उसे खयाल हुआ, तब उसको बड़ा पश्चात्ताप हुआ। अतएव उसने अपनी अधिकांश कमाई को योग्यतम व्यक्तियों को दान करके अपने कृत कर्म्म का प्रायश्चित्त करना चाहा। उसने अपने सञ्चित धन के सूद से प्रति वर्ष ५ पुरस्कार दिये जाने की योजना की और हर पुरस्कार घट-बढ़ ८ हज़ार पौंड, अर्थात् कोई एक लाख बीस हजार रुपये, का निश्चित किया। इस निमित्त उसने एक ट्रस्ट की संस्थापना कर दी। यह ट्रस्ट अब तक बराबर, हर साल, ५ पुरस्कार देता आ रहा है। वह इन पुरस्कारों को देने में जाति, धर्म्म और देश की परवा नहीं करता। मनुष्य चाहे जिस देश और धर्म्म का हो, यदि वह निर्दिष्ट विषय में सबसे अधिक योग्य है तो पुरस्कार उसी को मिलेगा।

पुरस्कार ५ विषयों पर दिये जाते हैं। शर्त यह है कि पुरस्कर्त्री समिति पुरस्कृत जनों को अपने विषय में सर्वश्रेष्ठ समझती हो। विषयों के नाम ये हैं—

(१) भौतिक शास्त्र।

(२) रसायन शास्त्र।

(३) शारीरशास्त्र अथवा वैद्यविद्या।

(४) आदर्शभूत ग्रन्थ-रचना।

(५) संसार में शान्ति-रक्षा के लिए सब से अधिक प्रयत्न।

इन विषयों के सम्बन्ध में आज तक अनेक देशों के विद्वानों, विज्ञानियों और नामी पुरुषों को पुरस्कार मिल चुके हैं। नम्बर (४) विषय के अन्तर्गत कुछ ही समय हुआ, कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर भी पुरस्कृत हुए थे। आश्चर्य्य है, सर जगदीशचन्द्र वसु, अब तक, इस पुरस्कार की प्राप्ति के अधिकारी नहीं समझे गये।

कुछ लोगों ने खबर उड़ाई थी कि इस बार, अर्थात् पिछले साल, शान्ति-रक्षा-विषयक पाँचवाँ पुरस्कार महात्मा गाँधी को दिया जायगा। पर यह गप ही निकली। मालूम होता है कि किसी चलते-पुर्जे अख़बार ने यह बात योंही, बे-पर की, उड़ा दी थी। एक और भी, इसी तरह की, ख़बर किसी किसी अख़बार में निकली थी। उसको उड़ानेवालों का अन्दाज़ा था कि लाहौर के नामी शायर सर मुहम्मद इक़बाल के हिस्से में एक पुरस्कार आवेगा। परन्तु ये दोनों ख़बरें ग़लत निकलीं। इस बार नम्बर (४) का पुरस्कार या पारितोषिक (६,५०० पौंड अर्थात् कुछ कम एक लाख रुपया) आयरलैंड के प्रसिद्ध नाट्यकार, कवि और लेखक ईट्स को मिला है। इस पुरस्कार के सम्बन्ध में इँगलैंड के भी कई लेखकों के—उदाहरणार्थ टामस हार्डी के—नाम लिये जाते थे। पर उन्हें भी, सर इक़बाल ही की तरह, निराश होना पड़ा। महात्मा गाँधी के विषय में आशा और निराशा का तो ज़िक्र ही नहीं हो सकता।

ईट्स महाशय अपने देश के नामी कवि हैं। वे भारतवर्ष से विशेष प्रेम रखते हैं। शायद थियासफ़िस्ट हैं, क्योंकि मैडम ब्लैवेस्की की शिष्यता कर चुके हैं। कविवर रवीन्द्रनाथ ठाकुर, पिछली बार जब इँगलैंड गये थे, तब उनके समागम का लाभ भी वे उठा चुके हैं। कुछ समय पूर्व तक, पराधीन रहनेवाले आयरलैंड के इस महाकवि का यह आदर सिद्ध कर रहा है कि भगवती वाग्देवी स्वतन्त्रता और परतन्त्रता के बन्धन की कायल नहीं।

[जून १९२४.

मृत आत्माओं से बात-चीत

कोई ४० वर्ष हुए, बम्बई में हौवर्ड नाम के एक साहब शिक्षा-विभाग के डाइरेक्टर थे। भोर-घाट में रेल लड़ जाने से आप की जान गई। आपने एक प्राइमर (अँगरेज़ी की प्रथम पुस्तक) बनाई थी। वह बहुत समय तक स्कूलों में जारी रही। उसका एक वाक्य हमें अब तक याद है। वह था—"A cow has no soul."

अर्थात् गाय के आत्मा नहीं होती। परन्तु यह बात बहुत पुरानी हो गई। अब तो हौवर्ड साहब के भाई-बन्द भी पशुओं में आत्मा का होना कबूल करते हैं, मनुष्यों की तो कुछ बात ही नहीं। सर ए० कोनन डायल, परलोकवासी मिस्टर स्टीड, एक लाट साहब, तथा और भी कितने ही योरप और अमेरिका के निवासी तो इस विषय में बहुत आगे बढ़ गये हैं। वे तो मृत मनुष्यों की आत्माओं से बातचीत तक कर चुके हैं, उनके फ़ोटो ले चुके हैं, मध्यस्थों के द्वारा लिखे गये उनके हाथ के लेख भी प्राप्त कर चुके हैं। उन्होंने मृत आत्माओं के अस्तित्व से सम्बन्ध रखनेवाले और भी ऐसे कितने ही प्रमाण पाये हैं जिनका वृत्तान्त सुन कर अत्यन्त आश्चर्य और कुतूहल होता है। जिस विद्या के बल से इस तरह की बातें जानी जा सकती हैं, उसे अँगरेज़ी भाषा में स्पिरिचुएलिज़्म (Spiritualism) कहते हैं। इस विद्या की उन्नति से बड़े लाभ हो सकते हैं। यदि हमें सप्रमाण मालूम हो जाय कि क्या करने से आत्मा की उन्नति और क्या करने से उसकी अधोगति हो सकती है तो हमारे दुःख, क्लेश और चिन्तायें बहुत कम हो जायँ। मरने का विचार मन में आते ही मनुष्य भयभीत हो जाता है। परन्तु जो लोग मर चुके हैं, वे कहते हैं

कि जिस समय आत्मा अपने भौतिक शरीर को छोड़ती है, उस समय उसे कुछ भी कष्ट नहीं होता। वह एक नये ही लोक में जा पहुँचती है और यदि उसके संस्कार अच्छे हैं तो वह वहाँ बड़े सुख से रहती है। उस के लिए उस लोक में अपनी उन्नति करने के बहुत अच्छे साधन प्रस्तुत रहते हैं। यदि यह सब सच हो तो हम लोग इस लोक में सद्व्यवहार, सदाचार और सत्कर्म्म द्वारा अपना बहुत सुधार पहले ही से कर सकते हैं। इसमें सन्देह नहीं कि हमारे शास्त्र सर्वथा वही यही कहते हैं जो मृत आत्माएँ कहती हैं। इससे जान पड़ता है कि शास्त्रकार पहुँचे हुए तत्त्वदर्शी थे।

कोई २५ वर्ष हुए जब हमें पहले-पहल इस विद्या अर्थात् स्पिरिचुएलिज्म का चमत्कार प्रत्यक्ष देखने को मिला। हम झाँसी में जनरल ट्राफ़िक मैनेजर के दफ्तर में मुलाज़िम थे। जो काम हम करते थे, उसीमें मदद देने के लिए एक और महाशय भी हमारी मातहती में थे। उनका नाम था विद्याप्रसाद। वे कायस्थ थे। उम्र कोई तीस वर्ष की रही होगी। शरीर से दुर्बल थे। आगरे के रहनेवाले थे। बात चीत में एक दिन उन्होंने कहा कि इस विद्या में उन्हें थोड़ा-बहुत दख़ल है। इस विषय की कुछ पुस्तकें हमारे पास देख कर उन्होंने यह कहा। निश्चय हुआ कि शाम को कभी कभी बैठक हुआ करे। आरम्भ में तीन पाये के एक छोटे से मेज़ के सहारे आत्म-परिचय कराया जाता रहा। मेज़ के इर्द-गिर्द तीन चार आदमी बैठ जाते थे और सङ्केतों के अनुसार प्रश्नों के उत्तर मिलते थे। उदाहरणार्थ आत्मा से हम लोग पूछते थे कि यदि आप हिन्दू की आत्मा हों तो मेज़ का पाया एक दफे गिरे और यदि मुसलमान की हों तो दो दफ़े। परन्तु इतने परिचय से सन्तोष न हुआ। तब आगे बढ़ने का निश्चय किया गया।

दो राजपूत लड़के अमल थे। वे हाई स्कूल में पढ़ते थे। बड़े सच्चरित्र थे। रोज़ बैठक में आते थे। एक दिन आगत आत्मा से प्रार्थना की गई

कि यदि कष्ट न हो तो उन दोनों में से एक के शरीर में प्रविष्ट होकर विद्याप्रसाद से प्रत्यक्ष बातचीत करे। आत्मा ने प्रार्थना स्वीकार कर ली। बस एक ही मिनट के बाद लड़के की आत्मा का लोप सा हो गया और वह ज़ोर से चिल्ला उठा। उसके मुँह से पहले तो "हा" की आवाज़ निकली; फिर "सच्चिदानन्द हरे" की। विद्याप्रसाद से उसने कहा, भगवान् की याद कीजिए। उन्होंने हाफिज़ की पङ्क्तियाँ गाकर सुनाईं। तब आत्मा ने हमारी तरफ़ इशारा करके कहा—भगवत्स्तुति। हमने कहा—

कालिन्दीकूल-कादम्बमूले संश्लिष्य राधिकाम्
बादयन् मधुरं वेणुं वनमाली मुदेऽस्तु वः।

यह पसन्द न आया। आत्मा ने कहा "भागवत"। तब हमने पढ़ा—

नौमीड्य तेऽभ्रवपुषे तडिदम्बराय—
गुञ्जावतंसपरिपिच्छलसन्मुखाय।
वन्यस्रजे कवलवेत्रविषाणवेणु—
लक्ष्मश्रिये मृदुपदे पशुपाङ्गजाय॥

यह श्लोक बहुत पसन्द आया। आत्मा ने खुद भी उसे दुहराया। वह ग्वालियर के रहनेवाले एक कायस्थ सज्जन की आत्मा थी। शरीर-वान् होने की दशा में फ़ारसी और संस्कृत दोनों भाषाओं की ज्ञाता थी। यह आत्मा अकसर आती रही। गीत-गोविन्द और श्रीमद्भागवत के श्लोक बहुधा सुनती थी। इत्र सूँघती थी। पुष्पमाला प्रेम से धारण करती थी। जो बातें पूछी जाती थीं, बताती थी। अटपटे प्रश्न पूछने पर फटकारती भी थी। उपदेश उसका था—सत्कर्म करो। मरने पर तुम्हें पुण्य-लोक की प्राप्ति होगी। मृत्यु से मत डरो।

झाँसी के मानिक चौक में एक मन्दिर है। वह शायद घीवालों का मन्दिर कहाता है। वहाँ एक दिन बैठक में कोई परिचित आत्मा आमन्त्रित की गई। पर लड़के के शरीर में प्रवेश किया किसी और ही ने, जो दुष्टात्मा थी। उसने प्रश्नों का उत्तर गलत दिया। आत्मा एक नौजवान

मुसल्मान की थी। उसकी मृत्यु बाँदा में हैज़े से हुई थी। पता लगाने से ये बातें सच साबित हुईं। इस आत्मा ने आते ही बड़े ज़ोर से रोना-चिल्लाना शुरू किया। मेज़ पर हाथ पटकने और "क्यों बुलाया, क्यों बुलाया" कहकर बकने झकने लगी। बहुत कुछ समझाने बुझाने से उसने अपनी लीला का संवरण किया।

एक विलायत के किसी लार्ड की आत्मा का प्रवेश हुआ। कहने लगी, कलकत्ते जा रहे थे। यहाँ कोई जलसा था। जी में आया कि यहाँ दो मिनट रुक कर मनोरञ्जन कर लें। उस आत्मा की अँग्रेजी बात-चीत सुन कर हम लोगों को उसकी सच्चाई में ज़रा भी सन्देह न रह गया। क्योंकि जिस लड़के के शरीर में उस आत्मा का आविर्भाव हुआ था, वह किसी छोटे दरजे में पढ़ता था और टूटी-फूटी भी अँग्रेजी मुश्किल से बोल सकता था।

इस तरह हम लोगों ने बाबू विद्याप्रसाद की बदौलत आत्मालाप से बहुत दिनों तक लाभ उठाया। फिर कार्य्यवश, हम लोगों के अलग अलग हो जाने पर, बैठकें बन्द हो गईं।

अब हम देखते हैं कि इस विद्या के प्रचार के लिए एक सोसाइटी कायम हो रही है अथवा हो गई है। इन्दौर के वी० डी० ऋषि महाशय इस सङ्गठन के अगुवा हैं। आप इस विषय के अच्छे ज्ञाता मालूम होते हैं। बड़े बड़े शहरों में दौरा करके आप इस विद्या के महत्त्व पर व्याख्यान भी देते हैं। आपके लेख भी, इस विषय में, कभी कभी प्रकाशित होते हैं। आपकी पत्नी के परलोकगामी होने पर उससे बात-चीत करने की इच्छा आपके मन में उदित हुई। आपने प्रयत्न किया और आप सफल-मनोरथ भी हुए। तभी से आपको इस विद्या से प्रेम हुआ। आप कहते हैं कि मैंने स्वामी रामतीर्थ और विवेकानन्द आदि की भी आत्माओं से आलाप किया है। यह सर्वथा सम्भव है।

इलाहाबाद में डाक्टर जोजेफ़ जे० घोष नाम के एक सज्जन

हैं। आप वहाँ किसी स्कूल के हेड मास्टर हैं। आपकी पत्नी का शरीर छूटे कुछ ही समय हुआ। आप भी इस विद्या के सहारे अपनी पत्नी की आत्मा से बातचीत करने में समर्थ हुए हैं। त्रिलोकीनाथसिंह नामक लड़के के शरीर में प्रविष्ट होकर उनकी पत्नी ने उनके प्रश्नों के जो उत्तर दिये हैं, वे लेख रूप में, इलाहाबाद के "लीडर" पत्र में कुछ समय पूर्व प्रकाशित हुए हैं। इस आत्मा की कही या लिखी हुई कुछ बातों का सारांश नीचे दिया जाता है।

"यहाँ, इस लोक में, मेरे ही सदृश और भी अनेक आत्मायें हैं। यह अन्तिम लोक नहीं, इसके आगे और भी लोक हैं। कुछ आत्मायें बहुत उन्नत हैं, कुछ उससे कम, कुछ और भी कम। मनुष्यलोक में परिचित आत्माओं के भी दर्शन मुझे यहाँ हुए। उनकी उन्नति मैंने उनके कर्म्मों के अनुसार यहाँ न्यूनाधिक देखी।

मैं यहाँ परमात्मा की सेवा और आराधना किया करती हूँ और निर्बल आत्माओं को सहायता भी पहुँचाती हूँ। जो आत्मायें अपने नवीन (युवावस्था के) शरीरों को छोड़ कर आई हैं और जो उस जन्म में दुष्कर्म्मों में लिप्त थीं, वही यहाँ निर्बल अवस्था में देखी जाती हैं। जो अपने पूर्व जन्म के कार्य्य-कलाप का यहाँ भी चिन्तन किया करती हैं, वे अपनी उन्नति अच्छी तरह नहीं कर सकतीं। दुष्टात्मायें—भूत, प्रेत आदि—यहाँ नहीं आने पातीं। वे हम लोगों के लोक से नीचे ही रह जाती हैं।

मनुष्य-लोक से यह लोक बहुत अच्छा है। इसे आप आत्मलोक कह सकते हैं। हमारी भाषा जुदी है। सब यही बोलते हैं। वह बिना सीखे ही आ जाती है।"